इंगलैंड, भारत तथा रूस

का

आर्थिक विकास

ECONOMIC DEVELOPMENT OF ENGLAND, INDIA AND U.S.S.R.

(बी. ए. एवं बी. कॉम कक्षाओं के लिये)



लेखक

प्रो. एस. सी. तेला, एम.ए.,एल एल.बी.,
अध्यक्ष, अर्थशास्त्र विभाग, गवर्नमेन्ट कॉलिज, अजमेर.

प्रो आर. पी. श्रीवास्तव, एम. ए.,
अध्यक्ष, अर्थशास्त्र विभाग, अग्रवाल कॉलेज, जयपुर.

प्रो. जी. के. गुप्ता, एम. ए., एम. कॉम.,
प्राध्यापक, अर्थशास्त्र विभाग, गवर्नमेन्ट कॉलिज, कोटा

प्रो. बी. एल. पारीख, एम. ए., बी. कॉम.,
अध्यक्ष, अर्थशास्त्र विभाग, श्रमजीवी कॉलेज, उदयपुर.



कृष्णा ब्रदर्स, अजमेर

१९६२

प्रकाशक :
जयकृष्ण अग्रवाल,
कृष्णा ब्रदर्स,
कचहरी रोड, अजमेर.

●

●

प्रथम संस्करण १९६२

●

मूल्य ८·५०

"उपयुक्त वातावरण की अनुपस्थिति मे आर्थिक प्रगति असम्भव है। आर्थिक विकास के लिये आवश्यक है कि समाज में प्रगति की इच्छा हो और उनकी सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं वैधानिक संस्थाएँ इस इच्छा को कार्यान्वित करने मे सहायक हों।"

—राष्ट्रसंघ समिती रिपोर्ट

मुद्रक :
घीसाराम करणात,
नेशनल प्रेस, अजमेर.

भूमिका

'इंगलैंड, भारत तथा रूस का आर्थिक विकास' पुस्तक विभिन्न विश्वविद्यालयों की कला एवं वाणिज्य की डिग्री कक्षाओं के लाभार्थ प्रस्तुत करते हमें अत्यन्त प्रसन्नता है। राजस्थान तथा जोधपुर विश्व-विद्यालयों की त्रिवर्षीय बी. ए. डिग्री कोर्स के प्रथम वर्ष (1st yr T. D. C. Arts) के विद्यार्थियों के लिये यह पुस्तक विशेपकर उपयोगी सिद्ध होगी, क्योंकि यह उनके निर्धारित पाठ्यक्रमानुसार लिखी गई है।

पुस्तक के लिखने में इस बात का ध्यान रखा गया है कि 'आर्थिक विकास' जैसे विषय को प्रारम्भिक छात्रों के लिये अधिक रूचिकर व सरल बनाया जाय। भाप व शैली दोनों ही सरल व रोचक हैं। आवश्यकतानुसार हिन्दी के साथ साथ अंग्रेजी में भी पारिभाषिक शब्द दिये गये हैं। प्रत्येक अध्याय के आरम्भ में प्रसिद्ध अर्थशास्त्रियों के उद्धरण एवं अन्त में अध्याय का सार तथा महत्वपूर्ण प्रश्न दिये गये हैं जिससे विद्यार्थियों को विषय दोहराने में सुविधा हो।

हम उन सब लेखकों व अध्यापकों के हृदय से आभारी हैं जिनके विचारों व पाठ्य सामग्री का इस पुस्तक में समावेश है। आशा है पाठकगण समय समय पर अपने अमूल्य सुझाव देकर हमें अनुग्रहित करते रहेंगे।

अजमेर
१५ जुलाई, १९६२.

लेखक

Universities of Rajasthan & Jodhpur

FACULTY OF ARTS

(Three-Year Degree Course)

Syllabus for the First Year Examination of 1963

ECONOMICS

There will be one paper of 3 hours duration carrying 100 marks.

Economic Development of U. K., U. S. S. R. & India.

Economic Development of U. K. (from Industrial Revolution to 1947), U. S. S. R. (from 1917 to 1947) & India (from 1800 to 1947) with reference to the following topics—(a) Agriculture, (b) Industry, (c) Trade, (d) Transport, and (e) Role of the State in Economic Development.

विषय-सूची
CONTENTS
इंगलैंड का आर्थिक विकास
ECONOMIC DEVELOPMENT OF ENGLAND

भारत का आर्थिक विकास

ECONOMIC DEVELOPMENT OF INDIA

इंगलैंड का आर्थिक विकास

ECONOMIC DEVELOPMENT OF ENGLAND



"इंगलैंड को विश्व का नेतृत्व करने में कई बातों ने योग दिया—प्राकृतिक स्थिति, खनिज सम्पत्ति, विशाल बाजार आदि—परन्तु इसका सबसे बड़ा कारण था आँग्ल जाति की चारित्रिक विशेषता।"

इंगलैंड के आर्थिक विकास की पृष्ठभूमि
(BACKGROUND OF ENGLAND'S ECONOMIC DEVELOPMENT)

"ब्रिटेन के दो भौगोलिक गुण हैं—एक संसार से पृथकता और दूसरा पृथ्वी से सम्पर्क।" —प्रो० मैकिन्डर

आर्थिक विकास और भौगोलिक स्थिति का सम्बन्ध
(Relation between economic development and geographical factors)

किसी भी देश के आर्थिक विकास पर वहां के भौगोलिक वातावरण का गहरा प्रभाव पड़ता है। देश की स्थिति, धरातल, समुद्रतट, जलवायु तथा खनिज पदार्थ उसकी कृषि, वन, व औद्योगिक उत्पादन पर प्रभाव डालते हैं। इसके अतिरिक्त उस देश का व्यापार व यातायात भी इन्हीं परिस्थितियों पर बहुत कुछ आधारित होता है।

१९ वीं शताब्दी में इंगलैंड आर्थिक विकास की दृष्टि से विश्व में सर्वोच्च था और वर्तमान समय में भी संसार में अमेरिका और रूस के बाद इसका तीसरा स्थान है। इंगलैंड की इस आश्चर्यजनक आर्थिक प्रगति के कारणों का यदि हम विवेचन करें तो हमें ज्ञात होगा कि वहां की इस भौतिक उन्नति में भौगोलिक परिस्थितियों ने बहुत बड़ा सहयोग दिया है।

भौगोलिक स्थिति (Geographical Position)

इंगलैंड की भौगोलिक स्थिति अति उत्तम है। प्रो० मैकिन्डर ने एक स्थान पर लिखा है कि 'ब्रिटेन के दो भौगोलिक गुण हैं—एक, संसार से पृथकता और दूसरा पृथ्वी से सम्पर्क। यह योरोप के देशों से इंगलिश चैनल द्वारा पृथक है परन्तु साथ ही निकट भी है। इस प्रकार यह इन देशों से सम्पर्क स्थापित कर सका है, परन्तु स्थानीय आक्रमणों से यह सुरक्षित भी रहा है। दूसरी ओर अटलान्टिक महासागर के पार अमेरिका का उन्नत राष्ट्र है। इस प्रकार ब्रिटेन की स्थिति विश्व के उन्नत राष्ट्रों में मध्यवर्ती है जिससे इसका औद्योगिक और प्रगतिशील देशों से सीधा व्यापारिक सम्पर्क रहता है। स्वेज नहर के खुल जाने से यह एशिया के भी निकट आ गया है।

उत्तम भौगोलिक स्थिति से लाभ
१. योरोप के देशों से सम्बन्ध
२. स्थानीय आक्रमणों से बचाव
३. अमेरिका से सम्पर्क
४. स्वेज नहर के कारण एशिया के निकट

ग्रेट ब्रिटेन एक द्वीप समूह है जिसकी स्थिति ५०° उत्तरी अक्षांश और ६०° उत्तरी अक्षांश के मध्य में है। इस प्रकार अपनी उत्तम भौगोलिक स्थिति के कारण ही ब्रिटेन उन्नत व औद्योगिक राष्ट्र बन सका है।

क्षेत्रफल और जनसंख्या (Area & Population)

क्षेत्रफल कम, समुद्र, निकट, अधिक शहरी आबादी, अधिक लोग उद्योगों में।

ब्रिटेन का क्षेत्रफल ८८,७६५ वर्ग मील है जो हमारे राजस्थान के क्षेत्रफल से भी कम है। विश्व में इसका आकार ७५ वां है जब कि जनसंख्या के घनत्व में इसका चौथा स्थान है। इस देश की लम्बाई ६०० मील तथा चौड़ाई ३०० मील है। इस का कोई भी स्थान समुद्र से ७० मील से दूर नहीं है।

यहाँ की जनसंख्या लगभग ५ करोड़ है जो राजस्थान की जनसंख्या की चार गुनी के बराबर है। जनसंख्या का केवल ११ प्रतिशत कृषि या इससे सम्बन्धित कार्यों में लगा हुआ है जबकि हमारे यहा यह ७० प्रतिशत से अधिक है। अधिकांश आबादी नगरों में है। राजधानी लन्दन संसार का सबसे बड़ा नगर है। औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप ब्रिटेन की अधिकांश जनसंख्या कोयला क्षेत्रों के पास वाले नये औद्योगिक नगरों में चली गई और ग्रामों की आबादी कम हो गई। इस प्रकार सबसे अधिक आबादी का स्थान परिवर्तन दक्षिणी पूर्वी ब्रिटेन से उत्तरी पश्चिमी ब्रिटेन की ओर हुआ।

जलवायु (Climate)

भौगोलिक स्थिति के कारण ब्रिटेन की जलवायु सारे वर्ष सम रहती है—अर्थात् शीतकाल में न विकट शीत और ग्रीष्म काल में न भीषण गर्मी। इस प्रकार वहा की जलवायु समशीतोष्ण है जो वहा के निवासियों को कठिन परिश्रम करने के लिये प्रोत्साहित करती है। कारखाना उद्योग में अधिक उत्पादन का श्रेय जलवायु को है।

जलवायु की समता से लाभ
१. अति परिश्रमी निवासी
२. अधिक उत्पादन
३. सूती उद्योग का विकास
४. जल यातायात की उन्नति
५. गल्फ स्ट्रीम के कारण निर्बाध आर्थिक क्रियाएं।

किसी ने कहा है कि जिस प्रकार क्रिकेट के खेल में भविष्य वाणी करना कठिन है वैसे ही ब्रिटेन की जलवायु के बारे में भविष्य वाणी करना बहुत कठिन है यहां की जलवायु की मुख्य विशेषता निरन्तर परिवर्तनशीलता है। वास्तव में जलवायु एक लम्बे मौसमी क्रमों से बनी है। इस देश में सारे साल पश्चिमी हवाओं से वर्षा

होती है लेकिन वर्षा पश्चिमी भागों में अधिक होती है। पिनाइन पर्वत की रुकावट के कारण पूर्वी भाग वृष्टि छाया प्रदेश में पड जाता है अतः पूर्वी भाग मे वर्षा कम होती है। पश्चिमी भागो मे वर्षा ४०" से ८०" तक होती है। पूर्वी भागों मे केवल ३०" या उससे भी कम वर्षा होती है। दक्षिणी पूर्वी भागों में वार्षिक तापान्तर २०° फ० होता है जब कि पश्चिमी भागो में वार्षिक तापान्तर १०° फ० होता है।

जलवायु मे नमी (Moisture) के कारण ही यहाँ उत्तम प्रकार का महीन वस्त्र बनना सम्भव हुआ। सालभर वर्षा होने के कारण यहां आन्तरिक जल यातायात विकसित हो सका जिससे भारी सामान तथा कोयला आदि औद्योगिक केन्द्रो में पहुचाया जाता है। इसके अतिरिक्त औद्योगिक उपयोग के लिये भी पर्याप्त जल प्राप्त हो जाता है।

इंगलैंड के पश्चिमी तट पर गल्फ स्ट्रीम जलधारा के कारण यहा ग्रीष्म ऋतु मे तापक्रम हिम बिन्दु तक नहीं पहुँच पाता और सारी आर्थिक क्रियाएं यथापूर्वक चलती रहती हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इंगलैंड की औद्योगिक उन्नति में अनुकूल जलवायु ने महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया है।

समुद्रतट (Coast Line)

ब्रिटेन का समुद्रतट लगभग ७,००० मील लम्बा है और अत्यन्त कटा फटा है जिसमे अनेक सुरक्षित खाड़ियां बन गई हैं। इन सुरक्षित खाड़ियों मे असंख्य उत्तम प्राकृतिक बन्दरगाह पाये जाते हैं जैसे लन्दन, लिवरपूल, ग्लासगो, एडिनबर्ग, हल, डन्डी आदि। यहां की नदियां नौका वाहन योग्य हैं और यहां नहरों का जाल सा बिछा दिया गया है। उत्तम बन्दरगाह और आन्तरिक जलमार्ग होने के कारण विदेशी और आन्तरिक व्यापार को विकसित करने में बड़ी सुविधा मिली है।

विस्तृत कटे फटे समुद्र तट से लाभ
१. प्राकृतिक बन्दरगाह
२. विदेशी व्यापार
३. जलयान उद्योग
४. सुदृढ़ जहाजी बेड़ा
५. मत्स्य उद्योग का विकास

देश का प्रत्येक भाग समुद्र के निकट होने के कारण यहाँ के निवासी साहसी और नौकावहन मे रुचि रखते हैं। इसी कारण इंगलैड का जलपोत उद्योग उन्नत हो सका तथा उसका जहाजी बेड़ा विश्व में सर्वोच्च स्थान प्राप्त कर सका। इंगलैड समुद्रों की मलिका 'Mistress of the Seas' तथा Maritime Nation के नाम से विख्यात हुआ और उसने संसार में अनेक उपनिवेश स्थापित किये। यहां के समुद्र पर ही संसार प्रसिद्ध डागर बैंक मछुआ क्षेत्र है जिससे यहा मत्स्य उद्योग (Fishing) उन्नत हो सका है।

धरातल (Surface)

इंगलैंड की भूमि अधिकतर कृषि योग्य नहीं है क्योंकि यहां की भूमि का क्षेत्रफल कम है व भूमि पहाड़ी है। अतः यह उद्योग प्रधान देश है। उत्तर व पश्चिम में भूमि पहाड़ी है तथा यह कठोर चट्टानों से बनी है। इस भाग में स्काटलैंड का उच्च भाग, लेक जिला, पिनाईन, वेल्स पर्वत आदि शामिल हैं। इन पहाड़ियों के ढालों पर उत्तम प्रकार की घास उत्पन्न की जाती है, अतः पशुपालन उन्नत अवस्था में है।

> **धरातल की विशेषता**
> पहाड़ी ढालों पर पशु पालन
> दक्षिणी पूर्वी भाग में कृषि

इंगलैण्ड का केवल दक्षिणी पूर्वी भाग ही मैदान के रूप में है। मिडलैंण्ड, लंकाशायर, ब्रिस्टल बेसिन तथा सोमरसेट के मैदान मुख्य हैं। यहां पर गेहूं, जौ, चुकन्दर, आलू, फल व सब्जी आदि का उत्पादन होता है।

खनिज सम्पत्ति (Minerals)

यह देश खनिज सम्पत्ति के क्षेत्र में अत्यन्त भाग्यशाली है। यहां की खनिज सम्पत्ति में विविधता नहीं है परन्तु एक बड़ी विशेषता यह है कि यहां उत्तम किस्म के कोयले के विशाल भंडार हैं। दूसरी विशेषता यह है कि कोयले के क्षेत्र के पास ही लोहे की खानें भी हैं जिससे यहां अनेक बड़े बड़े उद्योग स्थापित हुए हैं।

> **विशेषताएं**
> अच्छे किस्म के कोयले के भंडार
> कोयले के पास लोहे की खानें
> विभिन्न उद्योगों की स्थापना

ब्रिटेन का वार्षिक कोयला उत्पादन लगभग २१ करोड़ टन है जो संसार का $\frac{1}{7}$ भाग है। कोयले के प्रसिद्ध क्षेत्र पिनाइन, लेक, वेल्स पर्वतीय क्षेत्र तथा मिडलैंएड घाटी में हैं।

लोहा उत्तरी लंकाशायर, उत्तरी स्टाफोर्डशायर और दक्षिणी वेल्स क्षेत्र से प्राप्त किया जाता है। ब्रिटेन का लोहा उत्पादक देशों में चौथा स्थान है। इसके अतिरिक्त तांबा, जस्ता, निकल आदि थोड़ी मात्रा में उत्तरी वेल्स, लेक क्षेत्र और पिनाइन श्रेणियों से निकाला जाता है।

उपर्युक्त विवरण से यह ज्ञात होता है कि ब्रिटेन अपनी भौगोलिक स्थिति तथा प्राकृतिक साधनों के कारण ही अपनी इतनी अधिक आर्थिक उन्नति करने में सफल हो सका है। परन्तु इन प्राकृतिक सुविधाओं के साथ २ ही कुछ प्रतिकूल परिस्थितियां भी हैं जिनके कारण इंगलैंएड जो १६ वीं शताब्दी में विश्व का सर्वोच्च राष्ट्र था आज उसका स्थान तृतीय है। कृषि योग्य भूमि की कमी तथा जनसंख्या के बढ़ने के

कारण भूमि का मूल्य वहां अधिक है। कृषि भूमि पर काम करने वाले मजदूरों की लागत भी बहुत अधिक है। अतः इंगलैण्ड का कृषि उत्पादन व्यय विदेशों से आयात (Import)



किये हुए अनाज से अधिक है। कृषि गौण रूप से की जाती है। इस प्रकार इंगलैण्ड में खाद्यान्नों का दूसरे देशों से आयात किया जाता है तथा वहां राशन प्रणाली है।

दूसरी ओर ब्रिटेन में उद्योगों के लिये पर्याप्त मात्रा में कच्चे माल का अभाव है। ब्रिटेन के सबसे प्रसिद्ध उद्योग सूती वस्त्र उद्योग को कपास के लिये दूसरे देशों पर निर्भर रहना पड़ता है। इन प्रतिकूल परिस्थितियों के होते हुए भी साहसी ब्रिटिश निवासी अपने देश के आर्थिक विकास में संलग्न हैं जो उनके जातीय गुणों को प्रगट करता है।

सारांश (Summary)

किसी भी देश की भौगोलिक स्थिति, धरातल, जलवायु, समुद्रतट व खनिज पदार्थ उसके आर्थिक विकास, कृषि, वन सम्पदा, औद्योगिक उत्पादन, व्यापार व यातायात पर प्रभाव डालते हैं।

स्थिति—इंगलैंड की आश्चर्यजनक आर्थिक उन्नति में उसकी अनुकूल भौगोलिक स्थिति व प्राकृतिक साधनों ने सहयोग दिया है।

ब्रिटेन की भौगोलिक स्थिति मध्यवर्ती होने के कारण वह यूरोप व अमेरिका से व्यापारिक सम्पर्क रख सकता है और वहां औद्योगिक विकास हो सका है।

क्षेत्रफल की दृष्टि से ब्रिटेन एक छोटा देश है परन्तु वहां जनसंख्या का घनत्व अधिक है। अधिकतर जनसंख्या नगरों में है और कृषि में बहुत कम व्यक्ति लगे हुए हैं।

जलवायु—समशीतोष्ण जलवायु के कारण इंगलैंड के निवासी कठिन परिश्रमी हैं। यहां की जलवायु सूती उद्योग के लिये अत्यन्त उपयुक्त है। सालभर वर्षा होने के कारण आन्तरिक जल यातायात विकसित है। गल्फ स्ट्रीम (Gulf stream) के कारण यहाँ निर्बाध रूप मे आर्थिक क्रियाएँ चलती रहती हैं।

समुद्रतट—यहाँ का समुद्रतट विस्तृत व कटा फटा है जिससे अनेक सुरक्षित बन्दरगाह उपलब्ध हैं जिनके द्वारा विदेशी व्यापार उन्नत है।

कोई भी स्थान समुद्र से अधिक दूर न होने के कारण जलयान उद्योग विकसित है तथा जहाजी बेड़ा (Navy) उन्नत है। पास ही छिछले समुद्र के कारण मत्स्य उद्योग (Fishing) भी प्रसिद्ध हैं।

धरातल—उत्तरी पश्चिमी भूमि पहाड़ी है तथा उनके ढालों पर पशुपालन किया जाता है। दक्षिणी पूर्वी मैदानों में कृषि की जाती है।

खनिज—इंगलैंड में उत्तम किस्म के कोयले के भंडार हैं; साथ ही इनके पास लोहे की खानें भी हैं। इन महत्वपूर्ण खनिज पदार्थों के कारण ही वहाँ बड़े बड़े उद्योग स्थापित हुए हैं।

इन प्राकृतिक सुविधाओं के साथ साथ ही कुछ विपरीत परिस्थितियाँ हैं—जैसे कृषि भूमि की कमी, कृषि लागत की अधिकता और औद्योगिक कच्चे माल (Raw material) मुख्यकर कपास का अभाव है। परन्तु फिर भी परिश्रमी व साहसी ब्रिटिश निवासी अपने देश के आर्थिक विकास मे जुटे हुए हैं।

प्रश्न

1. What has been the influence of geograhical factors on the Economic Development of Great Britain?

ग्रेट ब्रिटेन के आर्थिक विकास पर वहाँ की भौगोलिक परिस्थितियों का क्या प्रभाव पड़ा है?

2. 'England's natural resources are more suited to her industrial rather than Agricultural Development.' Do you agree with this view? Give reasons in support of your view.

'इंगलैंड के प्राकृतिक साधन वहाँ के कृषि विकास की अपेक्षा औद्योगिक विकास के लिये अधिक उपयुक्त हैं।' क्या आप इससे सहमत हैं? अपनी सम्मति के पक्ष मे तर्क दीजिये।

कृषि की मेनोरियल पद्धति
(MANORIAL SYSTEM OF AGRICULTURE)

'Throughout the Middle Ages the Manor was the unit of rural organisation over the greater part of England'. —Southgate

मेनोरियल पद्धति का उद्‌गम—(Origin of the Manorial System)

इंगलैंड में मध्य युग के समय कृषि प्रधान उद्योग था। कृषि सामन्तवादी प्रथा के अनुसार चलती थी, जो मेनोरियल पद्धति कहलाती थी। यह प्रथा इस देश में ही प्रचलित नहीं थी परन्तु यूरोप के अन्य देशों में भी पाई जाती थी। इस पद्धति के विकास के बारे में अर्थशास्त्री एकमत नहीं हैं और इस प्रकार इसके विकास का इतिहास विवाद-ग्रस्त है। कुछ का मत है कि मेनोरियल प्रथा रोम के 'विल' (Vill) भूमि का ही विकसित रूप है जिस पर दासों द्वारा खेती की जाती थी। अन्य लोगों के अनुसार इसका उद्‌गम जर्मनी के 'मार्क' (Mark) से है जिस पर स्वतन्त्र मनुष्यों द्वारा खेती की जाती थी। आधुनिक मत यह है कि इस प्रथा के विकास में रोम व जर्मनी दोनों का ही प्रभाव पड़ा है।

> उद्‌गम
> (१) रोम के विल से
> (२) जर्मनी के मार्क से
> (३) दोनों के ही प्रभाव से

मेनर का अर्थ:—(Meaning of Manor)

साउथ गेट के शब्दों में "मेनर के अर्थ में बहुधा एक गाँव और उसके चारों ओर की भूमि सम्मिलित होती थी।"* प्रत्येक 'मेनर' के चारों ओर बाड़ (Tan) होती थी जिससे इसका क्षेत्रफल प्रगट होता था और इसकी हाकुओं व अन्य पशुओं से रक्षा होती थी। गाँव के अधिकारी को Manorial Lord कहा जाता था। वह एक अथवा अधिक गाँवों का अधिपति नियुक्त किया जा सकता था। 'चर्च' के आधीन भी कुछ मेनर होते थे जिनके स्वामी पादरी होते थे। मेनोरियल प्रथा के संगठन

> मेनर का अर्थ
> एक गाँव और उसके चारों ओर की भूमि

*"A Manor was a large estate which consisted usually of a single village and an extent of land surrounding it".—G. W. Southgate—English Economic History, Page 1.

में प्राय: समानता पाई जाती थी। गाँव में पक्के मकान मेनोरियल लोर्ड तथा कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के होते थे—जैसे पादरी व व्यापारी आदि। प्रत्येक गाँव में चर्च और न्यायालय होते थे तथा न्याय Manorial Lord द्वारा होता था।

मेनर की विशेषताएँ
(१) एक ग्रामपति
(२) संगठन में समानता
(३) उद्देश्य-आत्मनिर्भता
(४) सादा जीवन
(५) उत्पादन व्यापार के लिये नहीं।

गाँव का जीवन सादा था। प्रत्येक मेनर आत्मनिर्भर था। उत्पादन व्यापार वाणिज्य के लिये नहीं होता था। परन्तु कोई मेनर पूर्णतः आत्मनिर्भर नहीं होता था। रेशमी वस्त्र, मलमल, फीते, औजार, अस्त्रशस्त्र, नमक आदि वस्तुएं मंगानी पड़ती थी जिनके बदले में अतिरिक्त उत्पत्ति देनी पड़ती थी। व्यापार में मुद्रा (money) का बहुत कम प्रयोग होता था।

भूमि विभाजन
(१) डेमसने-ग्रामपति की भूमि
(२) स्वतन्त्र व्यक्तियों की भूमि-पादरी व व्यापारी
(३) दासों की भूमि-ग्रामपति का ही अधिकार
(४) सार्वजनिक चारागाह

मेनर में भूमि विभाजन

उस समय मेनर की भूमि ४ भागों में विभाजित थी—

(१) डेमसने (Demesne)।

(२) स्वतन्त्र व प्रतिष्ठित व्यक्तियों की भूमि।

(३) दासों को दी गई भूमि।

(४) सार्वजनिक चारागाह।

(१) डेमसने (Demesne)

डेमसने का अर्थ लार्ड की भूमि से है। लार्ड ग्राम की एक तिहाई भूमि का स्वामी होता था और उस भूमि का उत्पादन लार्ड व उसके परिवार के सदस्यों के लिये सुरक्षित रहता था। डेमसने पर दासों को प्रति सप्ताह २ दिन बेगार करनी पड़ती थी।

(२) स्वतन्त्र व प्रतिष्ठित व्यक्तियों की भूमि

प्रत्येक मेनर में पादरी व प्रतिष्ठित व्यापारियों की भूमि भी होती थी। इस भूमि पर ग्रामपति का बहुत कम अधिकार हुआ करता था।

(३) दासों की भूमि

दासों (Slaves) का भूमि पर कोई अधिकार नहीं होता था। रीति रिवाज के अनुसार उनको भूमि दी जाती थी जिस पर वास्तविक रूप में ग्रामपति का ही अधिकार होता था। वह दासों को बेदखल (Eject) कर सकता था परन्तु ऐसा करना उसके लिये हितकारी नहीं था क्योंकि डेमसने पर भी दास काम करते थे।

(४) सार्वजनिक चारागाह (Common Pastures)

इनमें प्रायः सामूहिक चारागाह होती थी जिस पर पशु चरते थे। इसके बिना मेनर पद्धति नहीं चल सकती थी। इसके अतिरिक्त ऊसर भूमि भी थी जो घासफूस काटने के काम आती थी तथा जिसमे इमारतो व जलाने की लकड़ी प्राप्त की जाती थी।

मेनर निवासियों का वर्गीकरण

मेनर के निवासी दो वर्ग के होते थे।—

(१) स्वतन्त्र (२) कृषक दास

जनसंख्या का वर्गीकरण
(१) स्वतन्त्र—ग्रामपति, पादरी व व्यापारी-कर से मुक्त
(२) दास—विलेन्स व काटर्स

(१) स्वतन्त्र-इस वर्ग में ग्रामपति, पादरी व कुछ प्रतिष्ठित व्यापारी होते थे। इन पर किसी भी प्रकार के कर (Tax) का बोझा नहीं होता था। इनको अपनी भूमि के लिये स्वामी को लगान देना पड़ता था। ये मेनर छोड़ सकते थे और स्वामी पर मुकदमा चला सकते थे।

(२) कृषक दास—इस वर्ग की संख्या अधिक होती थी तथा यह आर्थिक दृष्टि से महत्वपूर्ण वर्ग था। इनको अपनी भूमि के अतिरिक्त ग्रामपति की भूमि पर भी कार्य करना पड़ता था। इनको खेतों के छोड़ने का अधिकार नहीं था। दासों को अपने स्वामी के विरुद्ध न्यायालय में मुकदमा चलाने का अधिकार नहीं था। वे अपने घर, बाग, खेत और फसल में अपने भाग पर अधिकार रख सकते थे और सामूहिक चारागाह पर अपने पशुओं को चरा सकते थे।

दासों का वर्गीकरण

कृषक दास दो प्रकार के होते थे—

(१) विलेन्स (Villiens) (२) काटर्स (Cottars)

विलेन्स के कर्तव्य
(१) २५ से ३० एकड़ भूमि पर अधिकार
(२) डेमेसने पर बेगार (Forced Labour)
(३) कृषि सम्बन्धी अन्य कार्य
(४) मुकदमा चलाने का निषेध
(५) उपहार देना और Merchet व Heriot कर देना
(६) शिक्षा की मनाही
(७) मेनर छोड़ने का अधिकार नहीं

(१) विलेन्स—इसका अर्थ उन किसानों से है जिनको कि ग्रामपति द्वारा २५ से ३० एकड़ की भूमि निर्वाह के लिये दी जाती थी। भूस्वामियों तथा स्वतन्त्र व्यक्तियों के बाद समाज मे इनको प्रतिष्ठा प्राप्त थी। इनको स्वामी की भूमि पर प्रत्येक सप्ताह दो या तीन दिन काम करना पड़ता था। उनमे हल चलाने, बीज बोने, फसल काटने, गाड़ी हाँकने, लकड़ी काटने, ऊन कतरने, बाड़ की मरम्मत करने आदि खेतो से सम्बन्धित कार्य लिया जा सकता था। इनको स्वामी के विरुद्ध मुकदमा चलाने का अधिकार नहीं था।

विलेन्स स्वामी की आज्ञा बिना मेनर छोड़कर नहीं जा सकता था। उसको अपना अनाज गाव की चक्की पर पिसाना पड़ता था जिसका स्वामी ग्रामपति होता था। वह बिना स्वामी की आज्ञा के न बैल, और न घोडा बेच सकता था। उसको तथा उसके बच्चो को पढ़ने का भी अधिकार नहीं था क्योंकि शिक्षा केवल पादरी बनने वालो के लिये ही सीमित थी। इसके अतिरिक्त इन दासों पर निम्न कर लगाये जाते थे—

(१) प्रत्येक त्योहार पर इनको लार्ड के लिये दूध व मुर्गे-मुर्गी आदि देने पड़ते थे।

(२) पुत्री के विवाह के अवसर पर विवाह दंड कर (Merchet) लार्ड के पास जमा कराना अनिवार्य था।

(३) उत्तराधिकार के समय एक कर (Heriot) लार्ड के पास जमा कराना पड़ता था। इस प्रकार के कर के रूप मे सर्वश्रेष्ट पशु ग्रामपति को भेंट मे दिया जाता था।

काटर्स के कार्य

(१) ५ एकड़ भूमि पर अधिकार
(२) सप्ताह में एक दिन स्वामी की भूमि पर बेगार
(३) गाव के अन्य कारीगर इस वर्ग मे सम्मिलित
(४) बैल व हल पास नही होना

(२) काटर्स (Cottars)—काटर्स की आर्थिक स्थिति विलेन्स से निम्नतर थी। इनके पास केवल ५ एकड़ भूमि होती थी तथा इनके पास न बैल होते थे और न हल ही होते थे। इनको सप्ताह मे केवल एक दिन स्वामी की भूमि पर कार्य करना पड़ता था। इस प्रकार इनको Monday Man भी कहा जाता था। अपने अवकाश के समय मे वे मजदूरी पर काम करके अपनी आय बढ़ा सकते थे। इस वर्ग के अन्तर्गत ही मेनर के कारीगर, बढ़ई, लोहार आदि सम्मिलित थे। इस प्रकार ये लोग साधारण जनता की सेवा कर अपना जीवन निर्वाह करते थे।

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि दासों की दशा शोचनीय थी। उनका जीवन स्तर आधुनिक समय के श्रमिको की अपेक्षा निम्न था परन्तु फिर भी कुछ दशाओं मे उनकी स्थिति अच्छी थी—उनको बेकारी का भय नही था और न वृद्धावस्था व बीमारी ही उनके लिये आर्थिक संकट थे।

कृषि प्रणाली

१. खेतों का पाटियों मे विभाजन
२. त्रिखेत प्रथा प्रचलित
३. उत्पादन कम
४. खाद व सिंचाई की व्यवस्था नहीं
५. मुख्य उत्पत्ति—गेहू, जो, ओट व रेय

कृषि पद्धति
(Method of Cultivation)—

लोगों का मुख्य पेशा कृषि था अतः कृषि भूमि अत्यन्त महत्वपूर्ण थी। प्रत्येक खेत को चौड़ी पाटियों में विभाजित किया जाता था जिनके फरलोंग, शोट या प्लेट आदि नाम थे। एक पाटी की चौड़ाई एक फर्लांग होती थी।

प्रारम्भ में मेनर में कृषि की द्विखेत व्यवस्था थी जिसके अनुसार एक खेत प्रति वर्ष खाली छोड़ दिया जाता था, बाद में त्रिखेत (Three Field) प्रथा का प्रचलन हुआ। इस पद्धति के अन्तर्गत प्रतिवर्ष दो खेतों पर कृषि की जाती थी और एक फालतू छोड़ दिया जाता था जिससे वह पुनः उर्वरता प्राप्त करले। इस प्रकार प्रत्येक खेत को एक वर्ष का विश्राम मिल जाता था। फसल कटने के बाद पशुओं के चरने के लिये खेत खुले छोड़ दिये जाते थे। कृषि करने के तरीके रिवाज व परम्परा द्वारा निर्धारित थे और खेतों में खाद देने की प्रथा नहीं थी। इस प्रकार उत्पत्ति बहुत कम होती थी और प्रति एकड़ ६ से ८ बुशल (Bushel) से अधिक नहीं होती थी। मुख्य पैदावार गेहूँ, जौ, ओट और रेय (Rey) थी। खेत छोटे छोटे टुकड़ों में बटे होते थे व सिचाई की अच्छी व्यवस्था का अभाव था।

पशु-सम्पदा (Cattle Weath)

उस समय पशुओं की दशा आधुनिक समय की अपेक्षा निम्नतर थी। पशु दुर्बल और निकृष्ट होते थे तथा विभिन्न रोगों से पीड़ित रहते थे। अधिकांश भेड़ें खुट्टी नामक रोग से ग्रसित थीं अतः एक डेढ़ पौंड, प्रति भेड़ से अधिक ऊन प्राप्त नहीं होती थी। सूअर और मुर्गे मुर्गियों की अधिक संख्या थी। इसके अतिरिक्त पशुओं के खिलाने पिलाने की समस्या बनी रहती थी। पशुओं के नस्ल (Bread) सुधार के कोई प्रयत्न नहीं किये गये।

पशु
१. निर्बल निकृष्ट
२. भेड़ें खुट्टी रोग से ग्रसित
३. सूअर व मुर्गे मुर्गियों की अधिकता

मेनर की प्रबन्ध व्यवस्था—

मेनर का प्रशासन ग्रामपति के आधीन मुख्तार (Bailiff) द्वारा होता था। वह दासों पर नियंत्रण रखता था। इस कार्य में उसको सहायता वे विलेन्स करते थे जिनको साधारण दास कार्यों से मुक्त कर दिया जाता था। इन सहायता करने वालों को रीव (Reeve) और हेवार्ड (Hayward) कहते थे। मुख्तार हिसाब किताब की बहियाँ रखता था और निरीक्षण के समय उनको प्रस्तुत करता था

प्रबन्ध		
१. मुख्तार	२ रीव	३. हेवार्ड

मेनर प्रणाली की विशेषताएं
(Essential Characteristics or features of Manorial System)

मेनोरियल पद्धति के संगठन के अध्ययन से उसकी मुख्य विशेषताएं निम्न प्रकार प्रतीत होती हैं—

(१) सर्वव्यापकता—यह प्रथा लगभग सारे देश में प्रचलित व मान्य थी। इसके साथ साथ और कोई प्रथा प्रचलित नहीं थी। इस प्रकार कुछ जंगली और वीरान भागों को छोड़कर यह सारे देश में फैली हुई थी।

विशेषताएं
१. सर्वव्यापकता
२. संगठन में समानता
३. एक ग्रामपति
४. खुला खेत प्रणाली
५. दासो द्वारा श्रम
६. आत्म निर्भरता
७. रीति रिवाज सिद्धान्त
८. कृषि व्यापार के लिये नही

(२) मेनर की कार्य प्रणाली में समानता—यद्यपि रिवाज और परम्परा भिन्न भिन्न थे परन्तु संगठन की मुख्य बातें सब मेनर में लगभग समान थीं।

(३) मेनर का एक अधिपति होता था।

(४) कृषि की खुला खेत पद्धति (Open Field System) प्रचलित थी।

(५) दासों के श्रम से खेती होती थी।

(६) प्रत्येक मेनर का आदर्श आत्म निर्भरता था।

(७) मेनर के प्रधान सिद्धान्त रीतीरिवाज और परम्परा थे।

(८) कृषि जीविका चलाने के लिये की जाती थी न कि व्यापार के लिये।

मेनोरियल प्रथा के गुण व दोष (Merits & Demerit)

गुण (Merits)

मध्य युग की मेनोरियल प्रथा पर आधारित ग्रामीण व्यवस्था के कुछ विशेष गुण थे जो इस प्रकार हैं—

(१) इस प्रथा ने लोगों को स्थायी रूप से भूमि पर बसने को प्रोत्साहित किया और वे आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त करने लगे।

गुण
१. आर्थिक स्वतन्त्रता
२. जान व माल की सुरक्षा
३. कृषि का स्टेन्डर्ड
४ आत्म निर्भरता व सहकारिता
५. मितव्ययता व बचत

(२) हिंसा के उस युग में इस प्रथा ने लोगो की जान और सम्पत्ति की सुरक्षा प्रदान की।

(३) काश्तकारों को मुख्तार और अन्य कर्मचारियों के निरीक्षण मे कार्य करना पड़ता था अतः लापरवाही नही की जा सकती थी और कृषि का एक स्टेंडर्ड निश्चित हो गया था।

(४) प्रत्येक मेनर आत्म निर्भर था और सहकारिता (Co-operation) सिद्धान्त पर कृषि आधारित थी।

(५) इस प्रथा ने मितव्ययता व बचत को प्रोत्साहन दिया।

श्री Ogg & Sharp के शब्दों में "मेनर एक छोटी सी सुसंगठित, आर्थिक रूप में आत्मनिर्भर और सामाजिक रूप में स्वतन्त्र इकाई थी।" *

दोष (Demerits)

यद्यपि मेनर अपने गुणों के कारण सर्वव्यापक था और दीर्घकाल तक प्रचलित रहा परन्तु कुछ दोषों के कारण इस प्रथा का पतन हुआ। मुख्य दोष निम्न प्रकार थे:—

दोष
१. स्वतन्त्रता व प्रेरणा का अभाव
२. छोटे स्वामियों को कठिनाई
३. दासों पर अत्याचार
४. समय व श्रम का अपव्यय
५. सीमा सम्बन्धी झगड़े
६. कृषि के पुराने तरीके
७. चारे का अभाव
८. दासों की दयनीय अवस्था
९. मकानों की अव्यवस्था
१०. यातायात का अभाव

(१) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और कार्य करने की प्रेरणा का अभाव था। प्रत्येक को रिवाज और परम्परा के अनुसार कार्य करना पड़ता था। अतः सुधार नहीं हो सकता था।

(२) छोटे स्वामियों को भूमि प्राप्त करने में बाधा होती थी।

(३) ग्रामपति, मुख्तार तथा अन्य कर्मचारियों द्वारा दासों पर मन माना अत्याचार किया जाता था।

(४) फैले हुए खेतों के कारण किसानों का समय और श्रम व्यर्थ ही नष्ट होता था।

(५) स्थायी बाड़ों (Fencing) के न होने से प्रायः सीमा (Boundary) सम्बन्धी झगड़े होते रहते थे।

(६) फसलों की किस्म हल्की थी, उत्तम बीजों का अभाव था, खेतों में खाद डालने का ज्ञान न था तथा कृषि पुराने परम्परागत तरीकों से की जाती थी।

(७) शरद ऋतु में चारे का अभाव हो जाता था और इस कारण अनेक पशुओं को समाप्त कर दिया जाता था। वैसे भी पशु दुर्बल और निम्न स्तर के होते थे।

(८) दासों की अवस्था शोचनीय थी। उनको स्वतन्त्रता नहीं थी। उन पर अनेक प्रकार के कर लगाये जाते थे और उनके साथ अभद्र व्यवहार किया जाता था।

(९) मकान छोटे छोटे घास फूस की कुटियों के रूप में थे।

---

*"The manor was a compactly organised, economically self-sufficing and socially independent unit"—F. A. Ogg and W. R. Sharp. Economic Development of Modern Europe, Ed., 1959. Page. 22—23.

(१०) यातायात के साधनो का नितान्त प्रभाव था। G. W. Southgate के अनुसार "कदाचित इसके दीर्घजीवन का मुख्य कारण इसके स्वाभाविक गुण नहीं होकर इसको बदलने की कठिनाई थी। यह अपनी उपयोगिता से अधिक जीवित रही और एक बाधा बन गई, फिर भी एक प्रथा जिसने अनेक शताब्दियो तक देश की सेवा की, उसमें बहुत कुछ सराहनीय होना चाहिये, और इसकी अति शीघ्र निन्दा नहीं की जानी चाहिये।"*

मेनोरियल प्रथा के पतन के कारण
(Causes of the Decline of Manorial System)

१५ वी और १६ वीं शताब्दी में कृषि प्रणाली मे परिवर्तन हुए। वाणिज्य व्यापार मे वृद्धि हुई और मुद्रा का भी प्रचलन हुआ। इससे दासों और मजदूरो की स्थिति में काफी सुधार हुआ। इस प्रकार १६ वीं सदी तक मेनोरियल प्रणाली का अन्त हो गया। इसके निम्नलिखित कारण थे:—

पतन के कारण
(१) जनसंख्या में वृद्धि
(२) मुद्रा प्रचलन
(३) हेमेसने की समाप्ति
(४) दास वृति की समाप्ति
(५) किसान विद्रोह
(६) भेड़ व्यवसाय का विकास
(७) मेनर न्यायालयों की समाप्ति

(१) जनसंख्या में वृद्धि:—देश की जनसंख्या मे निरन्तर वृद्धि हो रही थी। इसके साथ साथ ही खाद्य पदार्थों का अभाव हो रहा था। खाद्य पूर्ति के लिये अधिक अन्न उत्पन्न करने की आवश्यकता थी जिसके लिये कृषि क्षेत्र का विस्तार किया जाने लगा। चारागाहों को भी कृषि योग्य भूमि में परिवर्तित किया गया और इस नई भूमि को घेरा डालकर (Enclosure) रखा गया। ये सब सुधार मेनर प्रणाली के विरुद्ध थे और इस प्रकार इन्होंने उसके पतन में सहयोग दिया।

(२) मुद्रा का प्रचलन.—मेनर में विनिमय असम्भव था क्योंकि वहां मुद्रा का प्रचलन नहीं था। वहा के निवासी निकटवर्ती नगरों की मंडियो में अतिरिक्त उत्पादन ले जाने से मुद्रा के प्रयोग से परिचित होने लगे। अतः विनिमय सर्व प्रथम नगरों के समीपवर्ती मेनर में प्रचलित होने लगा। इस प्रकार मेनर और नगरो में व्यापार बढ़ता

*"Perhaps the chief reason for its long survival lay in the difficulty of making a change rather than in its inherent merits. It outlived its usefulness and became a nuisance, nevertheless a system which served the country for many centuries must have had much to commend it, and it ought not to be condemned too rapidly"—G. W. Southgate: 'English Economic History', Ed. 1957, Page 16.

गया जिससे अधिक उत्पादन किया जाने लगा और अधिक मुद्रा प्राप्त की जाने लगी। इसके अतिरिक्त दासों द्वारा अपनी सेवाओं का मूल्य ग्रामपति को मुद्रा में चुकाया जाने लगा और वे स्वतंत्र होने लगे। ग्रामपति भी खेतों पर काम करने के लिये श्रमिकों को मुद्रा मजदूरी पर रखने लगा। ग्रामपति को राजनैतिक व व्यक्तिगत कार्यों के लिये मुद्रा की आवश्यकता होती थी। इस प्रकार मेनर प्रणाली की मुख्य विशेषता स्वामी और दास का सम्बन्ध समाप्त होने लगा जिससे यह प्रथा भी कमजोर पड़ने लगी।*

(३) डेमसने भूमि की समाप्ति—ग्रामपति की भूमि पर दासों से बेगार ली जाती थी। परन्तु मुद्रा के आविर्भाव के कारण वे मुद्रा देकर दासकार्यों से मुक्त होने लगे। इधर भूमि पर कार्य करने वालों की मजदूरी भी बढ़ती गई। ऐसी परिस्थितियों में भूस्वामी अपनी भूमि पट्टों (Lease) पर उठाने लगे और काश्तकार भूमि के लिये लगान (Rent) देने लगे।

(४) दासवृत्ति की समाप्ति—मध्ययुग में इंगलैंड में अनेक बार प्लेग का प्रकोप हुआ जिसमें सबसे भीषण प्लेग १३४८-४६ में हुआ जिसे काली मृत्यु (Black Death) कहते हैं। इस प्लेग के कारण देश की एक तिहाई जनसंख्या की मृत्यु हो गई। अनुमान के अनुसार जनसंख्या ४० लाख से घटकर २५ लाख रह गई। काली मृत्यु का यह परिणाम हुआ कि सर्वत्र श्रमिकों का अभाव हो गया, खड़ी फसलें नष्ट होने लगीं और भूमि बिना जुती रह गई। ग्रामपतियों को श्रमिक ढूंढने में अत्यन्त कठिनाई होने लगी और मजदूरी की दरें तीव्र गति से बढ़ने लगीं। मजदूरी की दरों को बढ़ने से रोकने के लिये स्वामियों ने १३४६ और १३५१ में विधान पास कराये (Ordinance of Labourers 1349,& the Statute of Labourers 1351), परन्तु मजदूरी बढ़ती गई। इस प्रकार दास आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त करने लगे और अधिक मजदूरी पाने लगे।

(५) किसान विद्रोह—मजदूरी के बढ़ने के कारण ग्रामपति अपने आधीन दासों पर से अधिकार नहीं छोड़ना चाहते थे। फलस्वरूप दास वर्ग असन्तुष्ट हो गया और इसका परिणाम १३८१ का किसान विद्रोह (Peasant Revolt) हुआ। दासों की यह मांग थी कि उन्हें स्वामी के अनिवार्य कार्यों से मुक्ति मिले और एकड़ों के अनुसार ही विनिमय भुगतान लिया जाय। इस विद्रोह को कुचलने के प्रयत्न किये गये। परन्तु विनिमय की क्रिया जारी रहने से धीरे २ दास स्वतंत्र होने लगे। श्रम के अभाव के कारण वे स्वतंत्र मजदूरी पर काम करने वाले बन गये।

(६) भेड़ पालन व्यवसाय के लिये बाड़ों का विकास—ऊनी वस्त्र निर्माण में इंगलैंड प्रसिद्ध था। उसके ऊन की मांग स्वदेश और विदेश दोनों में अधिक थी।

* "The Essentially manorial relationship was dissolved and serfs became free tenants"—Ogg and Sharp, Ibid, p. 25.

इसकी माग स्थिर थी व मूल्य उचित था। इसकी अपेक्षा अन्न की माग अस्थिर थी और निर्यात पर नियंत्रण था। फसलें अच्छी होने पर भी अनाज के मूल्य नीचे रहते थे व मजदूरों के वेतन बढ़े हुए थे। घास उत्पन्न करने मे खेती की अपेक्षा कम श्रम लगता था। अतः भूस्वामी की रुचि कृषि की अपेक्षा घास उत्पन्न करने में अधिक होने लगी। इस कार्य के लिये खेतों की छोटी २ पट्टियों को मिलाकर घेरा डाला जाने लगा। धीरे २ चरागाह, जंगल और ऊसर भूमि को घेरा डालकर भेड़ व्यवसाय किया जाने लगा। इस प्रकार मेनर पद्धति का पतन हो गया।

मेनर न्यायालयों की समाप्तिः—मेनर प्रणाली के अन्तर्गत ग्रामपति को मेनर से सम्बन्धित मुकदमों का फैसला करने का अधिकार था। भूस्वामियो को इन अदालतो से आर्थिक लाभ भी होता था। जैसे २ दास स्वतंत्र होते गये वैसे २ ही कचहरी मे मामले कम होने गये और जुर्माने की राशि भी कम होने लगी। इसके अतिरिक्त सरकारी न्यायालयो के खुल जाने से भी मेनर के न्यायालयों का महत्व समाप्त हो गया और भूस्वामियो की प्रभुता भी समाप्त हो गई।

इस प्रकार मेनोरियल प्रथा जो दीर्घकाल से ब्रिटिश कृषि का एक विशिष्ट अंग थी, समाप्त हो गई। कृषि में नये तरीकों का प्रयोग किया जाने लगा और कृषक दास नही रहे। समावरण आन्दोलन का जोर बढा और खेतों पर घेरा डालकर कृषि की जाने लगी। व्यापार बढने तथा मुद्रा का अधिक प्रचलन होने से प्रतियोगिता (Competition) का आर्थिक क्षेत्र में आविर्भाव हुआ जिसने कृषि क्रान्ति की आधार शिला रखी।

सारांश (Summary)

इंगलैंड मध्ययुग के समय कृषि प्रधान देश था और कृषि मेनोरियल प्रथा के अनुसार की जाती थी। इस पद्धति के उद्गम का इतिहास विवादग्रस्त है। इस प्रथा का विकास कुछ लोग रोम के विल से और कुछ जर्मनी के मार्क से मानते हैं। आधुनिक मतानुसार इसके प्रारम्भ में रोम व जर्मनी दोनों का प्रभाव रहा है।

अर्थः—मेनर से अभिप्राय एक गाँव और उसके आसपास की भूमि से है। मेनर स्वामी को मेनोरियल लार्ड कहते थे। चर्च के आधीन भी मेनर होते थे। मेनोरियल प्रथा में प्रायः सादृश्यता पाई जाती थी। पक्के मकान विशिष्ट व्यक्ति के होते थे। न्याय लार्ड कचहरी में करता था।

गाँव का आदर्श आत्मनिर्भरता (Self-sufficiency) था और जीवन सादा था।

भूमि विभाजनः—

(१) डेमसने—गाँव की १/३ भूमि ग्रामपति की होती थी जिस पर दासों द्वारा बेगार (Forced labour) ली जाती थी।

(२) स्वतंत्र व्यक्तियों की भूमि—पादरी व व्यापारी वर्ग की भूमि जिस पर लार्ड का अधिकार नही था।

(३) दासों की भूमि—दासों का भूमि पर अधिकार नहीं था व दासों को बेदखल किया जा सकता था।

(४) सार्वजनिक चारागाह—इन पर सर्व साधारण के पशु चरते थे।

ग्रामीण समुदाय का वर्गीकरण:—

(१) स्वतन्त्र—ग्रामपति, पादरी और प्रतिष्ठित व्यापारी।

(२) दास—अधिक संख्या—ग्रामपति की भूमि पर कार्य करना अनिवार्य था।

दास दो प्रकार के थे:—

(i) विलेन्स—२५ से ३० एकड़ भूमि इनको मिलती थी। स्वामी की भूमि पर सप्ताह में ३ दिन कार्य करना पड़ता था। इनसे कृषि सम्बन्धी अन्य कार्य भी लिये जाते थे। ये शिक्षा नहीं ले सकते थे। इनके द्वारा लोर्ड को विभिन्न कर दिये जाते थे जैसे Merchet और Heriot। इन्हें मेनर छोड़ने व मुकदमा चलाने का अधिकार नहीं था।

(ii) कार्टर्स—५ एकड़ भूमि इनको दी जाती थी। ग्रामपति की भूमि पर सप्ताह में केवल एक दिन कार्य करना अनिवार्य था। इनके पास हल व बैल नहीं थे। अन्य कारीगर इसी वर्ग में शामिल थे।

कृषि प्रणाली:—

त्रिखेत प्रणाली प्रचलित थी। उत्पादन कम होता था। खाद व सिंचाई की उचित व्यवस्था नहीं थी। मुख्य उत्पादन गेहूं, जौ, ओट व राई थे।

पशु सम्पदा—निर्बल व निकृष्ट—भेड़ों को सुट्टी का रोग—सूअर व मुर्गे मुर्गियों की अधिकता।

प्रबन्ध व्यवस्था:—

प्रबन्ध मुख्तार तथा रीव और हेवार्ड द्वारा होता था।

मेनर प्रणाली की विशेषताएं:—

(१) सर्वव्यापकता—अन्य पद्धति प्रचलित नहीं थी।

(२) संगठन में समानता पाई जाती थी।

(३) मेनर का एक ग्रामपति होता था।

(४) दासों द्वारा कृषि होती थी।

(५) खुला-खेत-प्रणाली प्रचलित थी।

(६) मेनर अधिकांशतः स्वावलम्बी होते थे।

(७) रीति रिवाज (Customs) की प्रधानता थी।

(८) कृषि व्यापार के लिये नहीं की जाती थी।

पद्धति के गुण:—

(१) लोगों को आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी।

(२) लोगों को जान व माल मेनर में सुरक्षित थे।

(३) कृषि का एक निश्चित स्टैन्डर्ड निर्धारित हो गया।

(४) मेनर आत्मनिर्भर थे तथा सहकारिता सिद्धान्त(Co-operation)प्रयोग में था।

(५) मितव्ययता (Thrift) व बचत (Savings) को प्रोत्साहन मिलता था।

दोष—

(१) स्वतन्त्रता व प्रेरणा का अभाव था।

(२) छोटे भूस्वामियों को भूमि प्राप्ति में कठिनाई।

(३) दासों पर विभिन्न अत्याचार।

(४) समय व श्रम का अपव्यय (Waste)।

(५) सीमा सम्बन्धी झगड़ों का होना।

(६) कृषि के पुराने तरीके।

(७) चारे का अभाव।

(८) दासों की दयनीय अवस्था।

(९) मकानों की अव्यवस्था।

(१०) यातायात के साधनों का अभाव।

इस प्रथा के पतन के कारण:—

(१) जनसंख्या में वृद्धि—खाद्य पदार्थों की कमी होना—अधिक उत्पादन के लिये कृषि क्षेत्र का विस्तार। चारागाहों पर भी कृषि घेरा डाल कर की जाने लगी।

(२) मुद्रा का प्रचलन—दासों द्वारा स्वतन्त्र होने की प्रवृत्ति, कृषि श्रमिकों को मजदूरी मुद्रा में। स्वामी दास का सम्बन्ध समाप्त होना।

(३) डेमसने भूमि की समाप्ति—मजदूरी की वृद्धि जिससे भूमपति द्वारा भूमि पट्टे (Lease) पर उठाना।

(४) दासवृत्ति की समाप्ति—१३४८-४९ के प्लेग (काली मृत्यु) द्वारा १/३ जनसंख्या का संहार—श्रमिकों की कमी व मजदूरी में वृद्धि—अतः दासों का स्वतन्त्र होना।

(५) किसान विद्रोह (१३८१)—विद्रोह में दासों का सहयोग—विनिमय (Exchange) जारी रहने से दासों का स्वतन्त्र होना।

(६) भेड़ पालन व्यवसाय—कृषि की अपेक्षा यह व्यवसाय लाभपूर्ण था—ऊन की मांग अधिक, मूल्य स्थिर, लागत (Cost) कम।

(७) मेनर न्यायालयों की समाप्ति—सरकारी न्यायालयों की स्थापना।

प्रश्न

१. मेनोरियल पद्धति की मुख्य विशेषताओं का वर्णन करिये। वह क्यों असफल रही?

२. नोट लिखिये :—डेमसने, किसान विद्रोह, विलेन्स, काटर्स, मेनर।

कृषि क्रान्ति

(AGRICULTURAL REVOLUTION)

"The Agrarian Revolution had the effect of putting English Agriculture in the fore front."

"अठारहवी शताब्दी की कृषि-क्रान्ति ने अन्य देशों की तुलना में ब्रिटिश कृषि को अगुआ बना दिया।" —साऊथगेट

भूमिका—इंगलैंड में अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कृषि क्षेत्र में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए जिन्हें हम के नाम से कृषि क्रान्ति पुकारते हैं। कृषि में यह क्रांति सन् १७५० से आरम्भ हुई और १९वीं शताब्दी के मध्य तक चलती रही। इस क्रांति के फलस्वरूप ब्रिटेन में खुले खेतों की प्रथा प्रायः समाप्त हो गई और उसका स्थान समावृत खेतों ने ले लिया। त्रिखेत प्रथा तथा खेतों को खाली छोड़ दिये जाने के स्थान पर अब फसलों की हेर-फेर की प्रणाली (Rotation of Crops) अपनाई जाने लगी। कृषि का वैज्ञानिकरण हुआ और बीज बोने, फसल काटने एवं पशुओं की नस्ल सुधारने के लिये नये २ तरीके काम में लाये जाने लगे।

१७५० से कृषि में सुधार
१. बाड़ा बन्दी २. फसलों का आवर्तन और ३. कृषि का वैज्ञानिकरण।

क्रान्ति के पूर्व की स्थिति—

सन् १७५० में जब कृषि क्रांति प्रारम्भ हुई उस समय कृषि के तरीके प्राचीन व साधारण थे। प्रति एकड़ उपज कम थी। कृषकों की आर्थिक दशा अच्छी नहीं थी। १६ वीं सदी में कृषि लाभ कमाने के लिये की जाने लगी। खेतों के चक बनाने की प्रवृत्ति भी आरम्भ हुई, फिर भी लगभग आधे गांवो में अब भी खुले खेतों की प्रथा प्रचलित थी। भेड़ पालने के विस्तार से दुष्परिणाम हुए—देहात मे जनसंख्या का ह्रास होने लगा तथा भूमि का मूल्य बढ़ गया। १७ वीं शताब्दी में वीरान भूमि और वनों को काट कर भूमि प्राप्त कर ली गई। इस काल मे कृषि सुधार भी किए गये परन्तु

पूर्व स्थिति
१. उत्पादन कम
२. कृषि व्यापार के लिये आरम्भ
३. समावरण आन्दोलन आरम्भ
४. भेड़ व्यवसाय के दुष्परिणाम

खुले खेतो के कारण विस्तृत रूप में क्रियान्वित नहीं किये जा सके। पशु नस्ल सुधार पर भी ध्यान दिया गया। बाड़ लगे हुए खेतो पर सुधरे तरीको का प्रयोग कभी कभी किया जाता था। कृषक सूत व ऊन की कताई व बुनाई आदि से कुछ अतिरिक्त आय प्राप्त कर लेता था।

कृषि क्रांति के कारण

१८ वी सदी मे जिन कारणो ने कृषि क्रांति को जन्म दिया वे निम्नलिखित थे:—

क्रांति के कारण
१. जनसख्या में वृद्धि
२. अनाज का अभाव व मूल्य में वृद्धि
३. पूंजी का संग्रह
४. कृषि सुधारको व वैज्ञानिकोंका प्रचार
५. राजकीय संरक्षण
६. ग्रामीण सूती वस्त्र उद्योग का पतन

(१) जनसंख्या में वृद्धि—देश की जनसंख्या मे निरन्तर वृद्धि होती रही थी। बढती हुई जनसंख्या को खाद्य पूर्ति के लिये कृषि का क्षेत्र विस्तृत किया जाने लगा, खेतो के घेरा डाला जाने लगा और विभिन्न कृषि सुधार किये जाने लगे।

(२) खाद्य पदार्थों का अभाव और मूल्य वृद्धि—जनसख्या की वृद्धि के साथ ही खाद्य पदार्थों का अभाव हो रहा था। इससे अनाज के मूल्य बहुत बढ गये थे। अन्न के बढे हुए मूल्य, कृषि सुधार और विकास के लिये पर्याप्त आकर्षण प्रदान कर रहे थे।

(३) पूजी (Capital) का अधिक संग्रह—बड़े बड़े भूमिपतियो तथा व्यापारियों के पास विकास के लिये आवश्यक पूंजी जमा हो गई थी। इसी पूजी का प्रयोग कृषि के यन्त्रीकरण मे हुआ तथा कृषि व्यापार के लिये बडे पैमाने पर की जाने लगी।

(४) कृषि सुधारकों व वैज्ञानिकों का प्रचार—कृषि सुधारने के लिये नये २ तरीको का प्रचार कृषि सुधारकों द्वारा किया गया। कृषि विकास की ओर वैज्ञानिकों ने भी रुचि दिखाई और नये २ यन्त्र तथा तरीके खोजे। मुख्यरूप कृषि सुधारक रोबर्ट बेकवेल, आर्थर यंग, जैथ रोटुल आदि अपने लेखो तथा भाषणो द्वारा जनता मे प्रचार कर रहे थे।

(५) राजकीय संरक्षण (Protection)—राजनैतिक वातावरण भी कृषि के विकास के लिये सहानुभूति पूर्ण था। पार्लियामेंट मे भी कृषक स्वार्थो का प्राधान्य था और अन्न कानून (Corn Laws) के पास होने से एक शताब्दी तक ब्रिटिश कृषकों के हितो की रक्षा हुई।

(६) ग्रामीण सूती वस्त्र उद्योग का पतन.—किसान खेती के अतिरिक्त अपने घर पर सूत कातने और बुनने का कार्य अपनी आय बढाने के लिये करते थे। परन्तु कारखाना पद्धति के विकास के साथ ही यह घरेलू उद्योग मन्द पडता गया। गांव में बेकारी फैल गई और किसान को अपने जीवन निर्वाह के लिये कृषि पर ही अवलम्बित

होना पड़ा। कृषि से उसका निर्वाह नहीं हो सकता था अतः उसे अपने खेतों में सुधार करना पड़ा।

अन्न कानून (Corn Laws)

कृषि को प्रोत्साहन देने तथा भूमिपतियों के हितों की सुरक्षा करने के उद्देश्य से ब्रिटेन ने अनाज के आयात-निर्यात पर अन्न कानून बनाकर नियंत्रण किया। सर्व प्रथम सन् १६८६ मे कोर्न बाउन्टी एक्ट (Corn Bounty Act) बना जिसका उद्देश्य अनाज के निर्यात को प्रोत्साहन देना था, क्योंकि उस समय ब्रिटेन की जनसंख्या कम थी और अन्न उत्पादन अधिक। बाद में परिस्थितियाँ बदल गई और अनाज की कमी प्रतीत होने लगी। अतः इस नीति में परिवर्तन किया गया और सन् १७६३ तक ब्रिटेन से अनाज का निर्यात बन्द कर दिया गया। इस समय अनाज का बहुत अभाव हो गया और बाहर से अनाज का आयात (Import) करना पड़ा।

अन्न कानून

(१) १६८९ के Corn Bounty Act द्वारा निर्यात को प्रोत्साहन
(२) १८१५ के एक्ट द्वारा गेहूं के आयात पर नियंत्रण
(३) १८२२, १८२८ व १८४२ में संशोधन
(४) १८३८ में Anti Corn Law League की स्थापना
(५) १८४६ से अनाज का स्वतंत्र आयात

सन् १८१५ में युद्ध की समाप्ति होने पर ब्रिटेन के कृषक स्वार्थों ने अनाज के आयात पर नियंत्रण लगाने की मांग की क्योंकि उन्हें यह आशका थी कि बाहरी अनाज की प्रतियोगिता के कारण देश में अन्न का मूल्य स्तर गिर जायगा और इस प्रकार कृषकों को हानि होगी। इस समय पार्लियामेंट में कृषक स्वार्थों का प्रभाव था। अतः सन् १८१५ में एक अनाज अधिनियम (Corn Law) पास किया गया जिसके अनुसार गेहूँ के आयात पर नियंत्रण लगा दिया गया। राई, जौ और जई के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार के प्रतिबन्ध लगाये गये। परन्तु अनाज के भाव गिरने और मन्दी के कारण सन् १८२२, १८२८ और १८४२ मे इसमें संशोधन करने पड़े जिनके अनुसार मूल्य की उच्चतम सीमा और आयात करो (Import Duties) की दर में परिवर्तन किये गये।

इन कानूनों का प्रधान उद्देश्य यह और कृषकों की उन्नति करना था परन्तु यह नहीं हुआ। कृषि की दशा गिरती गई। इसके अलावा ये एक विशेष वर्ग के स्वार्थ की पूर्ति के लिये बनाये गये थे। अतः ये जनता का समर्थन प्राप्त न कर सके और इन कानूनों को समाप्त करने के लिये आन्दोलन आरम्भ हो गया। सन् १८३८ में लंकाशायर के कुछ उद्योगपतियों ने मिलकर एक अन्न कानून विरोधी संघ (Anti Corn Law League) जोन ब्राइट, रिचार्ड कोबडन और चार्ल्स वोलीयर्स के

नेतृत्व मे स्थापित की। सन १८४५ में आलू की फसलों के नष्ट हो जाने से सर रोबर्ट पील ने यह अनुभव किया कि अनाज के आयात पर प्रतिबन्ध लगाना देश के हित मे न होगा और फलस्वरूप १८६६ से अनाज का आयात स्वतंत्ररूप से ब्रिटेन में होने लगा।

कृषि क्रान्ति की विशेषताएं:—
(Salient features of the Agrarian Revolution)

(१) समावरण आन्दोलन (Enclosure Movement)—सन् १७५० तक देश की लगभग आधी स्वामि भूमियों में खुले खेतों की पद्धति प्रचलित थी। इस पद्धति के कारण भूमि का दुरुपयोग होता था और कोई सुधार नहीं किया जा सकता था। दूसरे, खुले खेतों की पद्धति से खेती करने से किसान का निर्वाह नही हो सकता था और जो केवल खेती से निर्वाह करना चाहते थे उनको अपने तरीकों में सुधार करना पड़ा। यह आवश्यक हो गया कि खुले खेतों को काट कर चकों को लोगों में बाट दिया जाय जिससे वे बाड़ लगा सकें। परन्तु इस प्रकार की बाड़ाबन्दी सर्वसम्मति से होने मे कठिनाई हुई अतः १८०१ में एक साधारण बाड़ा बन्दी अधिनियम बनाया गया जिसके अनुसार स्वेच्छापूर्वक। समावरण करने के लिये सुविधा मिल गई और कार्य विधि सरल हो गई। सन् १८३६ मे दो तिहाई बहुमत मिलने पर बाड़ा बन्दी की जा सकती थी। सन् १८४५ में General Enclosure Act पास हुआ जिसके अन्तर्गत केन्द्रीय समावरण मंडल की स्थापना की गई। धीरे धीरे बाड़ा बन्दी के पक्ष में लोग हो गये और १८५० तक खुले खेत अदृश्य हो गये।

कृषि क्रान्ति की विशेषताए

(१) समावरण आन्दोलन प्रगति के कारण
   (i) भूमि का अधिक महत्व
   (ii) पूंजी का संग्रह
   (iii) जनसंख्या की वृद्धि
   (iv) राज्य द्वारा प्रोत्साहन

   प्रभाव
   (i) कृषि में सुधार
   (ii) कृषि क्षेत्र का विस्तार
   (iii) छोटे किसानों को हानिकारक
   (iv) बेकारी का फैलना
(२) बड़े खेतों की प्रमुखता
(३) कृषि का पूंजीवादी संगठन
(४) कृषि तरीकों में सुधार
(५) पशु नस्ल मे सुधार
(६) सरकारी नीति
(७) छोटे कृषकों का लोप

वास्तव में बाड़ाबन्दी का आन्दोलन मेनोरियल प्रथा के पतन होने से ही आरम्भ हो गया था। कृषि दासो के स्वतंत्र हो जाने और अनाज के स्थान पर ऊन की मांग बढ़ जाने के कारण भूमिपतियों ने अपने खेतो को घेरकर कृषि के बजाय

भेड़ पालने का व्यवसाय करना आरम्भ कर दिया। यह कार्य छोटे २ खेतों को मिलाकर या चारागाह व बंजर भूमि को घेर कर पूरा किया गया। १५ वी व १६ वीं शताब्दी मे इस प्रकार यह घेरा डालने की प्रवृत्ति जोर पकड़ती गई। इस आन्दोलन की पुनरावृत्ति १८ वी सदी में कृषि क्रान्ति के साथ हुई। एडम स्मिथ (Adam Smith) जैसे अर्थशास्त्रियों ने कृषि मे अपव्यय रोकने तथा खुले खेतो के दोषो से बचने के लिये इस बाड़ाबन्दी का समर्थन किया।

बाड़ाबन्दी (Enclosure Movement) की प्रगति के कारण short note.

(१) भूमि का अधिक महत्व:—किसी व्यक्ति के पालियामेंट में चुने जाने के लिये भूमि का स्वामी होना आवश्यक था। आर्थिक दृष्टि से भी भूस्वामी होना लाभदायक था। अतः प्रत्येक व्यक्ति भूमि खरीदना चाहता था और एक स्थान पर ही भूमि रखना चाहता था जिससे बाड़ाबन्दी को प्रोत्साहन मिला।

(२) पूंजी का संग्रह:—व्यापारियों तथा बड़े भूमिपतियों के पास प्रचुर मात्रा में पूंजी जमा होने लगी, जिसका प्रयोग वे अधिक भूमि खरीदने में करने लगे। इसके अतिरिक्त पूंजी का प्रयोग बाड़ा लगे खेतो में सुधरे हुए तरीकों से कृषि करने में किया गया।

(३) जनसंख्या की वृद्धि—जनसंख्या के बढ़ने के साथ २ खाद्य पदार्थों का अभाव होने लगा। उत्पादन बढ़ाने के लिये कृषि में सुधार करना आवश्यक था और सुधार बाड़ा बन्द खेतो मे ही हो सकता था।

(४) राज्य द्वारा घेरा बन्दी को विभिन्न अधिनियम बना कर प्रोत्साहित किया गया।

बाड़ाबन्दी के प्रभाव

(१) कृषि क्षेत्र का विस्तार—(i) खेतो का आकार बढ़ जाने से जोतने, खाद डालने व देखभाल करने मे सुविधा हो गई। उत्पादन बड़े पैमाने पर सुधरे हुए तरीकों से होने लगा।

(ii) दलदल व बंजर (Barren) भूमि पर भी कृषि की जाने लगी जिससे कृषि क्षेत्र का विस्तार हुआ।

(२) बेकारी—(i) छोटे २ किसानों के लिये यह हानिकारक सिद्ध हुआ। बहुतो की भूमि छीन ली गई और अनेक लोगों को अपनी भूमि बेच देनी पड़ी। चारागाह, जंगल व बंजर भूमि पर भी घेरा डालकर कृषि होने से इन छोटे २ किसानों को चारे व ईंधन का अभाव हो गया।

(ii) गांवों मे बेकारी फैल गई। गांव के लोग नगरों मे जाकर औद्योगिक मजदूर बनने लगे और इस प्रकार श्रमिकों का एक नया वर्ग (Class) उत्पन्न हो गया।

(३) बड़े खेतों की प्रमुखता (Predominence of large farms)

बाड़ाबन्दी आन्दोलन के कारण छोटे कृषकों का खेती करना असम्भव हो गया। मूल्य-स्तर बढ़ रहा था। बाड़े बन्दी के लिये धन की आवश्यकता थी। चारागाहों को घेर लिया गया था तथा उनमें भी खेती होने लगी थी। चारे और लकड़ी का सर्वत्र अभाव होने लगा। इस काल में भूमि की माँग बढ़ गई और भूस्वामी होना बड़ी प्रतिष्ठा की बात थी। उन दिनों पार्लियामेंट तथा स्थानीय संस्थाओं की सदस्यता के लिये खड़े होने वाले व्यक्ति के लिये भूस्वामी होना आवश्यक था। व्यापारियों व उद्योगपतियों को इतनी प्रतिष्ठा नहीं थी। अतः वे भी ऊंची कीमतों पर खेत खरीदने के लिये तत्पर रहते थे। इन सब कारणों से छोटे २ कृषक अपने खेत बेचकर शहरों में औद्योगिक मजदूर बन गये।

(४) कृषि का पूंजीवादी संगठन (Capitalistic Organisation)

कृषि प्रायः बड़े आकार के समाकृत खेतों के रूप में संगठित थी। इनके स्वामी धनी भूमिपति थे। वे अपने धन का प्रयोग कृषि के विकास में करने लगे। मजदूरों के अभाव में नई मशीनों और यन्त्रों का प्रचलन बढ़ गया। कृषि व्यापारिक [redacted] से की जाने लगी। ऊंचे मूल्यों के कारण कृषि अत्यन्त लाभदायक उद्योग हो गया और भूमिपति मालामाल होते गये।

(५) कृषि तरीकों में सुधार (Improved methods of Agriculture)

जन संख्या के बढ़ने से खाद्यान्न की माँग में वृद्धि हुई जिसकी पूर्ति करने के लिये कृषि के तरीकों में सुधार किया जाने लगा। श्रम व समय की बचत के उद्देश्य से नये नये प्रकार के यन्त्रों का आविष्कार हुआ और उन्हें कृषि प्रयोग में लाया गया।

जैथरोटल (Jethrotull) नामक विद्वान ने ड्रिल मशीन और अश्वचालित फावड़े का आविष्कार किया जिससे पंक्तिबद्ध रूप में (In rows) बीज बोया जाना था तथा प्रत्येक पौधे को पर्याप्त मात्रा में मिट्टी मिल जाती थी। सम्राट जार्ज तृतीय ने विन्सर में एक आदर्श खेत (Model Farm) स्थापित किया।

लोर्ड टाउनशेन्ड ने अपनी भूसम्पदा नोरफोक में फसलों के हेरफेर का प्रसिद्ध तरीका (Rotation of Crops) खोज निकाला।

१८२६ में बेल (Bell) ने फसल काटने की मशीन का आविष्कार किया जिसमें सुधार सन् १८५३ में मेकिरले ने किया। सन् १८४० में खली (Oil Cakes) और हड्डी का प्रयोग खाद के रूप में किया जाने लगा और १८४३ में लेविस तथा हमलो द्वारा रासायनिक खाद (Chemical fertilizers) का प्रयोग भी किया जाने लगा।

(६) पशु नस्ल में सुधार (Improvement in breed of cattle)

रोबर्ट बेकवेल (Robert Bakewell) ने नस्ल मिश्रण (Cross breeding)

द्वारा पशु नस्ल सुधारने का प्रयास किया। उसने अपने परीक्षणों को सन् १८२२ में पुस्तक के रूप मे प्रकाशित किया। आगे चलकर इस कार्य में थोमस विलियम कोक ने महत्वपूर्ण सहयोग दिया।

(७) सरकारी नीति

सरकार ने भी कृषि विकास की ओर अधिक ध्यान देना आरम्भ किया। सन् १८३८ में शाही कृषि परिषद की स्थापना की गई और सन् १८४२ मे कृषि रसायन मण्डल स्थापित हुआ जिसका कार्य कृषि सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन और वैज्ञानिक प्रयासो को प्रोत्साहित करना था। कृषि को राजकीय संरक्षण मिला और कृषक क्लब की स्थापना कृषि विकास के लिये की गई। दलदली भूमि को कृषि योग्य बनाया गया। इस कार्य में जोसेफ नामक किसान ने सहयोग दिया। पानी की नालियो का उत्तम तरीका जेम्स स्मिथ द्वारा निकाला गया।

(८) छोटे कृषकों का लोप

बाड़ाबन्दी आन्दोलन के कारण छोटे २ खेतों को घेरा जाने लगा और व्यापारी वर्ग द्वारा कृषि बड़े पैमाने पर की जाने लगी। ऐसी परिस्थितियो मे छोटे किसान गांवो मे न रह सके। वे औद्योगिक नगरो की ओर प्रस्थान कर गये और कई कारखानो में श्रमिक बन गये।

कृषि क्रान्ति के प्रभाव (Effects of Agricultuarl Revolution)

(१) उत्पत्ति में वृद्धि—बाड़ाबन्दी आन्दोलन तथा पूंजी के प्रयोग से कृषि का विकास हुआ। कृषि नये वैज्ञानिक तरीको से की जाने लगी। इन सब के फलस्वरूप प्रति एकड़ उत्पादन बढ़ गया। ८ बुशल प्रति एकड़ गेहूँ के स्थान पर १० बुशल गेहू प्रति एकड होने लगा और इंगलैंड दीर्घकाल के लिये कृषि में आत्म निर्भर हो गया।

कृषि क्रान्ति के प्रभाव
(१) उत्पत्ति में वृद्धि
(२) व्यापारिक कृषि
(३) भूस्वामित्व का केन्द्रीयकरण
(४) छोटे किसानो का पतन
(५) किसानों का नया वर्गीकरण
(६) जनता को कष्ट

(२) व्यापारिक कृषि (Commercialized Agriculture)—क्रान्ति के पूर्व कृषि प्रायः जीवन निर्वाह के लिये की जाती थी परन्तु वैज्ञानिक तरीको के अपनाये जाने के कारण अब व्यापारिक फसलों को भी बोया जाने लगा।

(३) भूमि स्वामित्व का केन्द्रीयकरण (Centralisation of Ownership of land)—कृषि व्यवस्था पर केवल धनी और पूंजीपतियों का एकाधिकार (Monopoly) हो गया। भूमि का आर्थिक और राजनैतिक महत्व बढ़ जाने से प्रत्येक पूंजीपति अधिक से अधिक भूमि खरीदने लगा।

(४) छोटे छोटे किसानों का पतन—कृषि क्रान्ति का परिणाम यदि एक ओर कृषि उत्पादन के लिये उत्तम हुआ तो दूसरी ओर लाखों छोटे २ कृषकों के लिये घातक सिद्ध हुआ। उन्हें अपनी भूमि बड़े भूमिपतियों को बेचनी पड़ी। वे धनाभाव के कारण नये तरीकों को अपनाने तथा प्रतियोगिता में ठहरने मे असमर्थ थे, अतः वे नगरो मे श्रमिक (Labourers or wage earners) बन गये।

(५) किसानों का नया वर्गीकरण—क्रान्ति के फलस्वरूप किसानों के तीन समुदाय हो गये (i) खेतिहर किसान (Tenant farmers), (ii) कृषक (farmers), (iii) श्रमिक (Labourers).

(६) साधारण जनता को कष्ट—चारागाह, जंगल और बंजर भूमि के घेरा डाले जाने के कारण साधारण लोगों को ईंधन और चारे का अभाव हो गया। नगरों मे बड़े बड़े कारखाने खुलने के कारण लोगो को सहायक कार्यों तथा बुनने व कातने द्वारा अतिरिक्त आय से भी वंचित होना पड़ा।

इस प्रकार कृषि क्रांति ने इङ्गलैंड की कृषि व्यवस्था को एक नया मोड़ दिया। साउथगेट के अनुसार "१८ वी शताब्दी की कृषि क्रान्ति ने अन्य देशों की तुलना में ब्रिटिश कृषि को सब से आगे कर दिया। वास्तव में ब्रिटिश कृषि प्रणाली यूरोप मे सर्वोत्तम थी और यह बहुत समय तक आदर्श बनी रही जिसका अनुकरण करने के प्रयत्न महाद्वीपीय देशो ने किये"।*

सारांश (Summary)

सन् १७५० से कृषि मे अनेक परिवर्तन हुए जिनसे कृषि का वैज्ञानीकरण हुआ, बाड़ाबन्दी आरम्भ हुई और फसलो के हेरफेर की प्रणाली प्रचलित हुई।

क्रांति से पूर्व की दशा—कृषि उत्पादन कम था। कृषि व्यापार के लिये नहो की जाती थी। समावरण आन्दोलन आरम्भ होने पर भी खुले खेत प्रथा प्रचलित थी। भेड़ पालन व्यवसाय के दुष्परिणाम-भूमि के मूल्य बढ़ने तथा देहाती जनसंख्या की कमी के रूप मे हुए। अतिरिक्त आय कताई बुनाई द्वारा हो जाती थी।

कृषि क्रान्ति के कारण

(१) जनसंख्या में वृद्धि—जनसंख्या बढ़ने से कृषि उत्पादन बढ़ाने का प्रयत्न हुआ—बाड़ाबन्द खेतों पर सुधरे तरीकों से कृषि होने लगी।

---

* "The Agrarian Revolution of the 18th century had the effect of putting English agriculture in the fore front by comparison with that of other countries. English farming in fact was the best in Furope, and it long remained the model which continental countries tried to imitate." Ibid—page, 114.

(२) खाद्य पदार्थों का अभाव व मूल्य वृद्धि जिससे कृषि विकास की ओर अधिक ध्यान दिया गया।

(३) कृषि सुधारकों व वैज्ञानिकों का प्रचार—वैज्ञानिक यंत्रों और तरीकों का प्रचार।

(४) पार्लियामेन्ट द्वारा अन्न कानून बना कर कृषि को प्रोत्साहन।

(५) गाँव के सूती वस्त्र उद्योग का पतन—किसान की अतिरिक्त आय समाप्त हो गई जिससे उसकी कृषि सुधार की ओर रुचि बढ़ी।

अन्न कानून

सन् १६८६ के Corn Bounty Act द्वारा अनाज के निर्यात को प्रोत्साहन मिला। बाद में अनाज की कमी, अतः निर्यात बन्द और अनाज का आयात हुआ।

सन् १८१५ के एक्ट द्वारा गेहूँ के आयात पर नियंत्रण लगा। अनाज मूल्य गिरे और मन्दी के कारण १८२२, १८२८ व १८४२ में संशोधन हुए।

आशा के विपरीत इन कानूनों से लाभ नहीं हुए। १८३८ में Anti Corn Law League की स्थापना। १८४५ में रोबर्ट पील को आयात प्रतिबन्धों की असफलता ज्ञात हुई और १८६६ से स्वतंत्र रूप से अनाज का आयात होने लगा।

कृषि क्रान्ति की विशेषताएं

(१) समावरण आन्दोलन.—बाड़ाबन्दी सर्वसम्मति से होने में कठिनाई, अतः १८०१ में एक एक्ट पास हुआ। इसके बाद बाड़ाबन्दी आन्दोलन को प्रोत्साहित करने के लिये १८३६ व १८४५ में एक्ट पास हुए। १८५० तक खुले खेत समाप्त हो गये।

बाड़ाबन्दी की प्रगति के कारण

(i) भूमि का अधिक महत्व—आर्थिक व राजनैतिक दृष्टि से भूस्वामी होना लाभदायक, अतः अधिक भूमि का खरीदना और घेरा डालना प्रारम्भ हुआ।

(ii) पूंजी का संग्रह—अधिक भूमि खरीदने में पूंजी का प्रयोग जिससे बाड़ाबन्दी को प्रोत्साहन मिला।

(iii) जनसंख्या की वृद्धि—उत्पादन बढ़ाने के लिये बाड़ाबन्दी खेतों पर सुधरे व अच्छे तरीकों से कृषि आरम्भ।

(iv) राज्य द्वारा बाड़ाबन्दी नियम बनाना।

बाड़ाबन्दी के प्रभाव

(i) कृषि में सुधरे तरीकों का प्रयोग।

(ii) कृषि क्षेत्र का विस्तार।

(iii) छोटे २ किसानों का अहित हुआ—चारे व लकड़ी की कमी।

(iv) गाँव में बेकारी का फैलना।

(२) बड़े खेतों की प्रमुखता—भूमि का आर्थिक व राजनैतिक महत्व होने से ऊँचे मूल्य पर भूमि खरीदी गई और छोटे किसान भूमि बेचकर औद्योगिक मजदूर बन गये।

(३) कृषि का पूँजीवादी संगठन—श्रम के अभाव में धनी भूमिपतियों द्वारा मशीनों का कृषि में प्रयोग—कृषि व्यापारिक रूप में होने लगी।

(४) कृषि तरीकों में सुधार—नये २ यंत्रों व तरीकों का प्रयोग होने लगा। मुख्य आविष्कार Jethrotull द्वारा बीज डालने की Drilling मशीन, Bell द्वारा फसल काटने की मशीन और रासायनिक खाद का प्रयोग आरम्भ।

(५) पशु नस्ल में सुधार—Robet Bakewell द्वारा क्रास ब्रीडिंग का प्रयास।

(६) सरकारी सहायता—१८३८ में शाही कृषि परिषद व १८४२ में कृषि रसायन मण्डल की स्थापना—कृषि क्लब का खोलना और बंजर भूमि को कृषि योग्य बनाना।

(७) छोटे किसानों का लोप—वे बड़े भूमिपतियों के समक्ष नहीं ठहर सके और जीविकोपार्जन हेतु उनका औद्योगिक नगरों को प्रस्थान।

कृषि क्रान्ति के प्रभाव

(१) उत्पत्ति में वृद्धि—गेहूँ का प्रति एकड़ उत्पादन ८ बुशल से ३० बुशल तक बढ़ना।

(२) व्यापारिक कृषि आरम्भ हुई।

(३) भूमि स्वामित्व का केन्द्रीयकरण—धनी पूँजीपतियों का कृषि पर एकाधिकार।

(४) छोटे किसानों का पतन।

(५) किसानों का नया वर्ग—खेतिहर किसान, कृषक और श्रमिक।

(६) जन साधारण को ईंधन व चारे के अभाव—कताई बुनाई की अतिरिक्त आय समाप्त।

प्रश्न

1. Give the salient features of English Agricultural Revolution.

इंगलैंड की कृषि क्रान्ति की मुख्य विशेषताएँ बताइये।

2. Give a short sketch of the Agrarian Revolution in Great Britain and indicate its effects. (Raj. Uni. I T. D. C., 1960)

ग्रेट ब्रिटेन की कृषि क्रान्ति की संक्षिप्त रूप रेखा दीजिये और उसके प्रभाव बताइये। (राज० वि० I टी० डी० सी०, १९६०)

3. Write short notes on Corn Laws, Enclosure Movement, Anti Corn Law League.

अन्न कानून, समावरण आन्दोलन तथा अन्न कानून विरोधी संघ पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।

अध्याय ४

कृषि का विकास
(DEVELOPMENT OF AGRICULTURE)

"In the history of British Agriculture during the past hundred years, two general stages are to be distinguished—first, up to 1875 was a period of prosperity and the second, from 1875 to present day, a period of unrelieved depression."

—Ogg and Sharp.

कृषि क्रान्ति के फलस्वरूप ब्रिटिश कृषि में अनेक परिवर्तन हुए। इन परिवर्तनों का क्रमानुसार अध्ययन करने के लिये कृषि विकास को निम्न कालों में विभाजित किया जा सकता है:—

I स्वर्णयुग (१८५० से १८७४)
II मन्दी का काल (१८७५ से १९१४)
III प्रथम महायुद्ध काल (१९१४ से १९१८)
IV द्वितीय महायुद्ध के पूर्व का काल (१९१९ से १९३७)
V युद्ध कालीन समय (१९३८ से १९४५)
VI वर्तमान दशा

I स्वर्ण युग (Golden Age)

यह काल स्वर्ण युग इसलिये कहलाता है क्योंकि इस समय में कृषि में विभिन्न सुधार हुए और इस उद्योग ने आशातीत प्रगति की। कृषि की उन्नति के निम्नलिखित कारण थे:—

(१) कृषि प्रणाली में सुधार—कृषि वैज्ञानिक ढंग से की जाने लगी और भूमि को अधिक उपजाऊ बनाने के प्रयत्न किये गए। रासायनिक खाद फोस्फेटस आदि दी जाती थी। यन्त्रों का प्रयोग व्यापक हो गया जिससे बीज बोने, खेत जोतने और फसल काटने में सुविधा हुई।

स्वर्ण युग में कृषि उन्नति के कारण
१. कृषि प्रणाली में सुधार
२. सरकारी प्रोत्साहन
३. रेलों का विकास
४. बेकारी की समाप्ति
५. आन्तरिक व्यापार में वृद्धि

फसलों के हेरफेर की प्रणाली (Rotation of Crops) आरम्भ हो गई। फलस्वरूप उत्पादन बढ़ा और कृषि उद्योग अधिक लाभदायक हो गया। कृषकों को अच्छा लाभ हुआ और कृषि श्रमिकों का वेतन स्तर (Wage level) भी बढ़ गया।

(२) सरकारी प्रोत्साहन—कृषि सुधार और अनुसन्धान के लिये कई संस्थाएं स्थापित हुईं। रायल एग्रीकल्चर सोसाइटी और अनेक प्रान्तीय कृषि समितियों के निर्माण से कृषि का विकास हुआ।

सन् १८६५ से सरकार ने कृषि आंकड़ों का संकलन (Collection of Agr. Statistics) और प्रकाशन आरम्भ किया। इसी काल में कृषि प्रदर्शनियों और उपज प्रतियोगिताओं का आयोजन कर किसानों को अधिकाधिक उत्पन्न करने के लिये प्रेरणा दी गई। सरकार ने कम ब्याज दर पर किसानों को ऋण देने की भी व्यवस्था की।

(३) रेलों का विकास—इस काल में कृषि के विकास में सहयोग देने वाले कारणों में से एक महत्वपूर्ण कारण देश में रेलों का विकास था। रेलों की स्थापना से कृषि उत्पादन की बिक्री के लिये एक विस्तृत बाजार खुल गया। अब किसान अपनी उपज को निकटवर्ती मंडियों में ही बेचने को बाध्य नहीं रहा। रेलों द्वारा बीज, रासायनिक खाद और यन्त्र सस्ती दर से उपलब्ध होने लगे।

(४) बेकारी की समाप्ति—इस काल में रोजगार की प्रचुरता थी। कृषि अतिरिक्त अन्य कार्यों द्वारा लोगों की आय में वृद्धि हो रही थी तथा उनका जीवन स्तर बढ़ता जा रहा था। अनाज की मांग बढ़ रही थी जिससे मूल्य में काफी वृद्धि हो चुकी थी। इससे किसानों की समृद्धि बढ़ी और कृषि मजदूरी में भी वृद्धि हुई। उद्योगों में लगे हुए श्रमिकों का वेतन स्तर बढ़ता जा रहा था तथा जनता की सामान्य क्रयशक्ति (Purchasing Power) भी बढ़ गई थी।

(५) आन्तरिक व्यापार में वृद्धि—अब कृषि जीवन निर्वाह के लिये नहीं परन्तु व्यापार के लिये की जाने लगी। यद्यपि अन्न कानून १८४६ में ही समाप्त कर दिये गये थे परन्तु फिर भी कृषि इतनी उन्नत अवस्था में थी कि वह इस बढ़ती हुई मांग की भली प्रकार पूर्ति कर सकती थी। बाहर से आयात किया अनाज महंगा पड़ता था। अतः इंगलैंड का आन्तरिक व्यापार का विकास हुआ। व्यापार तथा उद्योग की सम्पन्नता का कृषि पर भी बड़ा अनुकूल प्रभाव पड़ा।

कृषि की इस समृद्धि के साथ २ ही एक दुर्भाग्यपूर्ण बात भी हुई। कृषि मजदूरी में वृद्धि कम हुई। कृषि लाभ बड़े २ किसानों और भूमिपतियों तक ही सीमित रहा। गावों से लोगों का पलायन नगरों की ओर होने लगा जहां विभिन्न उद्योगों में उनको काम मिलने लगा।

मंदी का काल (Period of Depression) १८७५-१९१४

स्वर्णयुग में जो कृषि सुधार हुए वे दीर्घकाल तक न चले और १८७३ के बाद ही ब्रिटिश कृषि को मन्दी का सामना करना पड़ा। इस मन्दी के कई कारण थे जिनमें सब से प्रमुख कारण १८७५ के पश्चात् अधिक वर्षा से बार २ फसलों

का खराब होना और पशु रोगों के प्रकोप थे। कृषि से पूंजी (Capital) हटाई जाने लगी और कृषि योग्य भूमि को भी चारागाह बनाया जाने लगा।

इन प्राकृतिक प्रकोपों से हानि होने के अतिरिक्त ब्रिटिश कृषि को विदेशी प्रतियोगिता का सामना करना पड़ा। स्वतंत्र व्यापार नीति के कारण बिना प्रतिबन्ध के अमेरिका, कनाडा, रूस, भारत, आस्ट्रेलिया व अर्जेन्टाइना से गेहूं का बड़ी मात्रा में आयात होने लगा। प्रशीतन विधि (Cold Storage) के उन्नत होने से अमेरिका, न्यूजीलैंड व अर्जेन्टाइना से जमाया हुआ मांस, मछली व डिब्बों में बन्द मक्खन, पनीर व फल का भी आयात ब्रिटेन में होने लगा। आयात को प्रोत्साहित करने में रेलों के विकास और सस्ते जहाजी यातायात ने सहयोग दिया। इंगलैंड की कृषि विदेशी सस्ते अनाज की प्रतियोगिता से अवनत होने लगी। मांस मछली के आयात के कारण देश के डेरी (Dairy) उद्योग पर बुरा प्रभाव पड़ा।

सन् १८८२ में सरकार ने ड्यूक ऑफ रिचमण्ड (Duke of Richmund) की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की। समिति के अनुसार मन्दी के निम्न कारण थे:—

मन्दी के कारण
(१) निकृष्ट फसलें
(२) पशु रोग
(३) उच्च कर
(४) कृषि प्रशिक्षण का अभाव
(५) विदेशी प्रतियोगिता
(६) अन्य खाद्य पदार्थों का आयात
(७) रेल भाड़े में वृद्धि

(१) निकृष्ट फसलें:—१८७५ से १८८४ तक अधिक वर्षा और शीत से फसलों की बहुत क्षति हुई। उसके बाद १९०० तक वर्षा की कमी के कारण उपज पर्याप्त न हो सकी।

(२) पशु रोग.—कृषि-पशुओं के विभिन्न रोगों के प्रकोप से किसानों की कठिनाइयां बढ़ गई। इन रोगों से भेड़, सूअर आदि पशुओं की भारी संख्या में मृत्यु हुई।

(३) उच्च कर:—कृषि अवनति का एक प्रमुख कारण सरकार द्वारा कृषकों पर कर बढ़ाना था। अतः किसान कृषि कार्य से हटने लगे।

(४) कषि प्रशिक्षण का अभाव—कृषि में पूंजी की प्रचुरता से वैज्ञानिकरण तो हो गया था परन्तु साधारण किसानों को नये यन्त्रों और तरीकों के प्रयोग से परिचित नहीं कराया गया। अतः उत्पादन आशानुकूल नहीं बढ़ा।

(५) विदेशी प्रतियोगिता—सन् १८८५ में कनेडियन पैसिफिक रल्वे बन जाने से अमेरिका के उपजाऊ मैदानों का गेहूँ ब्रिटेन के बाजारों में आने लगा। इसके अतिरिक्त आस्ट्रेलिया, अर्जेन्टाइना, रूस व भारत के गेहूँ के कारण भी ब्रिटिश कृषि में मन्दी आ गई।

(६) अनाज के अतिरिक्त अन्य खाद्य पदार्थों का आयात—प्रशीतन (Cold Storage) विधि के आविष्कार हो जाने से मांस, मछली, मक्खन, पनीर व फल भारी परिमाण में इगलैंड में आयात की जाने लगी। इससे कृषि का महत्व घट गया।

(७) रेल भाड़े में वृद्धि—नहर प्रतियोगिता में रेल भाड़े के बढ़ जाने से भी कृषि पर बुरा प्रभाव पड़ा।

श्री साउथगेट के शब्दों में "निकृष्ट फसल, उच्चकर, पशुरोग, कृषि प्रशिक्षण का अभाव, अनुचित रेल भाड़े और विदेशी प्रतिस्पर्धा मन्दी के कारण थे।"*

सन् १८९३-९७ के बीच एक और आयोग लार्ड एवरस्ले (Lord Eversley) की अध्यक्षता में नियुक्त हुआ जिसने मन्दी का कारण चांदी के मूल्य में की गई कमी बताया। इस आयोग ने मन्दी से होने वाली पूंजी की हानि पर भी प्रकाश डाला।

मन्दी के परिणाम
(१) कृषि पदार्थों के मूल्य में कमी
(२) कृषकों को हानि
(३) कृषि श्रमिकों के वेतन-स्तर में कमी

मन्दी के परिणाम (Effects)

(१) कृषि पदार्थों के मूल्य में कमी—मन्दी का सब से घातक परिणाम यह हुआ कि अनाज के मूल्यों में भारी कमी आ गई। कृषकों की आय कम हो गई और कृषि मजदूरों का वेतन भी घट गया। सन् १८९४ तक गेहूँ का मूल्य निम्नतम स्तर पर पहुँच गया।

(२) कृषकों पर प्रभाव—कृषकों का लाभ समाप्त हो गया और बहुत लोग दिवालिया हो गये। लाभ न होने से कृषि में पूंजी का विनियोजन रुक गया।

(३) कृषि श्रमिकों पर प्रभाव—किसान अपने मजदूरों का वेतन कम करने लगे जो पहले से ही अपर्याप्त था। कृषि श्रमिक कृषि कार्य छोड़ कर नगरों में बसने लगे। कनाडा व आस्ट्रेलिया को अधिक संख्या में लोगों का प्रवास होने लगा।

सुधार के प्रयत्न
(१) सहायक उद्योगों का विकास
(२) छोटे खेतों का पुनर्निमाण
(३) अन्य सुधार

सुधार के प्रयत्न—१९वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में कृषि निकृष्टतम अवस्था तक पहुँच गई थी, और इसकी गिरती हुई दशा चिन्ता का प्रश्न बन गया। उसके पुनर्निमाण व सुधार के उपाय सोचे जाने लगे। लोग इन समस्याओं में रुचि लेने लगे। सुधार के निम्नलिखित प्रयत्न किये गये—

*"Bad harvests, heavy rates, cattle disease, lack of agricultural education, high rents, unfair railway rates and foreign competition were mentioned as contributing to the Depression." Southgate: Page, 218.

(१) कृषि के सहायक उद्योगों को अपनाना—विदेशी प्रतियोगिता को देखते हुए इंगलैंड में खाद्यान्नों की खेती करना लाभदायक नहीं था। ऐसी परिस्थिति में कृषि व्यवसाय द्वारा नई दिशाएँ अपनाई गई जैसे—बागवानी, फल व तरकारी उत्पन्न करना, डेयरी व्यवसाय, भेड़ पालना और मुर्गे मुर्गी पालना आदि। लोगों ने खाद्यान्न बोना कम कर दिया फलस्वरूप ब्रिटेन जो अब तक गेहूँ में आत्मनिर्भर था अब ६० प्रतिशत गेहूं का आयात करने लगा। इस प्रकार खाद्यान्नों की पूर्ति के लिये ब्रिटेन परावलम्बी हो गया। देश में जन संख्या का केवल १० प्रतिशत भाग ही कृषि व्यवसाय में रह गया। वे भी अनाज के स्थान पर मांस, ऊन, फल-फूल, तरकारियां, दूध, मक्खन, पनीर और अण्डों का उत्पादन करने लगे।

(२) छोटे खेतों का पुनर्निर्माण—उपयुक्त वस्तुओं के उत्पादन में अधिक व्यक्ति तथा मजदूरों की आवश्यकता थी। गांवों में बहुत थोड़े व्यक्ति रह गये थे जो भी अकुशल थे। बड़े २ खेतों के कारण श्रमिकों का गाँव में कोई स्थान न था। अतः मजदूरों का अभाव था। कुशल मजदूरों को गाँवों में रोकने और बसाने के उद्देश्य से छोटे २ खेतों की स्थापना में रुचि ली जाने लगी। सरकार ने भी इस दिशा में कदम उठाये। सन् १८८७ में यह कानून बना कि स्थानीय अधिकारियों को यह अधिकार होगा कि वे बड़े भूमिपतियों से भूमि खरीद कर अथवा पट्टे पर लेकर छोटे २ कृषकों को दें। यह लगभग वैसा ही आन्दोलन था जैसा हम भारत में आज भूदान आन्दोलन के रूप में देखते हैं।

सन् १८६२ में बने एक अधिनियम के द्वारा जिला परिषदों को भूमि खरीदने, बाड़ाबन्दी करने, गृहों का निर्माण करने और प्रार्थियों को एक से पचास एकड़ भूमि बेचने का अधिकार दे दिया गया। इस अधिनियम को अधिक सफलता नहीं मिली क्योंकि जिला परिषदों को भूमि खरीद कर किसानों में बाँटना और भूस्वामियों को भूमि बेचना अनिवार्य नहीं था।

सन् १६०७ में लघु क्षेत्र और आवटन अधिनियम (Small Holdings & Allotment Act) पास हुआ जिसके अनुसार जिला परिषदों के लिये यह अनिवार्य कर दिया गया कि वे भूमिहीन व्यक्तियों के लिये भूमि का प्रबन्ध करें। इस प्रकार यह कानून अधिक सफल हुआ क्योंकि समितियों को अनिवार्य रूप में भूमि प्राप्त करने का अधिकार मिल गया था।

(३) अन्य सुधार—सन् १८८६ में कृषि बोर्ड की स्थापना हुई जिसका कार्य कृषि सम्बन्धि शिक्षा का निरीक्षण व निर्देशन करना था। सहकारिता के सिद्धान्त को अपनाया गया तथा भूमि और कृषि कार्य के लिये उदारतापूर्वक ऋण दिये जाने लगे। पशुओं के रोग की रोकथाम करने के लिये भी कई उपाय किये गये। उद्योग व व्यापार के साथ २ कृषि को भी संरक्षण प्राप्त हो गया। इन सब प्रयत्नों के फलस्वरूप १६१४ तक

इंग्लैंड की कृषि में पर्याप्त सुधार हो चुका था। यद्यपि उत्पादन की दृष्टि से इंगलैंड आत्म-निर्भर नहीं हो सका फिर भी संगठन एवं कुशलता की दृष्टि से ब्रिटेन का कृषि व्यवसाय फिर अपनी जड़ जमा चुका था।

III प्रथम महायुद्ध काल (१९१४-१९१८)

प्रस्तावना—उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में इंगलैंड में कृषि की दशा अच्छी न थी। शताब्दी के अन्त में कृषि का निम्न बिन्दु आ चुका था। किसानों ने यह अनुभव किया था कि उन्हें नवीन परिस्थितियों के अनुकूल बदल जाना चाहिये। खाद्य पदार्थों के आयात को रोकने की वे आशा नहीं कर सकते थे। अनाज का आयात बराबर हो रहा था। रेल मार्गों के विकास तथा जहाज रानी की उन्नति होने से सुदूरवर्ती खाद्यान्न देशों से बड़ी प्रतिस्पर्धा होने लगी थी। अनाज के अतिरिक्त बड़े पैमाने पर मांस, पनीर, फल आदि का आयात हो रहा था।

यद्यपि २० वीं शताब्दी के आरम्भ में सरकारी प्रोत्साहन से कुछ सुधार हुआ, परन्तु फिर भी कृषि आत्मनिर्भर न हो पाई। ब्रिटिश कृषि वर्ष में केवल १२० दिनों के लिये खाद्यान्न उत्पन्न कर पाती थी, शेष दिनों के लिये आयात पर निर्भर रहना पड़ता था। जमे हुए मांस के आयात के बाद भी पशु पालन इंगलैंड में लाभप्रद बना रहा क्योंकि यहां का मांस विदेशी मांसों से सर्वश्रेष्ठ था। इसके साथ दूध, अन्डे, मक्खन, पनीर, फल, तथा तरकारियों की मांग बराबर बढ़ रही थी। इस प्रकार प्रथम महायुद्ध के आरम्भ होने तक इंगलैंड की कृषि कम हो गई तथा उसका स्थान कृषि के सहायक उद्योगों ने ले लिया।

सन १९१४ में विश्व युद्ध के कारण कृषि में पुनर्जीवन के लक्षण दृष्टिगोचर हुए। विदेशों से आयात करना दुर्लभ हो गया था। खाद्य पदार्थों की मांग तथा मूल्य बढ़ने लगे। अतः अनाज उत्पन्न करने की आवश्यकता अनुभव की गई तथा कृषि के विकास के लिये अनुकूल वातावरण तैयार होने लगा। ऐसे स्थानों पर भी कृषि की जाने लगी जहां अब तक घास ही उत्पन्न की जाती थी।

१९१६ में खाद्य मंत्रालय स्थापित किया गया तथा एक खाद्य नियंत्रक की नियुक्ति की गई। प्रत्येक जिले में खाद्य समितियों की स्थापना हुई। खाद्य पदार्थ के उपभोग, उत्पादन, यातायात व संग्रह के सम्बन्ध में नियंत्रण लगाया गया। राशनिंग द्वारा मांग और वितरण व्यवस्था में कुछ सुधार हुआ किन्तु उत्पादन विशेष नहीं बढ़ सका।

१९१७ में अन्न उत्पादन कानून बनाया गया जिसके द्वारा गेहूं और जई के न्यूनतम मूल्य, खेतों के न्यूनतम लगान और श्रमिक के न्यूनतम वेतन निश्चित किये गये। इन कार्यों के लिये केन्द्रीय कृषि बोर्ड और वेतन समितियां नियुक्त की गईं।

IV द्वितीय महायुद्ध के पूर्व का काल (१९१९ से १९३७)

प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के बाद युद्ध के पूर्व सी सामान्य दशाओं के कारण ब्रिटिश कृषि फिर कठिनाई में पड़ गई। विदेशों से अतिरिक्त खाद्यान्नों का आयात प्रारम्भ हो गया। ब्रिटिश कृषि विदेशी प्रतिस्पर्धा का सामना करने में असमर्थ हो गई। इसका कारण सरकार की अबाध व्यापार नीति (Free Trade Policy) था। ब्रिटिश श्रमिकों की ऊँची वेतन दरों से भी कृषि लागत इंगलैंड में अधिक थी। परिणाम स्वरूप ब्रिटिश कृषि संकुचित होने लगी। कृषि की अपेक्षा पशु पालन अधिक लाभप्रद हो गया। दूसरी ओर राज्य की ओर से कृषकों को उपज के लिये न्यूनतम मूल्य की व्यवस्था थी, परन्तु मूल्य न्यूनतम दरों से भी नीचे गिर रहे थे। राज्य का उत्तरदायित्व होने के कारण सरकार को लाखों पौंड की हानि प्रति वर्ष हो रही थी।

अन्त में विश्व मन्दी से विवश हो कर १९२१ से अन्न के न्यूनतम मूल्यों (Minimum or floor prices) की गारन्टी दिए जाने की नीति का परित्याग करना पड़ा। सरकारी कृषि नीति के बारे में भारी मतभेद उत्पन्न हो गया राष्ट्रीय कृषक संघ ने कृषकों के लिये साख सुविधाओं तथा विदेशी प्रतिस्पर्धा से संरक्षण की माग की। मजदूर दल ने कृषक श्रमिकों के लिये उच्च मजदूरी तथा अन्य सुविधाओं की माग की। भूमि के राष्ट्रीयकरण की आवश्यकता पर भी जोर दिया गया। अतः कृषि की दशा में सुधार करना आवश्यक हो गया। कृषि की नवीनतम पद्धतियों, सहकारी क्रय विक्रय और मानवीय श्रम के स्थान पर यन्त्रों का अधिक प्रयोग हो गया।

कृषि की दशा सुधारने के लिये सन् १९२३ में कृषि साख विधान पास किया गया जिसके द्वारा उन कृषकों को जिन्होंने युद्धकाल में भूमि खरीदी थी दीर्घकालीन (Long term) ऋण देने की व्यवस्था की गई। इससे अनेक कृषकों को लाभ हुआ।

सन् १९२४ में कृषि वेतन समितियों की स्थापना की गई जिनका उद्देश्य कृषि श्रमिकों का वेतन निश्चित करना था। सन् १९२८ में एक दूसरा कृषि साख नियम पास हुआ जिसके अनुसार एक कृषि साख निगम की स्थापना की गई। इसके द्वारा उचित ब्याज पर लम्बी अवधि के लिये ऋण दिया जाता था।

इन सुधारों के अतिरिक्त कृषि उपज के लिये विपणन (Marketing) की भी समुचित व्यवस्था की गई। सन् १९३१ में Agricultural Marketing Act पास हुआ जिसके अनुसार विपणन बोर्ड विभिन्न पदार्थों के क्रय-विक्रय, उत्पादन और मूल्य निश्चित करने के लिये स्थापित किये जा सकते थे।

सन् १९३१ ब्रिटिश कृषि के इतिहास में महत्वपूर्ण वर्ष माना जाता है। इस वर्ष सरकार ने स्वतंत्र व्यापार नीति को त्याग दिया और संरक्षण की नीति अपनाई। सन् १९३२ के आयातकर अधिनियम के द्वारा—(१) आयातों पर प्रतिबन्ध

लगाया गया (२) विदेशों द्वारा ब्रिटिश माल के प्रति भेदभाव करने का समाधान बताया गया, और (३) सरकारी आय में वृद्धि की गई। इस अधिनियम से किसानों को बहुत लाभ हुआ परन्तु उनको कृषि यन्त्र और रसायनिक खाद पर अधिक कर देने पड़े। कृषि पदार्थों के उत्पादन में वृद्धि करने के लिये कृषकों को सरकार द्वारा धन के रूप में सहायता दी जाने लगी। परिणाम स्वरूप १९३७-३६ तक ब्रिटिश कृषि की दशा में पर्याप्त सुधार हो गया और कृषि पदार्थों के मूल्य कुछ बढ़ गये।

V. युद्धकालीन दशा (१९३९-१९४५)

द्वितीय महायुद्ध के समय ब्रिटेन में फिर खाद्य समस्या गंभीर हो गई। देश का उत्पादन घरेलू माग की पूर्ति के लिये अपर्याप्त था तथा बाहर से अनाज का आयात करना युद्ध के कारण कठिन हो गया। अतः १९१४ की भांति ही इंगलैंड को स्वयं की भूमि पर ही खाद्य पदार्थ उत्पन्न करने के प्रयत्न किये गये। इस समय ब्रिटिश कृषि की मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित थी:—

युद्धकालीन कृषि की विशेषताएं
(१) कृषि क्षेत्र का विस्तार
(२) कृषि पर सरकारी नियंत्रण
(३) कृषि श्रम की कमी

(१) कृषि क्षेत्र का विस्तार.—घास के मैदानों पर भी कृषि की जाने लगी यहां तक कि उपवन और गोल्फ (Golf) खेलने के मैदानों को भी कृषि योग्य भूमि में परिवर्तित कर लिया गया। कृषि योग्य भूमि का क्षेत्र दुगना हो गया। युद्धकाल में अच्छी फसलें हुई विशेषकर १९४२ व १९४३ में। युद्ध की समाप्ति तक कृषि क्षेत्र बढ़ने से १९३८ की तुलना में दुगुना गेहूँ तथा आलू उत्पन्न किया गया और चुकन्दर भी बड़ी मात्रा में उत्पन्न हुआ। चुकन्दर का उत्पादन बढ़ाने के लिये १९२५ से ही सरकार द्वारा आर्थिक सहायता देनी आरम्भ हो गई थी।

(२) कृषि पर सरकारी नियंत्रणः—किसानों को अपनी इच्छानुसार खेती करने की स्वीकृति नहीं दी गई। प्रत्येक जिले में कृषि समिति नियुक्त की गई जिसका कार्य किसानों को कृषि उपज के विषय में निर्देश देना था। समिति की आज्ञाओं का उल्लंघन करने या अनुचित कार्य करने वाले किसानों को भूमि से हटाया जा सकता था। कृषकों को यन्त्र व रासायनिक खाद देने की व्यवस्था की गई। इसके अतिरिक्त एक कृषि अनुसंधान परिषद तथा कृषि सुधार परिषद की भी स्थापना की गई।

(३) कृषि श्रम की कमीः—युद्ध के कारण श्रमिकों का अभाव हो गया। बहुत से सेना में भरती हो गये और महिलायें चिकित्सा अथवा सेवा कार्य में काम करने लगी। सेनिहर श्रमिकों के मजदूरी स्तर में वृद्धि हो गई। भूमि पर युद्ध बन्दियों और स्वयं सेवकों से काम लिया जाने लगा।

VI. वर्तमान दशा

युद्ध के पश्चात् यह अनुभव किया गया कि कृषि का पुनर्गठन किया जाय और युद्धकालीन दोषों को हटाया जाय। १९४९ में सरकार ने कृषि की स्थिति और राजकीय नीति प्रकाशित की और कृषि को एक सुसंगठित उद्योग बनाये रखने का लक्ष्य रखा। माग को नियंत्रित करने के लिये राशनिंग और मूल्य नियंत्रण (Price Control) की प्रणाली जारी रही।

सन् १९४७ में ब्रिटिश कृषि एक्ट पास किया गया जिसका प्रधान उद्देश्य—
(१) कृषि मूल्यों में स्थिरता (Price Stability) लाना,
(२) कृषि उत्पादन बढ़ाना,
(३) कृषि कुशलता में वृद्धि करना, और
(४) लोगों को भूमि दिये जाने की व्यवस्था करना था।

वर्तमान कृषि व्यवस्था की विशेषताएँ

ब्रिटेन एक घनी आबादी वाला औद्योगिक देश है परन्तु इसके साथ ही कृषि भी इसका एक महत्वपूर्ण उद्योग है। इसमें १० लाख व्यक्ति लगे हुए हैं अर्थात् जनसंख्या का ४% भाग इस उद्योग पर अवलम्बित है। कुल राष्ट्रीय आय का ४% कृषि से प्राप्त होता है और ४८० लाख एकड़ भूमि पर कृषि की जाती है। कुछ विशेषताएं निम्नलिखित हैं:—

वर्तमान कृषि व्यवस्था की विशेषताएं
(१) खेतों की संख्या
(२) भूस्वामित्व
(३) कृषि पद्धति
(४) उत्पादन
(५) यन्त्रीकरण
(६) सरकारी नीति

(१) खेतों की संख्या:—ब्रिटेन में पांच लाख से ऊपर खेत हैं। ७५% खेतों के आकार की सीमा ५० एकड़ तक है, १९% खेत १०० एकड़ तक और ३% खेत ३०० एकड़ या इससे अधिक के हैं। कृषि में लगे १० लाख व्यक्तियों में से ½ किसान हैं बाकी कृषि श्रमिक व कृषक परिवार हैं।

(२) भूस्वामित्व:—अधिकांश किसान भूमि के स्वामी हैं। किसानों को पशु, कृषि औजार आदि रखने का अधिकार है। १९५० की विश्व गणना के अनुसार इंगलैंड और वेल्स में ३६% खेतों के स्वामी किसान हैं, ४९% भूमि काश्तकारों को लगान पर दी गई है और १५% भूमि आधी किसानों की और आधी लगान की है। किसान अधिकतर विभिन्न संस्थाओं जैसे राष्ट्रीय कृषक संघ अथवा कृषि सहकारी समितियों के सदस्य हैं।

(३) कृषि पद्धति:—जलवायु और मिट्टी की विभिन्नता के कारण कृषि के ढंग भिन्न २ हैं। इंगलैंण्ड और वेल्स में २४५ लाख एकड़ भूमि पर कृषि होती है। मुख्य फसलें गेहूं, जौ, ज्वार, आलू आदि की होती हैं। ५० लाख एकड़ भूमि पर पशु पालन के लिये घास उत्पन्न की जाती है।

(४) उत्पादन:—द्वितीय विश्व युद्ध के पहले ब्रिटेन मे उसकी खाद्य पदार्थ की मांग का ३१% उत्पन्न होता था और १९५७ तक उत्पादन मांग का ४०% तक बढ़ गया। युद्ध से पूर्व ४५ % अनाज का इंगलैण्ड में आयात होता था जो १९५७ मे घट कर ३८% रह गया।

(५) यन्त्रीकरण:—ब्रिटेन की कृषि में विभिन्न यन्त्रो का प्रयोग अधिक प्रचलित है। वहां प्रति ३८ एकड़ पर एक ट्रैक्टर (Tractor) है। फसल साफ करने की मशीनो का अधिक प्रयोग होता है। इसके अतिरिक्त विद्युत यन्त्रो का प्रयोग अधिक लोकप्रिय होता जा रहा है। १९५८ मे इगलैण्ड मे ८६% किसानो को विद्युत शक्ति उपलब्ध की गई।

(६) सरकारी नीति:—द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् से विशेषरूप मे सरकार की रुचि कृषि व्यवसाय की ओर बढती चली गई है। सरकार को कृषि नीति के मुख्य उद्देश्य १९४७ के अधिनियम में दिये गये हैं। सरकार इस प्रयत्न में है कि ब्रिटेन मे कम से कम लागत पर उत्पादन हो, श्रमिको को उचित वेतन मिले और कृषि को अधिक लाभ मिले।

कृषि पदार्थों के उत्पादन में सुधार तथा पशु सम्पत्ति के विकास के लिये भी सरकार कदम उठा रही है। सन् १९५८ के कृषि बाजार अधिनियम के द्वारा मण्डल, सहकारी समितियों आदि की व्यवस्था की गई है। इसके अतिरिक्त दुग्ध वितरण, फल व तरकारी उत्पादन, पशु नस्ल सुधार आदि के प्रयत्न भी अधिनियम बनाकर किये जा रहे हैं। उत्पादन बढ़ाने के लिये विभिन्न रूप में कृषि सम्बन्धी कार्यों के लिये आर्थिक सहायता भी सरकार द्वारा दी जा रही है।

उपर्युक्त विवरण से यह ज्ञात होता है कि ब्रिटेन अपने कृषि उद्योग की उन्नति करने की भरसक चेष्टा कर रहा है। कृषि के विगत दुर्भाग्य पूर्ण समय से ब्रिटेन को उचित शिक्षा मिली है और अब कृषि के भावी विकास में सावधानी व सतर्कता व्यवहार में लाई जा रही है। अन्य देशों की अपेक्षा ब्रिटेन की कृषि आज वैज्ञानिक यंत्रों और प्रणालियों से कहीं अधिक सुसज्जित है।

सारांश (Summary)

कृषि क्रान्ति के कारण इंगलैंड की कृषि मे जो परिवर्तन और विकास हुआ उनका विधिवत अध्ययन निम्न कालो मे हो सकता है:—

(१) स्वर्ण युग (१८५०-१८७४)—कृषि में विभिन्न सुधार हुए—विभिन्न यन्त्रों का प्रयोग व फसलों के हेरफेर की प्रणाली आदि। कृषि सुधार और अनुसंधान के लिये विभिन्न समितियो की स्थापना हुई। कृषि प्रदर्शनियों व प्रतियोगिताओं का आयोजन,

कम ब्याज पर ऋण और कृषि आंकड़ों का प्रकाशन हुआ। रेलो ने कृषि के लिये विस्तृत बाजार खोल दिये। श्रमिको का वेतन बढ़ा और किसान अधिक समृद्ध हुए। बाहरी अनाज के महंगा होने से आन्तरिक व्यापार बढ़ा जिसका कृषि पर अनुकूल प्रभाव पड़ा। कृषि की इस अभूतपूर्व प्रगति के कारण यह काल स्वर्णयुग कहलाया।

(२) मन्दी का काल (१८७५-१९१४)—१८७३ के बाद ब्रिटिश कृषि में मन्दी आई जिसके कारण अति वृष्टि से फसलों का खराब होना, पशुरोग, उच्च सरकारी कर, कृषि प्रशिक्षण का अभाव, विदेशी प्रतियोगिता और रेलभाड़े में वृद्धि थे। मन्दी की जांच के लिये समितियां नियुक्त हुई—रिचमन्ड समिति १८८२, और दूसरी एवरस्ले (१८९३-९७)

मन्दी के कारण कृषि पदार्थों के मूल्य में कमी आगई, किसानो के लाभ समाप्त हो गये और श्रमिको के वेतन कम हो गये।

सुधार के प्रयत्नो में खाद्यान्नों की अपेक्षा अन्य कृषि व्यवसाय जैसे बागवानी, डेरी उद्योग, मुर्गा मुर्गी पालन अपनाये गये और छोटे खेतो के प्रोत्साहन के लिये सन् १८८७, १८९२ और १९०७ में अधिनियम बनाये गये जिनसे भूमिहीन व्यक्तियो को छोटे छोटे क्षेत्र मिलने लगे। अन्य सुधार कृषि शिक्षा का प्रसार, ऋण प्रदान करना और पशु नस्ल सुधार थे। १९१४ तक कृषि में पर्याप्त विकास हो गया।

(३) प्रथम महायुद्ध काल (१९१४-१९१८)—युद्ध के कारण विदेशी अनाज का आयात रुक गया। खाद्य पदार्थ की मांग व मूल्य में वृद्धि हुई। कृषि विकास के लिये कृषि क्षेत्र विस्तृत किया गया। १९१६ में खाद्य मंत्रालय स्थापित हुआ। १९१७ के अन्न कानून द्वारा अनाज के न्यूनतम मूल्य, न्यूनतम लगान व न्यूनतम वेतन निश्चित हुए। कृषि बोर्ड और वेतन समितियां नियुक्त हुई।

(४) द्वितीय महायुद्ध के पूर्व का काल (१९१९ से १९३७)—विदेशी अनाज का फिर आयात होने लगा। कृषि की अपेक्षा पशुपालन अधिक लाभदायक हो गया। कृषि की अवनति होने लगी। कृषि सुधार के लिये वैज्ञानिक यन्त्रो और तरीकों को अपनाया गया तथा सहकारी क्रय विक्रय आरम्भ हुआ। १९२३ के साख (Credit) अधिनियम के द्वारा ऋण देने की व्यवस्था की गई। १९२४ में वेतन निश्चित करने के लिये वेतन समितियों नियुक्त हुई। १९२८ मे दीर्घकालीन ऋण देने का प्रबन्ध किया गया। १९३१ में विपणन (Marketing) अधिनियम बना और मार्केटिंग बोर्ड स्थापित हुए। १९३२ मे स्वतन्त्र व्यापार की नीति के स्थान पर संरक्षण (Protection) की नीति अपनाई गई जिससे विदेशी अनाज के आयात पर प्रतिबन्ध लगा और कृषकों को लाभ हुआ।

(५) युद्धकालीन दशा (१९३८-१९४५)—खाद्यान्न की गंभीर समस्या उत्पन्न हुई। कृषि उत्पादन बढ़ाने के लिये कृषि क्षेत्र का विस्तार किया गया और कृषि क्रियाएं सरकारी नियंत्रण में की जाने लगी। परन्तु इस काल में सेना में चले जाने के कारण श्रमिकों का अभाव रहा।

(६) वर्तमान दशा—१९४७ में ब्रिटिश कृषि अधिनियम बना जिसका उद्देश्य कृषि उत्पादन बढ़ाना, मूल्यों में स्थिरता लाना और कृषि कुशलता में वृद्धि करना था। ब्रिटेन में ५ लाख से अधिक खेत हैं और ७५% खेत ५० एकड़ तक के हैं। भूस्वामित्व अधिकतर किसानों के पास है। मुख्य फसलें गेहूं, जौ, ज्वार, आलू आदि की हैं। अनाज की माग का ४०% इंगलैंड में उत्पन्न किया जाता है और १८% अनाज आयात किया जाता है। इंगलैंड में वैज्ञानिक और विद्युत (Electrical) यंत्रों का अधिक प्रयोग होता है। सरकार कृषि उद्योग के विकास में अधिक रुचि लेती है और आर्थिक सहायता भी प्रदान करती है।

प्रश्न

1. Describe the condition of British agriculture from 1850 upto the out break of the first world war.

१८५० से प्रथम महायुद्ध आरम्भ होने तक ब्रिटिश कृषि की दशा का वर्णन करिये।

2. Trace the history of English Agriculture from 1914 to 1939.

१९१४ से १९३९ तक ब्रिटिश कृषि के विकास का इतिहास वर्णन कीजिये।

3. Discuss the growth of British Agriculture in the later half of the 19th Century.

१९ वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ब्रिटिश कृषि की दशा बताइये।

4. Indicate the important reforms made in English Agriculture after 1939.

१९३९ के बाद ब्रिटिश कृषि में हुए सुधारों को बताइये।

5. How did England become a country of large farms? Explain why and with what success, attempts have been made in recent times there to recreate the small farm. (Raj. Uni. 1961).

इंगलैंड किस प्रकार बड़े खेतों वाला देश बना? वहाँ हाल ही छोटे खेतों के पुनर्निर्माण के प्रयत्न क्यों किये गये और उनको कितनी सफलता मिली? (राज० वि०, १९६१)।

अध्याय ५

प्रारम्भिक औद्योगिक स्थिति

(INDUSTRIAL POSITION IN THE PAST)

"The most noteworthy feature of medieval industry is the organisation of the work people in gilds." —Ogg & Sharp

प्राचीन काल में इङ्गलैंड में घरेलू औद्योगिक पद्धति (House hold system of Production) के अनुसार उत्पादन होता था। प्रत्येक वस्तु का उत्पादन घर पर ही किया जाता था अतः प्रत्येक व्यक्ति इस बारे मे स्वतन्त्र था। उस समय अधिक और कम उत्पादन का प्रश्न नहीं था जो कि वर्तमान समय की प्रमुख विशेषता है। बाजार का अस्तित्व नही था और पूँजी का नियोजन नहीं होता था।

मध्ययुग के प्रारम्भिक वर्षों से इङ्गलैण्ड तीन प्रकार की औद्योगिक व्यवस्थाओं से गुजर चुका है:—

(१) गिल्ड व्यवस्था (Gild System)

(२) डोमेस्टिक व्यवस्था (Domestic System)

(३) फैक्ट्री व्यवस्था (Factory System)

(१) गिल्ड व्यवस्था—(शिल्प संघ व्यवस्था)—उद्गम व विकास

मध्यकालीन उद्योग की सबसे अधिक महत्वपूर्ण विशेषता श्रमिकों का शिल्प संघों (Craft Gild) में संगठन था। इन संघों का उद्गम उस समय के लोगो की सामुदायिक व सहकारी प्रवृत्ति के कारण हुआ। इनका विकास प्रमुख रूप में दो प्रकार से हुआ —

(i) व्यापार संघ (Merchant Gild), और

(ii) कारीगर संघ (Craft gild)

व्यापार संघों का उद्गम कारीगर संघों से बहुत पूर्व हुआ था। प्रारम्भ में इन संघो में अल्प संख्या में व्यापारी सदस्य होते थे। १३ वी शताब्दी के समय इन संघो का अत्यधिक विकास हुआ। धीरे २ इनका नियन्त्रण स्थानीय संस्थाओ, नगरपालिकाओ व जिला बोर्डों पर हो गया। इस प्रकार ये प्रशासन व्यवस्था, व्यापार नियन्त्रण व नियमन में भाग लेने लगी।

व्यापार संघों के कार्य

(१) वस्तुओं के क्रय-विक्रय का मूल्य संघ द्वारा निर्धारित होता था।

> **व्यापार संघों के कार्य**
>
> १ मूल्य निर्धारण
> २ वस्तु की किस्म, मूल्य व तौल पर नियन्त्रण
> ३. विदेशी व्यापार पर नियन्त्रण
> ४. स्थानीय संस्थाओं के कार्य
> ५. आर्थिक सहायता, शिक्षा व चिकित्सा का प्रबन्ध
> ६. सामाजिक सुरक्षा

(२) वस्तुओं की किस्म, मूल्य, तौल पर संघ नियन्त्रण रखती थी। नियमों का उल्लंघन करने वालों को दण्डित किया जाता था।

(३) विदेशी व्यापार पर भी इन संघों का नियन्त्रण रहता था तथा विदेशियों पर कई प्रतिबन्ध लगाये जाते थे।

(४) नगर की स्थानीय सत्ताओं पर अधिकार रखने के कारण संघ स्वास्थ्य, सफाई आदि का भी प्रबन्ध करती थी।

(५) सदस्यों की आर्थिक सहायता करना व उनकी शिक्षा तथा चिकित्सा का प्रबन्ध करना।

(६) सदस्यों के आश्रित अपंग, वृद्ध, बेरोजगार व विधवा को आर्थिक सहायता देना।

(२) शिल्प संघ

इनका उद्गम १२ वीं व १३ वीं शताब्दी में हुआ। इन संघों के विकास के बारे में यह कहा जाता है कि व्यापारी संघों के समान ही कारीगरों ने पृथक संघ निर्माण किये। कुछ का कथन है कि व्यापारी संघों के सुविधा की दृष्टि से दो उप विभाग कर दिये गये। अन्य लोगों के मतानुसार यूरोप से इङ्गलैड आये कारीगरों द्वारा शिल्प संघ का निर्माण आरम्भ हुआ। इस प्रकार इन सब कारणों से ही इन संघों का जन्म हुआ। आरम्भ में सर्व प्रथम जुलाहों के संघ बने। इसके बाद अन्य कारीगरों के संघ भी स्थापित होने लगे।

शिल्प संघ एक नगर अथवा जिले के एक ही प्रकार के उद्योग में लगे हुए कारीगरों का संगठन था।* सामान्यत: एक नगर में कई संघ होते थे जैसे जुलाहों का, मोचियों का, रंगने वालों का संघ आदि।

* "A craftgild was an association of the artisans in a town or district engaged in the same occupation" Ogg & Sharp—Ibid, page 46.

संघ प्रवेश (Admission)

कोई भी कारीगर बिना शिल्प संघ का सदस्य बने अपना कार्य नहीं कर सकता था। प्रवेश पाने की शर्तें साधारण थीं— कार्य में कुशलता, प्रवेश फीस देने की तत्परता और संघ के नियमों के पालन करने को उद्यत होना।

कारीगरों का वर्गीकरण (Classification)—उस समय कारीगर तीन वर्गों में विभाजित थे:—

(i) मास्टर कारीगर (Master Craftsmen)

(ii) रोज पर काम करने वाले श्रमिक (Journeymen)

(iii) नवसिखुआ (Apprentice) या शिल्प शिष्य

मास्टर कारीगर की एक शिल्प शाला होती थी जिसमें वह अपने आधीन कारीगरों के साथ कार्य करता था। साधारण श्रमिक समय २ पर मजदूरी पर रखे जाते थे। शिल्प शिष्य वे युवक होते थे जो धन्धा सीखते थे। प्रशिक्षण का काल उद्योग व स्थान पर निर्भर करता था परन्तु बहुधा सात वर्ष का होता था। शिष्य को मजदूरी नहीं मिलती थी परन्तु वह मास्टर के परिवार के साथ रहता था। शिक्षा के बाद अधिकांश शिष्य मास्टर के आधीन श्रमिक के रूप में कार्य करते थे। कुछ समय उपरान्त पूंजी जुड़ने पर वे मास्टर के रूप में कार्य प्रारम्भ कर देते थे।

शिल्प संघ के उद्देश्य

(१) उद्योगों पर नियंत्रण:—इसका प्रधान कार्य उत्पादित वस्तुओं का निरीक्षण करना था जिससे उत्तम कोटि का माल ही बने। निम्न कोटि की वस्तुएं जप्त कर ली जाती थीं और उनके बनाने वालों को दण्डित किया जाता था और उनको संघ से निकाला भी जा सकता था। वस्तुओं के मूल्य भी संघ द्वारा निर्धारित किये जाते थे।

संघ के उद्देश्य
(१) उद्योगों का नियंत्रण
(२) उत्पादन का नियमन
(३) अन्य उद्देश्य— आमोद प्रमोद, पर्व उत्सव, धार्मिक कार्य, शिक्षा का प्रबन्ध, झगड़ों का निपटाना।

(२) उत्पादन का नियमन:—उत्पादन विभिन्न प्रकार से नियमित किया जाता था। नये सदस्यों की भर्ती आवश्यकता के अनुरूप सीमित रखी जाती थी। वार्षिक उत्पादन का परिमाण निश्चित किया जाता था। उत्पादन का उत्तम स्तर रखने के लिये रात्रि में कार्य वर्जित था। मजदूरी नियमित थी।

(३) अन्य उद्देश्य:—संघ एक सामाजिक इकाई था जिसके सदस्य आमोद प्रमोद, समारोह, पर्व आदि में सम्मिलित होते थे और अन्य सदस्यों के कष्ट में सहायता

करते थे। यह धार्मिक उत्सवों का आयोजन करता था और प्रारम्भिक शिक्षा का प्रबन्ध करता था। यह सदस्यों के हितों की रक्षा करता था, यान्त्रिक शिक्षा की व्यवस्था करता था, और उत्पादन का उच्च स्तर बनाये रखता था। सदस्यों के आपसी झगड़े संघ द्वारा निपटाये जाते थे।

गुण व दोष—

गुण—संघ के उद्देश्य देखने से उससे निम्न लाभ प्रकट होते हैं:—

(१) उत्पादन का उच्च स्तर
(२) सदस्यों के रोजगार की व्यवस्था
(३) उचित मजदूरी का आश्वासन
(४) सामाजिक सुरक्षा
(५) सामाजिक व धार्मिक कार्य
(६) विदेशी प्रतिस्पर्धा से रक्षा

दोष—परन्तु संघ दोषरहित नहीं थे। इसके मुख्य दोष निम्नलिखित थे:—

(१) एकाधिकार के दोष—अधिक मूल्य निर्धारण आदि।
(२) इसके कठोर नियमों के कारण साहस व उद्यम को प्रोत्साहन नहीं मिल पाता था।
(३) यह मजदूरी का निम्न स्तर निर्धारित करता था।
(४) संघ ने औद्योगिक व्यवस्था में उदासीनता को प्रोत्साहित किया।

संघ के पतन के कारण (Causes of Decline)

१५वी व १६वी शताब्दी में इस प्रथा का शीघ्रता से पतन आरम्भ हुआ जिसके निम्न कारण प्रमुख हैं:—

(१) प्रतिद्वन्दी संघों का निर्माण—संघ का स्वार्थपूर्ण व संकीर्ण नीति अपनाने के कारण विरोध होने लगा। मालिक और श्रमिकों में झगड़े होने लगे। मास्टर अपने आधीन श्रमिकों पर विभिन्न प्रकार के अत्याचार करने लगे जिससे उनके लिये स्वतन्त्र मास्टर बनने के अवसर कम हो गये। इन असन्तुष्ट श्रमिकों ने अपने हितों की रक्षा करने के लिये पृथक संघ स्थापित कर लिये।

संघ के पतन के कारण
(१) प्रति द्वन्दी संघों का निर्माण
(२) प्रवेश पर प्रतिबन्ध
(३) नगरों की वृद्धि
(४) पूंजीवादी संगठन
(५) सरकारी हस्तक्षेप

(२) प्रवेश पर प्रतिबन्ध—संघ के सदस्य बनने के लिये प्रवेश की कड़ी शर्तें निर्धारित की गई जैसे भारी प्रवेश फीस, निर्धारित पोशाक का पहनना व श्रमिक का मास्टर बनना निषिद्ध करना आदि।

(३) नगरों की वृद्धि—नये नगर जो संघों के नियंत्रण से मुक्त थे स्थापित होते गये जिनमे उद्योगों की उन्नति हुई।

(४) उद्योगों का पूंजीवादी संगठनः—संघ के अन्तर्गत लघुस्तरीय उद्योग में पूंजी का महत्व बहुत कम था। उद्योगो में अधिकाधिक पूंजी लगाने से संघो का पतन होता गया।

(५) सरकारी हस्तक्षेपः—१५ वीं शताब्दी के बाद सरकारी प्रतिबन्धों के कारण संघ की शक्ति क्षीण होती गई। सन् १५४७ में संघों की धार्मिक कार्यों में प्रयुक्त सम्पत्ति सरकार ने छीन ली। सन् १५६३ के अधिनियम द्वारा प्रशिक्षा का काल, कार्य के घन्टे आदि निर्धारित किये गये जिससे संघ के अधिकारों का हनन हुआ।

इस प्रकार कारीगर संघ जिनका मध्यकालीन औद्योगिक व्यवस्था में महत्व था नये २ परिवर्तनों व वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण समाप्त होते गये।

घरेलू पद्धति (Domestic System)

संघ के पतन के बाद एक नई औद्योगिक व्यवस्था विकसित हुई जो घरेलू पद्धति (Domestic System) कहलाती है यह परिवर्तन इतनी धीमी गति से हुआ कि इस पद्धति के उद्गम का कोई निश्चित समय देना कठिन है सामान्यत. सन् १४६४ में यह प्रथा प्रारम्भिक रूप से विकसित हुई।

इस पद्धति के अन्तर्गत उद्यमकर्त्ता या मैनेजर कारीगरों को कार्य देता था, जो उसके निवास स्थान पर कार्य करने की अपेक्षा अपने २ घरों पर कार्य करते थे। कभी २ कारीगर स्वयं का माल और औजार प्रयोग में लाते थे परन्तु अधिकतर कच्चा माल, या औजार अथवा दोनों ही का प्रबन्ध नियोक्ता करता था। श्रमिकों को औजार किराये पर दिये जाते थे और मजदूरी उनके उत्पादन की मात्रा के अनुसार दी जाती थी। इस पद्धति को प्रोत्साहन बाजार के विस्तार, जनसंख्या की वृद्धि, पूंजी के संचय व उद्यमी व्यक्तियों के प्रादुर्भाव से मिला। इस प्रथा की सबसे मुख्य विशेषता उद्यमी व्यक्ति का होना थी जो कारीगर न होकर एक व्यापारी था। इंगलैण्ड में यह घरेलू प्रणाली आरम्भ में सूती वस्त्र उद्योग में मुख्यकर विकसित हुई।

गुण व दोष

गुणः—

१ कृषकों को आर्थिक लाभ—कृषक केवल खेती से अपने परिवार का निर्वाह नहीं कर सकते थे क्योंकि कृषि से उनको सामान्य आय प्राप्त होती थी। इस पद्धति

घरेलू पद्धति के गुण
(१) कृषकों को आर्थिक लाभ ।
(२) स्त्री बच्चों को कार्य ।
(३) फैक्टरी दोषों का न होना ।
(४) कच्चे माल व औजार का प्रबन्ध ।

के अन्तर्गत वे बिना कृषि का धन्धा छोड़े, ऊन की कताई, बुनाई, साबुन बनाने, मिट्टी का बर्तन बनाने आदि कार्यों से अपनी आय बढ़ा सकते थे। वे अपनी इच्छानुसार कम अथवा अधिक कार्य कर सकते थे और उनके अवकाश के समय का सदुपयोग हो सकता था।

(२) स्त्री व बच्चों को कार्य—इस पद्धति के अन्तर्गत कार्य श्रमिक अपने घर पर करते थे अतः परिवार के सभी सदस्य स्त्री बच्चों सहित कार्य में हाथ बटा सकते थे जिससे परिवार की आय में वृद्धि हो जाती थी।

(३) फैक्टरी पद्धति के दोषों का न होना—श्रमिक गाँवों में रह कर कार्य करने को स्वतन्त्र थे जिससे वे वर्तमान फैक्टरी पद्धति के अस्वस्थ वातावरण व गन्दी बस्तियों से बचे रहते थे।

(४) कच्चे माल व औजार की चिन्ता से मुक्त—अधिकतर नियोक्ता द्वारा कच्चा माल और औजार श्रमिकों को दिये जाते थे जिसके कारण इनको जुटाने की चिन्ता श्रमिकों को नहीं रहती थी।

दोषः—

(१) श्रमिकों की स्वतन्त्रता का हनन—श्रमिक को कच्चे माल व औजार की पूर्ति के लिये नियोक्ता पर निर्भर रहना पड़ता था। उनकी मजदूरी और कार्य की दशा नियोक्ता द्वारा निर्धारित होती थी। जिनको उसे स्वीकार करना पड़ता था।

दोष
(१) श्रमिक स्वतन्त्रता का हनन
(२) अन्य—समय नष्ट होना व्यक्तिगत सम्पर्क का अभाव
(३) स्त्रियों व बच्चों का शोषण—

(२) अन्य दोष—श्रमिक और नियोक्ता के बीच व्यक्तिगत सम्पर्क नहीं रहता था। अधिकतर नियोक्ता दूर नगरों में रहते थे और श्रमिकों को कच्चा माल लाने और निर्मित माल ले जाने में अधिक समय व्यर्थ ही नष्ट करना पड़ता था। स्त्रियों व बच्चों के कार्य करने से उनके स्वास्थ्य पर प्रभाव पड़ता था।

संक्षेप में इस प्रथा के कुछ स्पष्ट लाभ होते हुए भी इसके द्वारा श्रमिकों का शोषण ही अधिक हुआ। अतः सरकार को श्रमिकों के हित के लिये हस्तक्षेप करना पड़ा। इसके अतिरिक्त उत्पादन की क्रियाओं में अनेक आविष्कार और सुधार भी आरम्भ होने लगे। परिणाम स्वरूप घरेलू पद्धति (Domestic Cottage Revenue) का पतन होने लगा।

सारांश (Summary)

प्राचीन काल में घरेलू औद्योगिक पद्धति प्रचलित थी—बाजार व पूंजी अज्ञात थे। वस्तुओं का उत्पादन घर पर होता था। मध्ययुग से इंगलैंड में ३ प्रकार की औद्योगिक व्यवस्था थी:—

(१) शिल्प संघ (२) घरेलू पद्धति (३) फैक्टरी व्यवस्था।

शिल्प संघ—उद्गम सामुदायिक व सहकारी प्रवृति के कारण हुआ। दो प्रकार के—(i) व्यापार संघ, और (ii) कारीगर संघ—व्यापार संघ के कार्य वस्तुओं की किस्म, मूल्य व तौल पर नियन्त्रण रखना, विदेशी व्यापार पर प्रतिबन्ध लगाना, स्थानीय संस्थाओं के कार्य करना, आर्थिक सहायता देना, शिक्षा तथा चिकित्सा का प्रबन्ध करना और सामाजिक सुरक्षा प्रदान करना आदि थे।

कारीगर संघ—सर्व प्रथम जुलाहों के संघ बने तत्पश्चात् अन्य कारीगरों के। संघ में प्रवेश पाने के लिये कार्य में कुशलता, प्रवेश फीस देना और संघ के नियम पालन करना आवश्यक थे।

कारीगर तीन वर्गों में विभाजित थे:—

(१) मास्टर कारीगर—स्वयं की शिल्पशाला, आधीन श्रमिकों द्वारा कार्य।

(२) जरनी मेन—साधारण श्रमिक जो मजदूरी पर कार्य करते थे।

(३) शिल्प शिष्य—धन्धा सीखने वाले—प्रशिक्षण काल बहुत लम्बा सात वर्ष। शिक्षा बाद साधारण श्रमिक तथा पूंजी जुड़ने पर मास्टर कारीगर बनना।

शिल्प संघ के उद्देश्य—संघ के मुख्य उद्देश्य उद्योगों पर नियन्त्रण करना जिससे उत्तम प्रकार का माल बने, मूल्य व मजदूरी निर्धारित करना, उत्पादन की मात्रा निश्चित करना, धार्मिक उत्सवों का आयोजन करना, शिक्षा का प्रबन्ध करना और सदस्यों के झगड़ों का निपटारा करना, आदि थे।

संघ के लाभ—संघ के अनेक लाभ थे—जैसे उत्पादन का उच्च स्तर, रोजगार मिलना, उचित मजदूरी व मूल्य निर्धारण, सामाजिक सुरक्षा, धार्मिक उत्सव तथा विदेशी स्पर्द्धा से रक्षा आदि।

संघ के दोष—संघ के दोषों में मुख्य थे—अधिक मूल्य निर्धारण, कठोर नियम, मजदूरी का निम्न स्तर और कार्य में कारीगरों की अरुचि आदि।

संघ के पतन के कारण—असन्तुष्ट श्रमिकों द्वारा प्रतिद्वन्दी संघों का निर्माण, संघ-प्रवेश के कड़े प्रतिबन्ध, संघ मुक्त नगरों की वृद्धि, उद्योगों का पूंजीवादी संगठन, तथा सरकारी हस्तक्षेप आदि संघ की अवनति के कारण थे।

घरेलू पद्धति (Domestic System)—१४६४ से यह पद्धति आरम्भ हुई। इसके अन्तर्गत नियोक्ता कारीगरों को कच्चा माल व औज़ार देता था और श्रमिक अपने घरों पर उत्पादन का कार्य करते थे। उत्पादन की मात्रानुसार मजदूरी दी जाती थी। यह प्रथा सूतीवस्त्र उद्योग में सबसे पहले आरम्भ हुई।

लाभ—इस प्रथा के कारण कृषक कृषि के साथ २ अन्य सहायक उद्योगों से अपनी आय में वृद्धि कर सका। घर पर ही कार्य होने के कारण स्त्री व बच्चे भी परिवार की आय बढ़ाने में सहयोग देते थे। श्रमिक गाँव के स्वच्छ वातावरण में रहता था और गन्दी बस्तियों से बचा रहता था। श्रमिक कच्चे माल व औज़ार की चिन्ता से मुक्त रहता था क्योंकि इनका प्रबन्ध नियोक्ता करता था।

दोष—मजदूरी और कार्य की दशा नियोक्ता निर्धारित करता था जिससे श्रमिकों को स्वतन्त्रता नहीं थी ? उनके बीच व्यक्तिगत सम्पर्क नहीं रहता था। स्त्रियों व बच्चों का शोषण होता था व माल लाने लेजाने में व्यर्थ समय नष्ट होता था।

प्रश्न

1. Discuss the main objects of Craft Gilds. What were the causes of their decline ?

शिल्प संघ के मुख्य उद्देश्य बताइये। उनकी अवनति के क्या कारण थे ?

2. Describe the main features of Domestic System

घरेलू पद्धति की मुख्य विशेषताएं बताइये।



अध्याय ६

औद्योगिक क्रान्ति

(INDUSTRIAL REVOLUTION)'

"The term Industrial Revolution does not mean rapid change but it does ultimately mean a fundamental change in the character of a country." —Knowles.

सन् १७६० में इंगलैण्ड के आर्थिक क्षेत्र में विभिन्न परिवर्तन होने लगे जिन्होंने वहां के आर्थिक जीवन में उथल पुथल मचा दी। इन परिवर्तनों के अध्ययन करने से पूर्व वहां की औद्योगिक क्रान्ति से पहले की आर्थिक अवस्था का विचार करना आवश्यक है।

औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व आर्थिक अवस्था

१८ वी शताब्दी के मध्य तक ग्रेट ब्रिटेन एक कृषि प्रधान व व्यापारिक देश था न कि औद्योगिक देश। नगरों की संख्या बहुत कम थी और वे बहुत छोटे थे। लगभग ८०% जनसंख्या गांवों मे रहती थी और जीविकोपार्जन के लिये मुख्यतः कृषि पर निर्भर थी।

कृषि:—कृषि की साधारण अवस्था थी तथा कृषि कार्य प्रचलित रीतिरिवाज और परम्परा के अनुसार होता था। खेतों का आकार छोटा था और कृषि सामूहिक रूप से की जाती थी। १७१० से १७६० तक बाड़ाबन्दी का प्रचलन था जिसके अनुसार खेत के तीन टुकड़ों मे से एक को प्रतिवर्ष खाली छोड़ दिया जाता था जिससे वह अपनी उर्वराशक्ति फिर से प्राप्त कर ले। फसलें बहुत थोड़ी थी तथा हेर फेर की प्रथा का ज्ञान न था। कृषि के यन्त्र पुराने तथा परम्परागत थे।

चारागाह जन साधारण के लिये थे। इनमे सबको अपने मवेशी चराने का अधिकार था। परन्तु इन पर अधिकार सामूहिक न थे।

उद्योग.—अधिकांश बड़े उद्योग आरम्भ नही हुए थे। अधिकतर उत्पादन देहातों में घरेलू पद्धति के अनुसार छोटे पैमाने पर होता था। सब से महत्वपूर्ण उद्योग ऊन का था जिसके प्रमुख केन्द्र—नारविच, मेडस्टोन और साउथेम्पटन थे। दूसरा मुख्य उद्योग लोहे का था जो लगभग साउथवेल्स मे ही केन्द्रित था। लोहा पहले लकड़ी के कोयले द्वारा पिघलाया जाता था परन्तु अब कोयले से उत्पन्न कोक से। कपडे उद्योग का भी विकास हो रहा था परन्तु यह अधिक महत्वपूर्ण नही था। इसके केन्द्र लंकाशायर, मैनचेस्टर व बोल्टन थे। सूत कातने और बुनने का कार्य गांवों में होता था। बच्चे

घुनाई का कार्य करते थे, स्त्रियां रूई से तार कातती थी और पुरुष हाथ कर्घों पर कपड़ा बुनते थे। उद्योग का संचालन वस्त्र व्यापारी के हाथ मे था जो शहर मे रहता था। धुलाई, रगाई, छपाई शहरो मे होती थी। इसके अतिरिक्त सिल्क तथा होजरी उद्योग के विकास की ओर भी ध्यान दिया जा रहा था।

व्यापार यातायातः—व्यापार अधिक विस्तृत न था। अधिकतर मेलो मे व्यापार होता था। जहाजों के निर्माण के कारण व्यापार उन्नति करने लगा। व्यापार सतुलन में उदार नीति अपनाई गई थी जिसके अनुसार निर्यात व आयात दोनों को ही महत्व दिया जाता था।

यातायात के साधन विकसित नही थे। सड़को की दशा बहुत हीन थी और एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने मे बहुत समय लगता था। सन् १७६० के आस पास नहरों द्वारा कुछ यातायात होता था। औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व इंगलैंड की दशा का वर्णन संक्षेप में हम जी डी एच. कोल के शब्दो में कर सकते हैं "इंगलैंड एक व्यापारिक दृष्टि से उन्नत तथा औद्योगिक प्रगति में उत्साह देने वाला राष्ट्र था, न कि औद्योगिक दृष्टि से उन्नत एवं व्यापारिक खोज करने वाला राष्ट्र।" *

औद्योगिक क्रान्ति

सन् १७५० से १८५० के समय ब्रिटेन में आर्थिक क्षेत्र में महान परिवर्तन हुए। ये परिवर्तन इतने महत्वपूर्ण और विस्तृत थे कि उनको 'औद्योगिक क्रान्ति' कहा जाता है। सन् १७६० इंगलैण्ड के इतिहास में एक महत्वपूर्ण वर्ष माना जाता है क्योंकि इसके पश्चात ही से औद्योगिक क्रान्ति का सूत्रपात हुआ। जिस प्रकार राजनैतिक क्रान्ति शासन में पूर्ण परिवर्तन को, कृषि क्रान्ति कृषि तरीको में परिवर्तन को तथा सामाजिक क्रान्ति समाज के विभिन्न वर्गो में परिवर्तन को कहते हैं, उसी प्रकार औद्योगिक क्रान्ति औद्योगिक प्रणाली में परिवर्तन को कहा गया है। इन परिवर्तनो के कारण दस्तकारी के स्थान पर मशीनो से कार्य होने लगा और घरेलू उत्पादन के स्थान पर कारखानो में उत्पादन होने लगा। क्रान्ति का उद्देश्य विश्व व्यापी मन्डी की पूर्ति के लिये सस्ता और प्रचुर मात्रा मे उत्पादन करना था।

अर्थ—क्रान्ति का सामान्यतः अर्थ रक्तरंजित विद्रोह या विप्लव अथवा हिंसात्मक विस्फोट से लिया जाता है, जैसे १७८९ की फ्रांस-क्रान्ति अथवा १९१७ की रूस क्रान्ति। यदि हम इस काल में हुए इंगलैंड के आर्थिक परिवर्तनो का अर्थ इसी दृष्टिकोण से लगाते हैं तो उन्हे क्रान्ति कहना अनुचित होगा क्योंकि वहाँ उक्त काल मे कोई खूनी विद्रोह नहीं हुआ। अतः ऐसे शान्त और सुव्यवस्थित परिवर्तनो को, जो इंगलैंड में

* 'British Industrial Trade' (Past, Present and Future)-G. D. H. Cole.

१८५० तक शनैः शनैः होते रहे, यदि हम क्रांति के स्थान पर "क्रमिक विकास" कहे तो अधिक उपयुक्त होगा। परन्तु फिर भी बड़े बड़े विद्वानो ने इन परिवर्तनों के लिये "औद्योगिक क्रान्ति" शब्द का ही प्रयोग किया है। इस शब्द का प्रयोग सर्व प्रथम अरनोल्ड टोयनबी ने सन १८८४ में किया था, यद्यपि इसके पूर्व फ्रांसीसी लेखक ब्लान्की ने १८३७ मे इसका प्रयोग किया और तत्पश्चात् जेवन्स, एंजिल्स और कार्ल मार्क्स ने भी ऐसा किया। इसका कारण यह है कि औद्योगिक क्षेत्र में हुए इन परिवर्तनों के परिणाम इतने महत्वपूर्ण थे कि उन्होने इंगलैंड के आर्थिक क्षेत्र के प्रत्येक अंग में एक प्रकार की क्रान्ति उत्पन्न कर दी।

यद्यपि उस समय के लोगों को कदाचित इस बात का आभास नही हुआ कि असाधारण परिवर्तन हो रहे हैं किन्तु फिर भी ये परिवर्तन इतने महत्वपूर्ण थे कि इन्होने न केवल उद्योगो में ही बल्कि कृषि, व्यापार एवं यातायात में भी आश्चर्यजनक क्रान्ति उत्पन्न कर दी। जिस प्रकार क्रान्ति के पश्चात् प्राचीन व्यवस्था के स्थान पर नवीन व्यवस्था का जन्म होता है उसी प्रकार औद्योगिक क्रान्ति के बाद इंगलैंड में जिस नई आर्थिक व्यवस्था का जन्म हुआ वह प्राचीन से नितान्त भिन्न थी। यही नही, इंगलैंड की इस क्रान्ति का विश्व के अन्य देशो की आर्थिक व्यवस्था पर भी गहरा और निश्चित प्रभाव पड़ा। अतः इसे क्रान्ति कहना ही उचित होगा। नॉलिस (Knowles) के अनुसार, "इसे क्रांति इसलिये नहीं कहा जाता कि जो परिवर्तन हुए वे बड़ी शीघ्रता से हुए, बल्कि इसलिये कहा जाता है कि जो परिवर्तन हुए वे महत्वपूर्ण या क्रांतिकारी थे।" *

इंगलैंड में औद्योगिक क्रान्ति सर्व प्रथम होने के कारण
(Why Industrial Revolution took place first in England)

जैसे औद्योगिक क्रान्ति ग्रेट ब्रिटेन में हुई वैसे ही अन्य देशो में भी हुई। परन्तु ब्रिटेन अन्य देशों का अग्रणी रहा। इसके निम्नलिखित कारण थेः—

---

*"The term 'Industrial Revolution' is used, not because the process of the change was quick, but because when accomplished the change was fundamental"—'Industrial and Commercial Revolutions in Great Britain during the 19th Century'—by Knowles.

(१) प्राकृतिक गुण (Natural Advantages)—अनेक प्राकृतिक सुविधाओं के कारण इंगलैंड औद्योगिक क्रान्ति के लिये अधिक उपयुक्त था। (i) उसकी भौगोलिक स्थिति अति उत्तम है। इसके एक ओर यूरोप के देश हैं और दूसरी ओर अटलांटिक महासागर के उस पार अमेरिका का धनी देश है। इंगलिश चैनल द्वारा यूरोप से पृथक होने के कारण यह स्थानीय आक्रमणों से सुरक्षित रहा है। स्वेज नहर के खुल जाने से यह एशिया के भी निकट आ गया इस प्रकार यह देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का केन्द्र बन गया।

औ० क्रान्ति के कारण
१. प्राकृतिक गुण
(i) भौगोलिक स्थिति
(ii) जलवायु
(iii) समुद्रतट
(iv) प्राकृतिक साधन
२. प्रचुर पूंजी
३. राजनैतिक स्थायित्व
४. दास वृत्ति की समाप्ति
५. श्रमिकों की सुलभता
६ स्थानीय करों से मुक्त
७. यातायात के साधन
८. विस्तृत व्यापार क्षेत्र
९. जनसंख्या की कमी
१०. आविष्कार
११. सरकारी नीति
१२. अन्य कारण

(ii) अनुकूल जलवायु—यहाँ की जलवायु समशीतोष्ण है। न यहाँ कडु सर्दी होती है और न विषम गर्मी। जलवायु की यह समता यहाँ के निवासियों को कठिन शारीरिक और बौद्धिक परिश्रम के लिये प्रेरित करती रही जिसके फलस्वरूप विभिन्न आविष्कार सर्वप्रथम इंगलैंड में ही हुए। जलवायु के अनुकूल होने से ही यहाँ महीन व उत्तम प्रकार का सूती वस्त्र का उत्पादन सम्भव हुआ।

(iii) समुद्रतट (Coast line):—यहाँ के समुद्रतट की लम्बाई ७००० मील है और यह इतना कटा फटा है कि सुरक्षित खाड़ियाँ बन गई हैं जिनमें अनेक विश्व-विख्यात प्राकृतिक बन्दरगाह हैं। देश का कोई भाग समुद्र से ८० मील से दूर नहीं है। इसी कारण यहाँ का जहाजी बेड़ा (Navy) भी उन्नति कर गया। जहाज निर्माण उद्योग और मत्स्य व्यवसाय (Fishing) भी यहाँ अधिक विकसित हो सके।

(iv) प्राकृतिक साधन (Natrual Resources):—इङ्गलैंड में प्राकृतिक साधन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थे। कोयले और लोहे का इङ्गलैंड के औद्योगिक विकास में महत्वपूर्ण भाग रहा है। इन दोनों खनिज पदार्थों के साथ २ पाये जाने के कारण कारखानों की स्थापना सरल हो गई जो औद्योगिक क्रान्ति के विशिष्ट अंग बन गये।

(२) पूंजी की प्रचुरता (Abundance of Capital):—ब्रिटेन में परिस्थितियाँ पूंजी संग्रह के पक्ष में थीं। औद्योगिक विस्तार के लिये प्रचुर पूंजी की आवश्यकता थी

जिसकी पूर्ति बड़ी २ कम्पनियों की स्थापना द्वारा हुई। विदेशी व्यापार से प्राप्त धन उद्योगों में लगाने के लिये उपलब्ध था। धार्मिक प्रवृत्तियों ने संयम और मितव्ययता को प्रोत्साहित किया था जिससे पूंजी का संचय हुआ। इस पूंजी की प्रचुरता के कारण ही वहाँ बैंकिंग व्यवसाय का विकास हुआ जिसने वहाँ नये २ उद्योगों की स्थापना में सहायता दी। सन् १६९४ में बैंक ऑफ इङ्गलैंड स्थापित हुआ जिसने अन्य बैंकों के विकास में सहयोग दिया। साहसी प्रवृत्ति के ब्रिटिश व्यापारियों ने नये आर्थिक कार्यों में रुपया लगाने की जोखिम उठाई जिसके कारण वहां आर्थिक क्रान्ति हुई।

(३) राजनैतिक स्थायित्व (Political Stability):—राजनैतिक स्वतन्त्रता और आन्तरिक शान्ति इस देश के जीवन की एक विशेषता रही है। यह देश यूरोप का एक भाग होते हुए भी इंगलिश चैनल द्वारा यूरोप से पृथक रहा है। यही कारण था कि जब महाद्वीप के अन्य देश गृह युद्धों एवं बाहरी आक्रमणों से आतंकित रहे तब इंगलैंड इनसे बिल्कुल वंचित रहा और इसको व्यापार व उद्योग का विकास करने का अवसर मिल गया। १६८८ के बाद इङ्गलैंड के संविधान में जो सिद्धान्त सम्मिलित किये गये उनको यूरोप में १९ वीं शताब्दी तक नहीं अपनाया गया। वालपूल (Walpole) की कुशल नीति ने देश की सम्पन्नता बढ़ाई जिससे राजनैतिक शान्ति के साथ २ वित्तीय स्थायित्व भी प्राप्त हुआ। यद्यपि ब्रिटेन को १८ वीं शताब्दी के महायुद्धों में भाग लेना पड़ा था किन्तु ये युद्ध महाद्वीप पर या समुद्र पर अथवा अन्य देशों में लड़े गये थे और इस देश को आक्रमणों से बचे रहने के कारण औद्योगिक विकास का अवसर मिल गया।

(४) दास प्रवृत्ति की समाप्ति (Freedom from Serfdom):—१६ वीं शताब्दी के अन्त से ही इङ्गलैंड में दासवृत्ति अदृश्य हो गई जिससे वहां के लोग व्यक्तिगत स्वतंत्रता का आनन्द उठा सके। वास्तव में औद्योगिक विकास के लिये सब देशों में दासता का अन्त आवश्यक था। दास प्रथा यूरोप के विभिन्न देशों में १९ वीं शताब्दी तक चलती रही जिससे इन देशों के औद्योगिक विकास में बाधा पहुँची। इङ्गलैंड में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता होने के कारण औद्योगिक प्रगति में सुविधा हुई।

(५) श्रमिकों की सुलभता (Availability of Labourers):—मैनोरियल प्रथा की समाप्ति के फलस्वरूप गाँवों के निराश्रित लोग नगरों में आकर बस गये थे। अतः उद्योगों में श्रमिकों को कार्य मिलता गया और श्रमिकों की कमी प्रतीत नहीं हुई।

(६) आन्तरिक स्थानीय कर से मुक्ति (Freedom from Inland Tariff Barriers):—इङ्गलैंड में आन्तरिक स्थानीय कर नहीं लगे हुए थे जिससे देश के आन्तरिक व्यापार में वृद्धि हुई। इसके विपरीत फ्रांस व जर्मनी में विभिन्न प्रकार के स्थानीय कर लगे हुए थे जिसके कारण वहाँ व्यापार में बाधाएं उत्पन्न हुई।

(७) यातायात के साधनों का होना (Means of Transport):—आन्तरिक जल यातायात का विकास वहाँ की नौका वहन योग्य नदियो द्वारा हुआ जिससे विदेशों से आया कच्चा माल कारखानो तक पहुँचना सम्भव हुआ और निर्मित माल समुद्रतट तक भेजना सुलभ हो गया। सड़कों और नहरो के विकास के साथ २ आन्तरिक व्यापार भी बढता गया।

(८) व्यापार क्षेत्र का विस्तार (Wide spread Trade):—सन् १७६० के बाद इङ्गलैंड का शासन कई महाद्विपीय देशों मे स्थापित हो चुका था और उसके उपनिवेशों के बाजार उसके हाथ में आते जा रहे थे। इन देशों से कच्चा माल प्राप्त करने और इङ्गलैंड में निर्मित माल वहाँ बेचने की सम्भावनाएँ बढ़ गई थीं। यूरोप के अन्य देशो मे ऐसी परिस्थितियाँ नही थीं। इङ्गलैंड ने इन परिस्थितियों का लाभ उठाया जिसके कारण सर्व प्रथम वहाँ उद्योगो का विकास हुआ।

(९) बढते हुए विदेशी व्यापार के लिये जनसंख्या की कमी (Small Population for growing Export Trade):—इङ्गलैंड की जनसंख्या कम थी जब कि उसका विदेशी व्यापार बढ़ता जा रहा था। ऐसी स्थिति में मशीनो का उपयोग अनिवार्य हो गया क्योंकि इतने अधिक श्रमिक नही थे कि बढ़ती हुई मांग की पूर्ति हस्त उत्पादन (Hand work) द्वारा हो सके। इङ्गलैंड मे ३२ मिलियन पौंड का विदेशी व्यापार करने के लिये केवल ९ मिलियन व्यक्ति थे जब कि फ्रांस में ४० मिलियन पौंड के विदेशी व्यापार के लिये २६ मिलियन व्यक्ति थे।

(१०) आविष्कार (Inventions):—स्वचालित या शक्ति चालित यन्त्रों के आविष्कार सर्वप्रथम इङ्गलैंड मे ही हुए जैसे—जेम्स वाट द्वारा वाष्प चालित इन्जिन, आर्कराइट द्वारा वाटर फ्रेम तथा हारग्रीव द्वारा सूत कातने का यन्त्र आदि। इन आविष्कारो ने विभिन्न उद्योगो में अभूतपूर्व परिवर्तन किये और उत्पादन के लिये मशीनों का प्रचलन होता गया।

(११) सरकारी नीति (Govt. Policy):—ब्रिटिश सरकार ने भी वहाँ के उद्योग धन्धो के विकास में आर्थिक सहायता दी तथा उद्योगो को संरक्षण (Protection) प्रदान किया। फ्रांस की वस्तुओ [redacted] आयात बन्द कर दिया गया और सन् १७६६ मे फ्रांस निर्मित रूमाल रखने पर एक ब्रिटिश महिला पर २० पौंड का जुर्माना किया गया। आविष्कारो के पेटेंट कराने की सुविधाएं दी गई और रॉयल सोसायटी ऑफ आर्टस् ने आविष्कारो को उत्साहित किया।

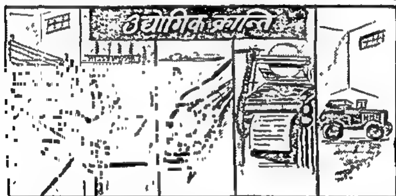
(१२) अन्य कारण (Other Causes):—ब्रिटिश जहाजरानी इतनी कुशल थी कि वहाँ का निर्मित माल समुद्र पार के सुदूर देशो को बड़ी सुविधापूर्वक भेजा जा सकता था। यूरोप के अन्य राष्ट्र युद्ध मे व्यस्त रहने के कारण औद्योगिक विकास में

इङ्गलैण्ड से प्रतिस्पर्धा करने में असमर्थ थे। इङ्गलैण्ड में प्रमुख विशिष्ट वस्तुओं का उत्पादन होने लगा था, मुख्यकर सूती व ऊनी वस्त्र जिससे औद्योगिक प्रगति को बल मिला। कुछ लोगों का यह भी कथन है कि इंगलैण्ड के औद्योगिक विकास का एक कारण ईस्ट इण्डिया कम्पनी के व्यापारियों द्वारा बंगाल की लूट थी। भारत की सम्पदा इङ्गलैण्ड की ओर जाने से वहाँ बड़े २ औद्योगिक केन्द्र स्थापित हुए तथा विभिन्न आविष्कार हुए।

उपरोक्त कारणों से स्पष्ट है कि ब्रिटेन की परिस्थितियाँ तथा वातावरण अन्य देशों से भिन्न था जिससे कि औद्योगिक क्रांति सर्व प्रथम इङ्गलैंड में ही हुई।

औद्योगिक क्रांति की विशेषताएं (Salient Features of Industrial Revolution)

औद्योगिक क्रांति सर्वप्रथम इन्जिनियरिंग उद्योग में आरम्भ हुई और फिर लोहइस्पात, कोयला, सूती ऊनी वस्त्र, रंग रसायन और यातायात में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए।



औद्योगिक क्रांति की निम्नलिखित मुख्य विशेषताएं हैं:—

(१) उत्पादन की क्रियाओं में सुधार (Improvement in the technique of Production)—औद्योगिक उत्पादन के दोषपूर्ण प्राचीन तरीकों के स्थान पर नये वैज्ञानिक तरीकों को अपनाया गया। घरेलू प्रथा के स्थान पर विशाल कारखाने स्थापित किये गये जिनमें शक्ति संचालित यन्त्रों का प्रयोग किया जाने लगा। यन्त्रीकरण के कारण उत्पादन बड़े पैमाने पर किया जाने लगा। फलस्वरूप वस्तुओं का मूल्य कम हो गया।

(२) शक्ति के साधनों का विकास (Development of Power)—जल शक्ति के उपयोग के साथ २ वाष्प इन्जिनों का भी प्रयोग होने लगा। वाष्प शक्ति (Steam Power) पानी तथा कोयले की सहायता से निर्मित होती थी।

(३) औद्योगिक संगठन (Industrial organisation)—उद्योगों का संगठन वैज्ञानिक तरीकों से किया जाने लगा। श्रम विभाजन (Division of Labour) तथा

विशिष्टिकरण (Specialisation) पर जोर दिया जाने लगा। नये फैक्टरी श्रमिक का उदय हुआ।

क्रान्ति की विशेषताएं
(१) उत्पादन क्रियाओं में सुधार
(२) शक्ति साधनों का विकास
(३) औद्योगिक सगठन
(४) कृषि से अधिक उद्योग को महत्व
(५) व्यापार में वृद्धि
(६) नये समाज वर्ग का उदय

(४) कृषि की अपेक्षा उद्योग को अधिक महत्व (More Importance to Industry than Agriculture)- १८वीं शताब्दी के मध्य तक इंगलैंड मे कृषि प्रधान उद्योग था और गांवों का बाहुल्य था। क्रान्ति के फलस्वरूप नये २ औद्योगिक नगरों का विकास हुआ और गांवों की महत्ता समाप्त हो गई।

(५) व्यापार में वृद्धि (Increase in Trade)—क्रान्ति ने यातायात के साधनों का विकास किया जिससे वस्तुओं का स्थानान्तरण शीघ्र और सस्ता हो गया। फलस्वरूप व्यापार बढने लगा। विदेशो मे ब्रिटिश माल की खपत होने लगी। जहाजरानी के विकसित होने से निर्मित माल निर्यात करने में सुविधा हुई।

(६) नये समाज वर्ग का उदय (Rise of a new class of society)—क्रान्ति के परिवर्तनों ने समाज के स्वरूप में भी परिवर्तन किया। उद्योगपतियों की समाज में प्रतिष्ठा बढ़ गई और गाव के किसान जो कारखानों में श्रमिक बन गये थे उनका शोषण (Exploitation) होने लगा।

नॉविल्स (Knowles) के अनुसार,"इंगलैंड की औद्योगिक क्रान्ति मे निम्नलिखित ६ महान परिवर्तनो का समावेश था और ये परिवर्तन परस्पर एक दूसरे से प्रभावित थे।"*

(१) इन्जिनियरिंग उद्योग का विकास (Development of Engineering)—वाष्प इन्जिन निर्मित करने व मरम्मत करने, सूती वस्त्र उद्योग की मशीनो को बनाने, खान से कोयला निकालने की मशीनो को बनाने और मशीन के पुर्जे व यंत्र आदि बनाने के लिये इन्जिनियरों की आवश्यकता थी। अतः इस उद्योग का विकास हुआ। १८वीं शताब्दी के मध्य से पूर्व मरम्मत करने वाले लोहार या अन्य कारीगर थे। अतः कुशल इंजिनियरिंग का कार्य सिखाने की व्यवस्था हुई। यह उद्योग लोहे स्पात की उपलब्धि पर निर्भर करता था।

नॉविल्स के अनुसार विशेषताए
(१) इन्जिनियरिंग उद्योग का विकास
(२) लोहस्पात उद्योग का विकास
(३) सूती वस्त्र उद्योग मे मशीनें
(४) रासायनिक उद्योग का विकास
(५) कोयला उद्योग का विकास
(६) यातायात के साधनों का विकास

*"The so-called Industrial Revolution comprised six great changes or developments all of which were inter-dependent"—Knowles—Ibid, page 20.

(२) लौहस्पात उद्योग का विकास (Development of Iron and Steel Industry):—मशीन, पुर्जे व यन्त्रों का निर्माण करने के लिये अच्छे किस्म की पर्याप्त मात्रा में स्पात की आवश्यकता थी। अतः लौहस्पात निर्माण में क्रान्ति दूसरा महत्वपूर्ण परिवर्तन था। उत्तम कोटि का स्पात बनाने की क्रियाओं को अपनाया गया और देश में लौहस्पात के अनेक कारखाने स्थापित हुए।

(३) वाष्पचालित मशीनों का सूती वस्त्र उद्योग में प्रयोग (Application of Steam Powered Machines in Textiles):—वस्त्र उद्योग में पहले हाथ से चलने वाले यन्त्रों का प्रयोग होता था परन्तु इनसे उत्पादन कम होता था। श्रमिकों की कमी तथा सूती वस्त्र की मांग बढ़ने से वाष्पचालित मशीनों का प्रयोग किया जाने लगा। इस समय विभिन्न मशीनों के आविष्कार हुए जिनका वर्णन इस अध्याय के अन्त में दिया गया है। इन मशीनों से कातने और बुनने की क्रियाएं सरल हो गई। इन मशीनों का प्रयोग बाद में ऊनी व सिल्क वस्त्र उद्योगों में भी किया गया।

(४) रासायनिक उद्योगों का विकास (Development of Chemical Industries):—सूती वस्त्र उद्योग के विकास के साथ २ ही विभिन्न रासायनिक उद्योगों का भी विकास हुआ। कपड़ों की धुलाई, रंगाई व छपाई आदि के लिये विविध प्रकार के रासायनिक पदार्थों की आवश्यकता हुई जिनकी पूर्ति करने के लिये बड़े बड़े रासायनिक कारखाने स्थापित किये गये।

(५) कोयला उद्योग का विकास (Development of Coal Industry):—विभिन्न उद्योगों के लिये कोयले की प्रचुर मात्रा में आवश्यकता थी क्योंकि कोयला शक्ति का मुख्य साधन था। कोयले की आवश्यकता लोहा पिघलाने, कोक बनाने और वाष्पशक्ति बनाने के लिये थी। अतः कोयला उद्योग का विकास अनिवार्य था। गहरी खानों से कोयला निकालने और खानों से पानी बाहर निकालने में स्टीम इन्जिन ने भारी सहायता दी और इस प्रकार भारी परिमाण में कोयला निकालना सम्भव हुआ।

(६) यातायात के साधनों का विकास (Development of Means of Transport):-बढ़ती हुई औद्योगिक संस्थाओं तथा औद्योगिक उत्पादन के लिये सस्ते और शीघ्रगामी यातायात के साधनों का विकास करना अनिवार्य हो गया। कच्चे माल व कोयले को कारखानों तक पहुंचाना और निर्मित माल को व्यापारिक केन्द्रों पर ले जाना बिना यातायात के साधनों की उन्नति हुए सम्भव नहीं था। इस कार्य में रेलों को प्राथमिकता मिली। बड़े २ नगर रेलों से मिला दिये गये जिससे यातायात सुविधाजनक हो गया।

इस प्रकार औद्योगिक क्रान्ति से इंगलैण्ड के आर्थिक क्षेत्र में अनेक परिवर्तन हुए और ब्रिटेन में एक नया आर्थिक युग आरम्भ हुआ।

औद्योगिक क्रान्ति के प्रभाव (Effects of Industrial Revolution)

औद्योगिक तरीकों और संगठन मे होने वाले परिवर्तनो के, जो औद्योगिक क्रान्ति मे सम्मिलित हैं, महत्वपूर्ण आर्थिक, राजनैतिक सामाजिक व राजनैतिक परिणाम हुए।

आर्थिक परिणाम (Economic Effects)

(१) उत्पादन में वृद्धि (Increase in Production):—उद्योगो में नए तरीके अपनाने से वस्तुओ के उत्पादन मे अत्याधिक वृद्धि होने लगी। मशीनो द्वारा उत्पादन करने से वस्तुएं सस्ती भी हो गई। मांग में वृद्धि होने से लोगो को अधिक रोजगार मिलने लगा। नये २ उद्योगो का विकास हुआ और श्रम विभाजन तथा विशिष्टीकरण का जन्म हुआ।

(२) व्यापारिक क्रान्ति (Commercial Revolution):—व्यापार में क्रान्ति हुई, व्यापार का क्षेत्र बढ गया। निर्मित वस्तुओं का इंगलैण्ड से निर्यात विदेशो को होने लगा। ब्रिटेन इस प्रकार अनेक दूर २ के देशो मे व्यापार की नींव डाल सका। मंडियाँ स्थापित की गई और ब्रिटिश माल की विदेशों में ख्याति जम गई।

(३) उत्तरी जिलों को महत्व (Importance of Northern districts).—औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व अधिकाश लोग देहात में रहते थे और सब से घनी आबादी दक्षिण और पूर्व के जिलों में थी। उत्तरी इङ्गलैंड बहुत कम बसा हुआ था। औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप उत्तर, दक्षिण वेल्स और मिडलैंडस के कोयले और लोहे के क्षेत्रों मे अधिक लोग रहने लगे।

आर्थिक प्रभाव

(१) उत्पादन मे वृद्धि
(२) व्यापारिक क्रान्ति
(३) उत्तरी जिलो को महत्व
(४) रोजगार में वृद्धि
(५) पूंजीपतियो को लाभ
(६) यातायात, बैंकिंग व बीमा व्यवसाय का विकास
(७) व्यापार नीति मे परिवर्तन

(४) रोजगार में वृद्धि (More Employment) —बड़े २ उद्योग धन्धों के साथ २ सहायक उद्योगो का भी विकास हुआ जिससे विविध प्रकार के रोजगार उपलब्ध हो गये—जैसे ठेकेदारी दलाली, व्यापारी, मैनेजरी, फोरमैन, इंजिनियरी आदि। वस्तु सस्ती होने से मांग बढ़ी जिससे उत्पादन अधिक किया जाने लगा और श्रमिकों को काम मिलने लगा।

(५) पूंजीपतियों को लाभ (Profits to Capitalists) —जिन पूंजीपतियो ने उद्योगो में पूंजी लगाई थी उन्हे अत्याधिक लाभ हुए और उनका धीरे २ उद्योग धन्धों पर अधिकार बढ़ता गया।

(६) यातायात, बैंकिंग व बीमा व्यवसाय का विकास (Development of Transport, Banking & Insurance Business)— बडे पैमाने की उत्पति के साथ ही परिवहन के उत्तम साधनो की आवश्यकता हुई। नहरो और रेलो का निर्माण और

वाष्पचालित जहाजों का विकास हुआ। व्यापार के बढने से लेन देन और विनियम क्रियाएँ बढ़ी तथा अधिक मात्रा में पूँजी की आवश्यकता होने लगी। इस कार्य में बैंको की उन्नति और कम्पनी कानून के विकास से सहायता मिली। इसी प्रकार जीवन तथा माल सम्बन्धी जोखिमो की सुरक्षा के लिये बीमा व्यवसाय प्रारम्भ हुआ।

(७) व्यापार नीति में परिवर्तन (Change in Trade Policy)—पहले व्यापार में सरकारी हस्तक्षेप होता था, परन्तु उद्योगों के विकास के साथ २ यह भावना कि आर्थिक प्रयत्नों पर राज्य का नियन्त्रण होना चाहिये समाप्त होने लगी। उद्योग धन्धो पर राज्य का नियन्त्रण समाप्त कर दिया गया और सरकार ने स्वतन्त्र व्यापार नीति (Free Trade or Laissez Faire Policy) अपना ली।

(८) उद्योग व्यापार में इंगलैंड विश्व का नेता बन गया और उसकी शक्ति बढ़ गई। उसने अपने उपनिवेशों (Colonies) तथा बाजारो पर पूरी तरह अधिकार जमा लिया।

सामाजिक प्रभाव (Social Effects)

(१) जन संख्या में वृद्धि (Increase in Population)—औद्योगिक क्रान्ति के कारण ब्रिटेन की जन संख्या में अत्यधिक वृद्धि हुई। अनुमान से १७५० में जनसंख्या ६० लाख थी। १८०१ में प्रथम जनगणना हुई जिसके अनुसार ब्रिटेन की आबादी बढ़कर ९० लाख हो गई। यह १८५१ तक दुगुनी हो गई और १९०१ तक फिर दुगुनी हो गई।

सामाजिक प्रभाव
(१) जन संख्या में वृद्धि
(२) गाँवों का पतन व नगरों का विकास
(३) गन्दी बस्तियो की समस्या
(४) श्रमिक मशीन का दास
(५) नये पूँजीपति वर्ग का उदय
(६) श्रमिकों का शोषण
(७) श्रम संघ का उदय
(८) जीवन-स्तर में वृद्धि

(२) गाँवों का पतन और नगरों का विकास (Decline of Villages and Rise of Towns)—गाँवों में बेकारी बढ़ने तथा नगरो में कार्य मिलने के कारण गाँव उजड़ गये और नगरो की आबादी बढने लगी। नये २ उद्योग धन्धो के खुलने से नगरों का निर्माण होता गया।

(३) गन्दी बस्तियों की समस्या (Problem of Slums)—औद्योगिक केन्द्रों में आबादी की वृद्धि से फलस्वरूप व दूषित वातावरण उत्पन्न हो गया और गन्दी बस्तियो का जन्म हुआ।

(४) श्रमिक मशीन का दास (Labourer Slave of Machines)—फैक्टरी पद्धति के सूत्रपात से श्रमिक तथा यन्त्रों का सम्बन्ध बदल गया। पहले जहाँ श्रमिकों की शक्ति से कार्य होता था अब श्रमिक केवल मशीनो के सहायक तथा नियंत्रक

मात्र हो गये। उत्पादन करने वाली मशीनों का स्थान प्रमुख, और श्रमिकों का स्थान गौण हो गया।

(५) नये पूंजीपति वर्ग का उदय (Rise of new Capitalist class)—इस समय इगलैंड मे पूंजी पर्याप्त मात्रा में एकत्रित हो रही थी, अतः एक नये पूंजीपति वर्ग का उदय हुआ। पूंजीपतियों तथा श्रमिकों के सम्बन्ध बिगड़े जिनसे कई नई औद्योगिक संघर्ष (Industrial Disputes) की समस्याएँ उत्पन्न हुई।

(६) श्रमिकों का शोषण (Exploitation of Labour)—श्रमिक वर्ग को अपार कष्ट हुआ। यद्यपि उन्हें रोजगार मिल सकता था परन्तु निर्बाध नीति के कारण सरकारी हस्तक्षेप के अभाव, पूंजीपतियों की श्रमिक वर्ग के प्रति अपनाई जा रही उपेक्षापूर्ण नीति, कम मजदूरी, अधिक कार्य के घन्टे, व रहने योग्य मकानों के अभाव के कारण उनकी स्थिति अमेरिका के नीग्रो दासों से भी अधिक शोचनीय हो गई थी। श्री एग्ड शार्प के अनुसार, "वे केवल प्रतिहारी हो रह गये थे उनके पास न तो सम्पत्ति थी, न मुद्रा और न घर ही था।"*

(७) श्रम संघों का उदय (Rise of Trade Unions)—फैक्टरी सिस्टम के कारण देश की पूंजी व सम्पति में अपार वृद्धि हुई। औद्योगिकरण के कारण श्रमिकों को संगठित होने का अवसर मिला और यद्यपि कुछ समय तक उनकी स्थिति दयनीय रही परन्तु यह अनुभव किया गया कि श्रमिकों की कार्यक्षमता बढ़ाना उतना ही आवश्यक है जितना कि कारखानों का उत्पादन।

(८) जीवन स्तर में वृद्धि (Rise in Standard of Living)—बड़े पैमाने पर मशीनों द्वारा उत्पादन होने से वस्तुएं सस्ती उपलब्ध होने लगी। लोगों की आवश्यकताएं बढ़ गई और उनका जीवन स्तर भी बढ़ा।

राजनैतिक प्रभाव (Political Effects)

औद्योगिक क्रान्ति के राजनैतिक परिणाम महत्वपूर्ण थे। १८ वी शताब्दी के मध्य से पूर्व संसद भूवर्ग का प्रतिनिधित्व करती थी। नए औद्योगिक नगरों को जो कारखाना प्रणाली के विकास के साथ बने संसद मे प्रतिनिधित्व प्राप्त नही था। छोटे नगरों और गाँवों द्वारा लोकसभा में प्रतिनिधि भेजने और बड़े नगरों का यह अधिकार दिलाने की माँग बढ़ने लगी। यद्यपि भूवर्ग ने दीर्घकाल तक निर्माता वर्ग को राजनैतिक अधिकारों में भाग नही लेने दिया परन्तु आगे चल कर संसद सुधार के अन्तर्गत उनको प्रतिनिधित्व (Representation) मिलने लगा।

*"Mere attendant, propertiless, moneyless and homeless."
—Ogg & Sharp—'Economic Development of Modern Europe.'

इस प्रकार स्पष्ट है कि औद्योगिक क्रान्ति ने इंगलैंड के आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन किए। मेरोडिथ के अनुसार—'यद्यपि औद्योगिक क्रान्ति में अनेक बुराइयाँ थीं फिर भी वे लाभप्रद थीं।'.........इस क्रान्ति के कारण इंगलैंड की वित्त व्यवस्था एवं आर्थिक अवस्था में काफी सुधार हुआ।"

प्रो. नोवेल्स के शब्दों में:—

"England became the forge of the world, the world's carrier, the world's ship-builder, the world's banker, the world's work-shop, the world's clearing house, and the world's entrepot." अतः इंगलैंड का छोटा सा द्वीप विश्व के आर्थिक जगत का भाग्य निर्माता तथा एक प्रभुत्वशाली राष्ट्र बन गया—एक ऐसा महान साम्राज्य जिसमें सूर्य कभी भी अस्त नहीं होता था। यह सब औद्योगिक क्रान्ति की ही देन थी।

आविष्कार (Inventions)

(१) "स्पिनिंग जेनी" (Spinning Jenny)—सन १७६७ में * जेम्स हारग्रीव्स (James Hargreaves) ने जो एक बुनकर था (Spinning Jenny) नाम की मशीन का आविष्कार किया जिस पर एक साथ ११ तकलें घूम सकते थे। यद्यपि इससे उपयुक्त महीन सूत तैयार होने लगा परन्तु उत्पादित सूत अधिक मजबूत नहीं निकलता था। यह छोटी सी मशीन हाथ से चलाई जाती थी अतः घरों में इसका उपयोग होने लगा।

(२) वाटर फ्रेम (Water Frame)—१८ वीं सदी के अन्तिम वर्षों में कातने वालों की संख्या बहुत कम थी और बुनकरों को सूत के अभाव में बेकार रहना पड़ता था। अतः ऐसी मशीनों की खोज की जाने लगी जिनकी सहायता से कम समय में अधिक सूत काता जा सके। सन् १७६६ में रिचार्ड आर्कराइट (Richard Arkwright) ने एक कातने की नई मशीन का आविष्कार किया जो एक नये सिद्धान्त पर आधारित थी। यह मशीन हाथ से नहीं चलाई जाती थी परन्तु यह जलशक्ति से चलाई जाती थी, अतः वाटर फ्रेम कहलाई। यह बड़े आकार की मँहगी मशीन थी जिससे यह घरों के लिये अनुपयुक्त थी। इसके प्रयोग से कारखाना प्रणाली (Factory System) का आरम्भ माना जाता है। इससे उत्पादित सूत मोटा और मजबूत होता था।

(३) "म्यूल" (Mule)—सन १७७६ में क्रोम्पटन (Crompton) ने 'म्यूल' नामक मशीन का आविष्कार किया जिसमें महीन और मजबूत सूत तैयार किया जाने लगा। इस मशीन से पूर्व ब्रिटेन में अधिक बारीक सूत कातना सम्भव नहीं था। अतः मलमल भारत से आयात की जाती थी। इस मशीन के द्वारा बारीक से बारीक सूत कातना सम्भव हो गया और इंगलैंड में मलमल बनने लगी। यह आरम्भ में हाथ से चलाई जाती थी परन्तु बाद में जलशक्ति और वाष्पशक्ति से चलाई जाने लगी।

---

*कुछ विद्वानों के अनुसार यह आविष्कार १७६४ में हुआ था।

(४) "फ्लाइंग शटल" (Flying Shuttle)—इस मशीन का आविष्कार सन १७७३ में जॉन के (John Kay) ने किया। इसके द्वारा चौड़ा कपड़ा एक ही श्रमिक द्वारा बुना जा सकता था और पहले की तरह एक साथ दो श्रमिकों के खड़े रहने की आवश्यकता नहीं थी। सूत की कमी के कारण बहुत समय तक इसका प्रयोग न हो सका।

(५) शक्ति चालित करघा (Power Loom)—सूत कातने की मशीनों का आविष्कार हो जाने से सूत प्रचुरता से मिलने लगा। सूत की अधिकता से कपड़ा बनाने के लिये बुनकरों की कमी होने लगी। अत: अब कपड़ा बुनने हेतु उत्तम करघों का आविष्कार करने के लिये प्रयत्न किया जाने लगा। सन १७८५ में एडमन्ड कार्टराइट *(Edmund Cartwright)* ने शक्ति चालित करघे का आविष्कार किया। यह वाष्प शक्ति से संचालित किया जाता था और इस प्रकार कपड़ा शीघ्र बुना जाने लगा। बाद में इसमें अनेक सुधार किये गये।

उपर्युक्त आविष्कारों ने सूती वस्त्र उद्योग में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिये। विशाल कारखानों की स्थापना हुई और लंकाशायर विश्व का सब से बड़ा सूती वस्त्र उत्पादन का केन्द्र बन गया। बाद में इन मशीनों का प्रयोग ऊनी व रेशमी वस्त्र उद्योगों में भी किया जाने लगा।

सारांश (Summary)

औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व इंगलैंड की आर्थिक अवस्था

१८ वी सदी के मध्य तक इंगलैंड कृषि प्रधान देश था और वहाँ गाँवों की अधिकता थी।

कृषि:—कृषि पुराने तरीकों से की जाती थी। तीन खेत प्रणाली प्रचलित थी। बाड़ा बन्दी का जोर था। फसलों के हेर फेर की प्रणाली अज्ञात थी। चारागाह पर जनसाधारण को मवेशी चराने का अधिकार था।

उद्योग:—बड़े उद्योग नहीं थे। छोटे पैमाने पर घरेलू पद्धति से देहातों में उत्पादन होता था। ऊन और लोहा उद्योग महत्वपूर्ण थे। कपड़ा उद्योग विकसित नहीं था। सूत कातने और बुनने का कार्य गाँवों में होता था।

व्यापार यातायात—व्यापार मेलों में होता था। आयात निर्यात दोनों को ही महत्व प्राप्त था। सड़कों की दशा हीन थी। नहरों द्वारा कुछ यातायात होता था।

औद्योगिक क्रान्ति

१७५० से १८५० के बीच उद्योगों में महान परिवर्तन हुए जिन्हें औद्योगिक क्रान्ति कहा जाता है। इन परिवर्तनों के कारण उत्पादन मशीनों से कारखानों में होने लगा।

अर्थः—यह क्रान्ति फ्रांस अथवा रूसी क्रान्ति के समान रक्तरंजित नहीं थी अतः इसे 'क्रमिक विकास' कहना अधिक उपयुक्त था। परन्तु अनेक लेखकों ने—जैसे टोयनबी, जेवन्स आदि 'औद्योगिक क्रान्ति' का शब्द ही प्रयोग किया। इस क्रान्ति ने उद्योग, कृषि, व्यापार, यातायात आदि में आश्चर्यजनक परिवर्तन किये जिससे इसे क्रान्ति कहना ही उचित होगा।

औद्योगिक क्रान्ति सर्व प्रथम इंगलैंड में क्यों हुई ? (Causes)

(१) प्राकृतिक गुणः—

(i) भौगोलिक स्थितिः—मध्यवर्ती स्थिति होने के कारण इंगलैंड यूरोप और अमेरिका से सम्पर्क रख सका। स्वेज (Suez Canal) के कारण यह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक केन्द्र बन गया।

(ii) अनुकूल जलवायु.—समशीतोष्ण जलवायु ने लोगों को परिश्रमी बनाया और वस्त्र उद्योग को प्रोत्साहित किया।

(iii) समुद्रतटः—अत्यन्त कटा फटा होने से प्राकृतिक बन्दरगाह उपलब्ध हुए। जहाज निर्माण और मत्स्य उद्योग विकसित हुआ।

(iv) प्राकृतिक साधनः—कोयला व लोहा साथ २ पाये जाने से कारखाने स्थापित हुए।

२. पूंजी की प्रचुरता.—बड़ी २ कम्पनियों की स्थापना हुई। बैंकिंग व्यवसाय विकसित हुआ।

३. राजनैतिक स्थायित्वः—राजनैतिक शान्ति व सुरक्षा के कारण इङ्गलैंड को व्यापार उद्योग उन्नत करने का अवसर मिला।

४. दासवृत्ति की समाप्तिः—व्यक्तिगत स्वतंत्रता के कारण औद्योगिक प्रगति में सुविधा हुई।

५. श्रमिकों की सुलभताः—गांवों के भूमिहीन किसान नगरों में श्रमिक बन गये।

६. आन्तरिक स्थानीय करों (Taxes) से मुक्तिः—स्थानीय कर न होने से आन्तरिक व्यापार में वृद्धि हुई।

७. यातायात के साधनः—नहर व सड़क यातायात के विकास से आन्तरिक व्यापार बढ़ा और विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन मिला।

८. व्यापार क्षेत्र का विस्तारः—इंगलैण्ड के आधीन देशों से व्यापार बढ़ा।

९. बढ़ते हुए विदेशी व्यापार के लिये जनसंख्या की कमीः—विदेशी व्यापार के बढ़ने और जनसंख्या के कम होने से मशीनों का प्रयोग अनिवार्य हो गया।

१०. आविष्कारः—वाष्पचालित इंजिन, वाटरफ्रेम आदि आविष्कारों से उद्योगों में महान परिवर्तन हुए।

११ सरकारी नीति.—उद्योगों को संरक्षण मिला तथा आर्थिक सहायता भी।

१२ अन्य कारण:—जहाजरानी का विकास, विदेशी प्रतिस्पर्धा का अभाव, विशिष्ट वस्तुओं का उत्पादन व भारत से प्राप्त धन ने भी क्रान्ति में सहयोग दिया।

विशेषताएं (Salient features)

(१) उत्पादन की क्रियाओं में सुधार:—वैज्ञानिकरण व यन्त्रीकरण।

(२) शक्ति के साधनों का विकास: वाष्प इन्जिन का प्रयोग।

(३) औद्योगिक संगठन.—श्रम विभाजन, विशिष्टिकरण।

(४) उद्योग को अधिक महत्व:—गावों का पतन, औद्योगिक नगरों का विकास।

(५) व्यापार में वृद्धि—आन्तरिक व विदेशी व्यापार में वृद्धि हुई।

(६) नये समाज वर्ग का उदय:—उद्योगपतियो की प्रतिष्ठा बढ़ी, श्रमिकों का शोषण हुआ।

नॉविल्स के अनुसार विशेषताएं

(१) इजीनियरिंग उद्योग का विकास:—वाष्प इंजिन बनाने, सूती मिलो की मशीनें बनाने तथा पुर्जे यंत्र बनाने के लिये इस उद्योग का विकास हुआ।

(६) लौहस्पात उद्योग का विकास:—इंजीनियरिंग के लिये लोहस्पात की आवश्यकता हुई अतः इस उद्योग का विकास हुआ।

(३) मशीनो का सूती वस्त्र उद्योग मे उपयोग.—कपड़े की माग बढ़ने और श्रमिकों की कमी होने से वाष्प चालित मशीनों का प्रयोग सूती वस्त्र उद्योग में किया गया।

(४) रासायनिक उद्योगो का विकास:—कपड़े की धुलाई, रंगाई व छपाई के लिये विभिन्न रासायनिक उद्योगो का विकास हुआ।

(५) कोयला उद्योग का विकास:—उद्योगो के लिये शक्ति का साधन कोयला था, अतः कोयला उद्योग का विकास किया गया।

(६) यातायात के साधनो का विकास:—कच्चे माल और निर्मित माल के लाने ले जाने के लिये यातायात के साधनों में मुख्यकर रेलों का विकास किया गया।

प्रभाव (Effects)

आर्थिक प्रभाव:—

(१) उत्पादन वृद्धि:—मशीनों से बड़े पैमाने पर उत्पादन हुआ।

(२) व्यापारिक क्रान्ति:—निर्मित वस्तुओं का निर्यात दूर २ के देशों को होने लगा।

(३) उत्तरी जिलों का महत्व.—कोयले व लोहे के उत्तरी क्षेत्रों में जनसंख्या बढ़ने लगी।

(४) रोजगार में वृद्धि:—नये २ उद्योगों में श्रमिकों, दलालों, व्यापारियों तथा इंजिनियरों को रोजगार मिलने लगे।

(५) पूंजीपतियों को लाभ:—उद्योगों में लगाई पूंजी से पूंजीपतियों को अत्यधिक लाभ हुआ।

(६) यातायात, बैंकिंग व बीमा व्यवसाय का विकास:—नहरों, रेलो व जहाजों का विकास हुआ। बैंकों की उन्नति हुई और बीमा व्यवसाय (Insurance) विकसित हुआ।

(७) व्यापार नीति में परिवर्तन:—सरकार द्वारा स्वतन्त्र व्यापार नीति अपनाई गई।

सामाजिक प्रभाव:—

(१) जनसंख्या में वृद्धि:—१८०१ की प्रथम जनगणना के अनुसार आबादी ९० लाख थी जो ५० वर्षों में दुगुनी हो गई।

(२) गांवों का पतन, नगरों का विकास:—उद्योग धन्धो के स्थापित होने से नये नये नगर विकसित होने लगे।

(३) गन्दी बस्तियों की समस्या—अधिक श्रमिकों के होने से दूषित वातावरण उत्पन्न हो गया।

(४) श्रमिक मशीन का दास.—श्रमिक मशीन का दास हो गया।

(५) नव पूंजीपति वर्ग का उदय:—पूंजीपतियों तथा श्रमिकों में औद्योगिक संघर्ष होने लगे।

(६) श्रमिकों का शोषण:—कम मजदूरी, अधिक कार्य, दूषित वातावरण आदि।

(७) श्रम संघों का उदय:—श्रमिकों को संगठित होने का अवसर मिला।

(८) उच्च जीवन स्तर:—वस्तुएं सस्ती होने से उपभोग बढ़ने लगा।

राजनैतिक प्रभाव

संसद व लोक सभा में निर्माता वर्ग को भी प्रतिनिधित्व मिलने लगा।

आविष्कार (Inventions):—

(१) स्पिनिंग जेनी:—१७६७ में हारग्रीव्ज ने इसका आविष्कार किया जिससे महीन सूत कातना सम्भव हुआ।

(२) वाटर फ्रेम:—१७६९ में आर्कराइट ने इस मशीन का आविष्कार किया जिससे मोटा व मजबूत सूत उत्पादित होने लगा।

(३) म्यूल:—इसका आविष्कार १७७९ में क्रोम्पटन ने किया। इससे अधिक बारीक सूत काता जाने लगा और इंगलैंड में 'मलमल' बनने लगी।

(४) फ्लाइंग शटल.—१७७३ में जॉन के ने आविष्कृत की जिससे चौड़ा कपड़ा एक ही व्यक्ति द्वारा बुनना सम्भव हुआ।

(५) शक्तिचालक कर्घा:—१७८५ में कार्टराइट ने इसका आविष्कार किया। वाष्प चालित होने के कारण इससे कपड़ा जल्दी बुना जाने लगा।

प्रश्न

१. What are the causes and effects of Industrial Revolution of 1760 ? (Raj. Uni ,1962)

१७६० की औद्योगिक क्रान्ति के कारण और प्रभाव क्या थे। (राज० वि०, १९६२)

2. Is it correct to call what took place in England between 1760 and 1850 an Industrial Revolution ? Explain the term Why did it occur first in England ?

१७६० और १८५० के बीच जो इगलैंड में हुआ क्या उसको औद्योगिक क्रान्ति कहना उचित होगा ? इस शब्द की व्याख्या कीजिये। यह क्रान्ति सर्वप्रथम इंगलैंड मे ही क्यों हुई ?

3. Discuss the importance of Arkwright, Cartwright, Crompton and Kay in British Industrial History.

ब्रिटिश औद्योगिक इतिहास में आर्कराइट, कार्टराइट, क्रोम्पटन और के का महत्व बताइये।

4 Explain the salient features of Industrial Revolution.

औद्योगिक क्रान्ति की विशेषताओं का वर्णन कीजिये।

5. Explain why Industrial Revolution made its apperance in Great Britain earlier than in other countries and trace the successive stages of Industrial Revolution. (Raj. Uni., 1959)

अन्य देशों से पूर्व इंगलैंड में औद्योगिक क्रान्ति क्यों हुई ? औद्योगिक क्रान्ति की क्रमशः घटनाओं का वर्णन करो। (रा० वि०, १९५९)

अध्याय ७

सूती वस्त्र उद्योग
COTTON TEXTILE INDUSTRY

(Cotton is King of America and bread of Britain.)

औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप इंगलैंड में अनेक उद्योगों का विकास हुआ। बड़े २ कारखाने शक्ति संचालित यन्त्रों सहित स्थापित किये गये। इन उद्योगों में सूती वस्त्र उद्योग का स्थान महत्वपूर्ण था।

१८ वी शताब्दी के प्रारम्भ में सूती वस्त्र का निर्माण महत्वपूर्ण नहीं था। उस समय कातने और कपड़ा बुनने का कार्य हाथों से देहातों मे घरेलू पद्धति के अनुसार होता था। इस प्रकार यह उद्योग कुटीर धन्धे के रूप मे चलाया जाता था और केवल स्थानीय माँग को ही पूर्ति हो पाती थी, निर्यात बहुत कम होता था। कपास विदेशों से आती थी जहाँ रुई खरीदने में अंग्रेजो को फ्रांसीसी और डच व्यापारियो की प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता था। अतः रुई की पूर्ति अनिश्चित थी और उद्योग की उन्नति नहीं हो सकी। इसके अतिरिक्त ऊनी और रेशमी वस्त्रो के प्रचुर उत्पादन के कारण भी सूती वस्त्र उद्योग की ओर ध्यान नहीं दिया गया। ईस्ट इन्डिया कम्पनी प्रारम्भ से ही भारत से सूती माल का आयात करती थी, अतः ब्रिटेन में इस उद्योग के विकास में उसने कोई रुचि नहीं ली।

१८ वी शताब्दी के अन्त मे कुछ ऐसी घटनाएं हुईं जिनके कारण इंगलैंड स्वयं एक बड़ा सूती वस्त्र उत्पादक बन गया। इसके निम्नलिखित कारण थे:—

(१) ऊन का अभाव (Shortage of Wool)—१८ वी शताब्दी में ऊन की कमी हो गई जिससे ऊनी वस्त्र उद्योग का विकास रुक गया। इस उद्योग मे लगे व्यापारी सूती वस्त्र उद्योग की ओर आकर्षित हुए। फलस्वरूप सूती वस्त्र उद्योग का विकास होने लगा।

(२) भारतीय वस्त्र के आयात पर प्रतिबन्ध (Import of Indian cloth restricted)—भारत का सूती माल इंगलैंड में लोकप्रिय था अतः १७०० में छपे सूती माल का आयात बन्द कर दिया गया। परन्तु सफेद सूती वस्त्र का आयात किया जा सकता था। इंगलैंड में छपाई उद्योग स्थापित हो गया और भारतीय सूती माल का इस प्रकार उपयोग जारी रहा। अतः १७२१ में छपे हुए सूती माल का उपयोग ही

बन्द कर दिया गया जिस के कारण केवल सफेद सूती वस्त्र का ही उपयोग हो सकता था। इन सबका परिणाम यह हुआ कि इंगलैंड में सूती वस्त्र उद्योग स्थापित हो गया। यदि भारत से सूती माल का आयात चालू रहता तो ब्रिटिश उद्योग का इतनी शीघ्रता से विकास नहीं होता।

विकास के कारण
(१) ऊन का अभाव
(२) भारतीय वस्त्र के आयात पर प्रतिबन्ध
(३) भारत में राजनैतिक अव्यवस्था
(४) नये प्रकार का कपड़ा
(५) अमेरिका से रुई की प्राप्ति
(६) नये नये आविष्कार
(७) रासायनिक उद्योग का विकास
(८) विस्तृत बाजार
(९) यातायात के साधन
(१०) पूंजी की उपलब्धि
(११) प्राकृतिक बन्दरगाह
(१२) लोहा व कोयला की प्राप्ति

(३) भारत में राजनैतिक अव्यवस्था (Political instability in India)—१७०७ में औरंगजेब की मृत्यु के बाद भारत में दीर्घकाल तक अशान्ति रही। ऐसी परिस्थितियाँ व्यापार के लिये उपयुक्त नहीं थी अतः भारत से निर्यात रुक गया। और ब्रिटिश उद्योग का उत्पादन बढ़ने लगा।

(४) नये प्रकार का कपड़ा (New type of Fabric)—१७२० से १७७० तक इंगलैंड में सन और रुई के मिश्रण से एक नये प्रकार का कपड़ा निर्मित किया गया जो अधिक लोक प्रिय हुआ। इसको स्वदेश में एकाधिकार प्राप्त हुआ और इसके निर्यात को प्रोत्साहित किया गया।

(५) अमेरिका से रुई की पूर्ति (Cotton from America)—संयुक्तराज्य अमेरिका के दक्षिणी राज्यों में कपास की खेती आरम्भ हो गई जिससे रुई की असीमित पूर्ति होने लगी।

(६) नये नये आविष्कार (New Inventions)—ब्रिटेन में यह उद्योग विश्व में सर्वप्रथम आधुनिक कारखानों के ढंग पर चालू किया गया और इसी देश में इस उद्योग में प्रयुक्त होने वाले यन्त्रों का आविष्कार किया गया। १७६० के बाद कताई और बुनाई में नये २ आविष्कार हुए जैसे—Spinning Jenny, Water frame, Mule आदि जिनका वर्णन पूर्व अध्याय में किया गया है।

(७) रसायनिक उद्योग का विकास (Development of Chemical Industry)—कपड़ा बनने के बाद इसको धुलाई (bleaching), रंगाई (Dyeing), छपाई (Printing) और चमकाई (Finishing) करनी पड़ती है। उद्योग की उन्नति के लिये क्लोरीन से सफाई की क्रिया का आविष्कार हुआ। नये रंगों का आविष्कार हुआ। थामस बैल (Thomas Bell) द्वारा बेलनों द्वारा छपाई की क्रिया के आविष्कार से सूती वस्त्रों की छपाई में क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ।

(८) विस्तृत बाजार (Large Markets)—उपनिवेशों की स्थापना के कारण विस्तृत बाजारों का प्राप्त हो जाना, जिसके फलस्वरूप ब्रिटिश कपडे की भारी खपत अन्य देशों में हो गई।

(६) यातायात के साधन (Means of Transport)—यातायात के उत्तम व शीघ्र साधनों के विकास ने सूती वस्त्र उद्योग को बड़ी सहायता दी।

(१०) पूंजी की उपलब्धि (Availability of Capital)—विदेशी व्यापार से अर्जित लाभ सूती वस्त्र उद्योग में लगाया गया जिससे पूंजी की कमी नहीं रही। इसके साथ ही यहां बैंकिंग, साख और जहाजरानी का विकास तीव्रगति से हो रहा था।

(११) प्राकृतिक बन्दरगाह (Natural Ports)—समुद्रतट कटा फटा होने से प्राकृतिक बन्दरगाह बन गए हैं जिससे रुई के आयात और कपड़े के निर्यात की सुविधा प्राप्त हुई।

(१२) लोहा व कोयला (Iron & Coal)—उद्योग को चलाने के लिये प्रचुर मात्रा में लोहा और कोयला यहां उपलब्ध हैं।

इस प्रकार यद्यपि इङ्गलैंड में न तो कपास ही उत्पन्न होती है और न वहां सूती वस्त्रों का इतना अधिक प्रयोग ही किया जाता है परन्तु वहां के निवासियों के अध्यवसाय, साहस, कुशलता और आविष्कारों के कारण ही इस उद्योग का विकास सम्भव हो सका। इस उद्योग की उन्नति वहां इतनी अधिक हुई कि प्रथम महायुद्ध के समय इङ्गलैंड विश्व का सबसे बड़ा सूती वस्त्र उत्पादक बन गया था।

सूती वस्त्र उद्योग के लंकाशायर में केन्द्रित होने के कारण
(Causes of Centralisation of Cotton Textile Industry at Lancashire)

सूती वस्त्र बनाने के लिये देश के अन्य भागों की अपेक्षा लंकाशायर अधिक उपयुक्त सिद्ध हुआ। यह क्षेत्र सारे संसार में सबसे अधिक सूती वस्त्र उत्पन्न करता है। यह क्षेत्र इङ्गलैंड के पश्चिमी तट पर मरसी नदी की घाटी और पिनाइन श्रेणी की तलहटी के समानान्तर फैला हुआ है। इसको निम्नलिखित सुविधाएं प्राप्त हैं:—

भौगोलिक सुविधाएं (Geographical Advantages)

(१) अनुकूल जलवायु (Favourable climate)—पिनाइन श्रेणी के पश्चिम की ओर स्थित होने के कारण यहां सालभर वर्षा होती रहती है और वायु में नमी की मात्रा काफी रहती है। इस प्रकार की जलवायु में धागा नहीं टूटता और बारीक से बारीक सूत की कताई सम्भव है। स्वास्थ्यप्रद और स्फूर्तिदायक जलवायु लोगों को शारीरिक और मानसिक परिश्रम करने के लिये प्रेरित करती है।

लंकाशायर के उद्योग में केन्द्रीयकरण के कारण
१. भौगोलिक सुविधाएं
(i) अनुकूल जलवायु
(ii) स्वच्छ जल की प्रचुरता
(iii) जल विद्युत शक्ति
(iv) कोयले की उपलब्धि

(२) स्वच्छ जल की प्रचुरता (Abundance of clean water)—अटलांटिक की दक्षिणी पश्चिमी हवाओं से यहां इतनी अधिक

वर्षा होती है कि मध्य पिनाइन श्रेणी से अनेक छोटी २ तीव्रगामी नदियाँ निकलती हैं जिससे प्रचुर मात्रा मे स्वच्छ पानी मिलता है जो कपडे और सूत की धुलाई के लिये आवश्यक है।

(३) जलविद्युत शक्ति (Hydro-electricity)—द्रुतगामी नदियों से काफी जल विद्युत उत्पन्न की जाती है। सस्ती जल विद्युत कोयला शक्ति के पूरक का काम करती है।

(४) कोयले की उपलब्धि (Availability of Coal)—यह क्षेत्र ब्रिटेन के उत्तम और विस्तृत लंकाशायर कोयला प्रदेश पर फैला हुआ है जिससे इस क्षेत्र को बढ़िया कोयला निकट ही मिल जाता है।

आर्थिक सुविधाएं (Economic Advantages)

कुशल श्रमिक (Efficient Labourers):—ब्रिटेन में ऊनी उद्योग पहले से ही विकसित था। जब सूती कपड़ा उद्योग आरम्भ हुआ तब ऊनी उद्योग के कुशल कारीगर इस उद्योग में लग गये। यहाँ के श्रमिक कुशल होने के साथ ही साथ इस उद्योग में विशेष रूप से दक्ष हैं। मैनचेस्टर के संसार प्रसिद्ध सूती उद्योग ट्रेनिंग स्कूल में श्रमिकों को शिक्षण प्रदान कर इस कार्य का विशेषज्ञ बनाया जाता है।

आर्थिक सुविधाएं

(१) कुशल श्रमिक
(२) कपास की पूर्ति
(३) सस्ते रसायन की उपलब्धि
(४) बाजार पर अधिकार
(५) लिवरपूल का आदर्श बन्दरगाह
(६) खेती के लिये अनुपयुक्त
(७) विशिष्टिकरण
(८) उच्च कोटि का कपड़ा
(९) आन्तरिक बचत
(१०) मशीन निर्माण की सुविधा

(२) कपास की पूर्ति (Supply of Cotton)—पहले ब्रिटेन केवल अमेरिका से कपास मंगाता था, लेकिन अब मिश्र और पाकिस्तान से कपास प्राप्त करता है। विदेशों से जल यातायात मार्गों द्वारा कपास मंगाने के कारण भाड़ा अपेक्षाकृत कम होता है। लिवरपूल से मैनचेस्टर तक बनी हुई नहर द्वारा कपास से लदे जहाज सीधे मैनचेस्टर तक पहुंच जाते हैं।

(३) सस्ते रसायन की उपलब्धि (Availability of cheap chemicals):—लंकाशायर के दक्षिण में स्थित चेशायर क्षेत्र से क्षार प्राप्त होते हैं जिनसे रंगाई और धुलाई में प्रयुक्त होने वाले रसायन बना लिये जाते हैं। इस प्रकार इस उद्योग के लिये सस्ता रसायन प्रचुर मात्रा में मिल जाता है।

(४) बाजार पर अधिकार (Control over Markets).—लंकाशायर का सूती उद्योग पहले ही कुछ देशों में प्रसिद्ध हो गया था और पहले से बाजार पर अधिकार करना, इस उद्योग के पनपने के मुख्य कारणों में से एक है।

(५) लिवरपूल का आदर्श बन्दरगाह (Liverpool—ideal port):—इस क्षेत्र को लिवरपूल जैसे उत्तम और विशाल बन्दरगाह की सुविधा प्राप्त है जिससे विदेशों से कच्चा माल मंगाने और निर्मित माल निर्यात करने में आसानी रहती है। सस्ते जल, यातायात की सुविधा भी ब्रिटेन को है। स्वेज नहर के खुलने पर ब्रिटेन का अपने पूर्वी उपनिवेशों से सम्पर्क स्थापित हो गया। इससे कपड़े के भेजने और कपास एकत्रित करने में और भी आसानी हो गई। उसके जहाज अल्प समय में ही कम व्यय पर ब्रिटेन से उसके उपनिवेशों तक तैयार माल ले जाने और कच्चा माल लाने लगे।

(६) खेतीके लिये अनुपयुक्त (Unsuitable for Agriculture)—लंकाशायर पर्वतीय प्रदेश होने के कारण खेती के अनुकूल नहीं है। अतः यहाँ के निवासी इस उद्योग में जुटे हुए हैं।

(७) विशिष्टिकरण (Specialisation):—लंकाशायर में संसार के सूती वस्त्र उद्योग के विभिन्न अंगों का विशिष्टिकरण सबसे अधिक हुआ है अतः नए उत्पादक देश इसका सामना नहीं कर पाते।

(८) उच्च कोटि का कपड़ा (High Quality of Cloth):—यहां केवल बढ़िया किस्म का कपड़ा बनाया जाता है, जबकि अन्य देशों में घटिया किस्म का बनता है।

(९) आन्तरिक बचत (Internal Economy):—आन्तरिक बचत के लिये इस क्षेत्र के कारखानों ने आपस में मिलकर बड़ी २ कम्पनियां बना ली हैं, जिससे एक ही कंपनी के अन्तर्गत कई कारखाने चलाये जा रहे हैं और व्यापार में अधिकाधिक लाभ हो रहा है।

(१०) मशीन निर्माण की सुविधा (Facility of Machine Manufacturing):—वस्त्र उद्योग की मशीनें बनाने का कारखाना भी इसी क्षेत्र में स्थित है। इससे नये कारखानों को आसानी से मशीनें मिल जाती हैं और पुराने कारखानों को मरम्मत और नए पुर्जों की सुविधाएं भी प्राप्त हो जाती हैं। कलपुर्जा निर्माण की यह सुविधा केवल इसी क्षेत्र में प्राप्त है।

राजकीय सुविधाएं (State Facilities)

(१) व्यापारिक नीति (Trade Policy):—ब्रिटेन के सूती कपड़े की खपत सबसे अधिक उसके औपनिवेशिक देशों में है। उन देशों की व्यापारिक नीति के अनुसार वहां केवल अंग्रेजी कपड़े को प्रोत्साहन दिया जाता है। इस व्यापारिक नीति के कारण ब्रिटेन के वस्त्र उद्योग के लिये उसके औपनिवेशिक बाजार सुरक्षित रह सके हैं।

राजकीय सुविधाएं
(१) व्यापारिक नीति
(२) राजनैतिक स्थिरता
(३) कम निर्यात कर

(२) राजनैतिक स्थिरता (Political Stability):—देश की राजनैतिक व्यवस्था सदा से सुसंगठित और शान्तिपूर्ण

रही है। अन्य देशों में गृह युद्ध या अन्य प्रकार की अशान्तियों के कारण उद्योगों को भारी ठेस पहुची है।

(३) कम निर्यातकर (Less Export Duties)—यहां अन्य देशो की अपेक्षा कम निर्यात कर लगाया जाता है जिससे उत्पादन व्यय कम रहता है और उद्योग को प्रोत्साहन मिलता है।

१८५० के बाद से यह उद्योग निरन्तर प्रगति करता गया। सन् १८७५-७६ और १८८५-८६ की अवधि मे अमेरिकन गृह-युद्ध तथा आर्थिक मन्दी के कारण इस उद्योग की प्रगति में कुछ बाधा आई। लंकाशायर को कच्चा माल मिलना बन्द हो गया। उद्योगपति आर्थिक कठिनाइयो में पड़ गए और श्रमिकों को बेकारी का सामना करना पड़ा। इस कठिनाई को भारत और मिश्र से रूई मंगाकर हल किया गया।

प्रथम महायुद्ध (१६१४-१८) के समय इस उद्योग को निम्न कठिनाइयों का सामना करना पड़ाः—

प्रथम महायुद्ध की कठिनाइयां
(१) कच्चे माल की कमी
(२) निर्यात में कमी

(१) कच्चे माल की कमीः—ब्रिटेन की सूती मिलों को कपास के लिये विदेशों पर निर्भर रहना पड़ता था। युद्ध के कारण कपास का आयात कम होता गया क्योंकि जहाजो की कमी हो गई और अन्य राष्ट्र भी युद्ध में रत हो गये।

(२) निर्यात (Export) में कमीः—ब्रिटेन में अधिकतर उत्पादन निर्यात के लिये किया जाता था। जहाजों की कमी के कारण निर्यात लगभग असम्भव हो गया और इंगलैंड को कई बाजारों से हाथ धोना पड़ा।

इन कठिनाइयों को दूर करने के लिये १६१७ में कपास नियंत्रक समिति (Cotton Control Committee) स्थापित की गई जिसका कार्य कपास का राशनिंग करना था। इसके अतिरिक्त १६२० में ब्रिटिश रूई उत्पादक संघ (British Cotton-growing Association) की स्थापना हुई। इसके द्वारा ब्रिटिश साम्राज्य के विभिन्न राज्यों में कपास उत्पादन को प्रोत्साहित करने के लिये धन व्यय किया गया जैसे भारत, नाइजेरिया, यूगेन्डा, सूडान आदि। युद्ध के बाद पूर्वीय देशों की मांग बढ़ने से उद्योग की अस्थाई प्रगति हुई।

सन् १६२० के पश्चात् उद्योग की लगातार अवनति होती गई और १६२४ तक उत्पादन कम हो गया। इस अवनति के निम्नलिखित कारण थे:—

अवनति के कारण

(१) उत्पादन लागत में वृद्धि—ब्रिटेन में इस उद्योग का संगठन दोषपूर्ण हो

गया। कच्चा माल मंगाने में यातायात व्यय अधिक होता था। ब्रिटिश मजदूरों का वेतन स्तर ऊँचा था। अतः इंगलैंड का वस्त्र मँहगा पड़ने लगा तथा विदेशी माग कम होती गई।

अवनति के कारण
(१) उत्पादन लागत में वृद्धि
(२) पूर्वी देशों में औद्योगिक प्रगति
(३) विदेशी प्रतियोगिता
(४) राष्ट्रीय भावना व आयात कर

(२) पूर्वी देशों में औद्योगिक प्रगतिः—भारत, चीन, जापान तथा मध्यपूर्व के देशों में औद्योगिकरण की गति तीव्र हो गई। इन देशों ने सूती वस्त्र उद्योग स्थापित कर लिये और इस प्रकार ब्रिटिश वस्त्र की माँग कम होती गई।

(३) विदेशी प्रतियोगिताः—सन् १६२० के बाद जापान में सूती वस्त्र उद्योग का विकास अधिक होने लगा और वह ब्रिटेन के साथ प्रतिस्पर्धा करने लगा। जापानी कपड़ा सस्ता होने के कारण दक्षिणी-पूर्वी एशिया के अनेक देशों के बाजारों में बिकने लगा।

(४) राष्ट्रीय भावना व आयात करः—बहुत से देशों में राष्ट्रीय भावना के कारण विदेशी माल का बहिष्कार किया जाने लगा। विशेषकर भारत में इस भावना के कारण ब्रिटिश वस्त्रों की माँग बहुत गिर गई। इसके अतिरिक्त अन्य देशों ने आयात पर भारी कर लगा दिये ताकि उनके उद्योग को संरक्षण प्राप्त हो सके।

सन् १६२६ की विश्व मन्दी (World Depression) से इस उद्योग को भारी धक्का लगा और १६३०-३१ तक उद्योग की दशा बहुत गिर गई। उद्योग के पुनर्गठन के लिये आधुनिकतम मशीनें स्थापित की गईं। वैज्ञानिक प्रबन्ध और विवेकीकरण (Rationalisation) के सिद्धान्तों को लागू किया गया। संयोग आन्दोलन द्वारा छोटी २ मिलों को मिलाकर बड़ी बड़ी मिलों की स्थापना की गई। सरकार तथा बैंक ऑफ इग्लैंड ने सस्ती ब्याज की दर पर मिलों को ऋण देना आरम्भ किया। ब्रिटेन ने अपने उपनिवेशों से अन्य देशों की तुलना में आयात कर में रियायतें प्राप्त कर लीं। विशिष्टीकरण प्राप्त करने के उद्देश्य से बहुत बारीक और उच्चकोटि के वस्त्रों का ही उत्पादन होने लगा। सन् १६३६ में सूती वस्त्र उद्योग पुनर्गठन एक्ट (Cotton Industry Reorganisation Act) बना और १६३६ में सूती उद्योग बोर्ड (Cotton Industry Board) की स्थापना की गई। इन सब प्रयत्नों के कारण सुधार तो अवश्य हुआ किन्तु फिर भी ब्रिटेन का सूती वस्त्र उद्योग अपनी पूर्व स्थिति को नहीं प्राप्त कर सका।

द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ होने से वस्त्रों की माँग बढ़ी और उसकी पूर्ति के लिये उत्पादन बढ़ाने का प्रयत्न किया गया। सरकारी नियन्त्रण और सहायता के बल पर

उद्योग का विकास किया जाने लगा परन्तु उत्पादन बढ़ाने में श्रमिकों के अभाव की बाधा उपस्थित हुई। श्रमिकों के अभाव की पूर्ति विवेकीकरण और नवीन यन्त्रीकरण द्वारा की गई। स्थानीय मांग राशनिंग द्वारा नियन्त्रित की गई।

समस्याएं (Problems)

ब्रिटेन के इस उद्योग के मार्ग में निम्नलिखित असुविधाएं हैं —

(१) कपास की पूर्ति विदेशों द्वारा—ब्रिटेन स्वयं कपास का उत्पादन नहीं करता, अतः सारी कच्ची रुई इसे विदेशों से मगानी पड़ती है। यदि किसी कारण रुई का मूल्य बढ़ जाय तो इस उद्योग को भारी क्षति पहुचेगी। भेजने वाले देश अपनी इच्छानुसार रुई का निर्यात बन्द भी कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त रुई उत्पन्न करने वाले देशों में सूती उद्योग चालू हो जाने पर उनके लिये रुई का निर्यात करना असम्भव हो जायेगा।

समस्याएँ

१. कपास की पूर्ति विदेशों द्वारा
२. स्थानीय माग की कमी
३ निर्यात व्यापार के लिये महत्वपूर्ण
४. अधिक लागत मूल्य

(२) स्थानीय मांग की कमी—ब्रिटेन एक ठण्डा देश है जहां ऊनी कपड़े की ही आवश्यकता अधिक रहती है। सूती कपड़े की मांग अत्यन्त सीमित है। यूरोप के निकटवर्ती देशों में भी सूती कपड़े की मांग बहुत कम है।

(३) निर्यात व्यापार के लिये महत्वपूर्ण—यह उद्योग पूर्णरूप से सुदूर देशों की मांग पर निर्भर है अतः इसका निर्यात व्यापार अधिक महत्वपूर्ण है। सुदूर देश अब स्वयं इस उद्योग को अपने यहां विकसित कर रहे है, इसलिये वहां भी मांग घटती जा रही है।

(४) अधिक लागत मूल्य—कपास के मूल्य बढ़ने तथा मजदूरी की दर अधिक होने से अन्य देशों की अपेक्षा इङ्गलैंड मे वस्त्र उत्पादन की लागत अधिक है।

वर्तमान दशा (Present Position)

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि इगलैंड का सूती वस्त्र उद्योग लगातार मन्दी का सामना कर रहा है और उसके निर्यात मे भारी कमी आ गई है। इसका मुख्य कारण भारत और जापान द्वारा अपने उद्योगों का अत्याधिक विकास करना है। सन् १९३७ की तुलना में सन् १९५८ का उत्पादन आधा ही रह गया। उद्योग की गिरती हुई दशा सुधारने के लिये सन् १९५५ में निम्न कार्यक्रम बनाए गये :—

(१) विक्रेताओं द्वारा सामूहिक मूल्य निर्धारण।
(२) विक्रेताओं द्वारा सामूहिक विवेकपूर्ण क्रय।

(५) अमेरिका से रुई की पूर्ति—रुई की असीमित पूर्ति होने लगी।

(६) नये २ आविष्कार—Spinnig Jenny, Water Frame, Mule आदि।

(७) रासायनिक उद्योग का विकास—धुलाई, रंगाई, छपाई के लिये विभिन्न रसायनों (Chemicals) का आविष्कार हुआ।

(८) विस्तृत बाजार—उपनिवेशों के कारण विस्तृत बाजार इस उद्योग को प्राप्त हो गये।

(९) यातायात के साधन—सस्ते व शीघ्र यातायात के साधनों से उद्योग को सहायता मिली।

(१०) पूंजी की उपलब्धि—बैंकिंग, साख और जहाजरानी के विकास ने इस उद्योग की उन्नति में सहयोग दिया।

(११) प्राकृतिक बन्दरगाह—रुई के आयात और कपड़े के निर्यात की सुविधा प्राकृतिक बन्दरगाह द्वारा सम्भव हुई।

(१२) लोहा कोयला—उद्योग के लिये आवश्यक लोहा और कोयला प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है।

इस प्रकार प्रथम महायुद्ध तक यह उद्योग इंगलैंड में विश्व का सब से बड़ा उद्योग हो गया।

सूती वस्त्र उद्योग के लंकाशायर में केन्द्रित होने के कारण

भौगोलिक सुविधाएं:—

(१) अनुकूल जलवायु—नमे जलवायु के कारण उच्चकोटि का कपड़ा बनना सम्भव है।

(२) स्वच्छ जल की प्रचुरता—कपड़े व सूत की धुलाई के लिये पहाड़ी नदियों का स्वच्छ जल उपलब्ध है।

(३) जल विद्युत शक्ति—सस्ती बिजली कोयला शक्ति के पूरक का काम करती है।

(४) कोयले की उपलब्धि—इसी क्षेत्र में बढ़िया कोयले की खानें हैं जिससे कारखानों को पर्याप्त मात्रा में कोयला मिल जाता है।

आर्थिक सुविधाएं:—

(१) कुशल श्रमिक—ऊनी उद्योग के कुशल कारीगर सूती उद्योग के लिये उपलब्ध हो गये।

(२) कपास की पूर्ति—अमेरिका, मिश्र और पाकिस्तान से कपास का जल-मार्गों द्वारा आयात सुलभ हो जाता है।

(३) सस्ते रसायन की उपलब्धि—सस्ता रसायन निकट ही उपलब्ध है।

(४) बाजार पर अधिकार—पहले से ही लंकाशायर का माल विदेशों में प्रसिद्ध हो गया था।

(६) लिवरपूल का आदर्श बन्दरगाह—निकट ही है।

(७) खेती के लिये अनुपयुक्त—पहाड़ी प्रदेश अतः खेती के लिये अनुपयुक्त और उद्योग के लिये उपयुक्त है।

(५) विशिष्टीकरण—उद्योग के विभिन्न अंगों का विशिष्टीकरण यहाँ ही हुआ है।

(८) उच्चकोटि का कपड़ा—केवल बढ़िया कपड़े का ही उत्पादन होता है।

(६) आन्तरिक बचत—बड़े २ कारखानों द्वारा बचत होना।

(१०) मशीन निर्माण सुविधा वस्त्र उद्योग की मशीनों का निर्माण और मरम्मत इसी क्षेत्र में हो जाती है।

राजकीय सुविधाएं—

(१) व्यापारिक नीति—ब्रिटिश कपड़े की खपत उपनिवेशों की व्यापारिक नीति के कारण यहाँ अधिक होती है।

(२) राजनैतिक स्थिरता—राजनैतिक शान्ति रहने से उद्योगों के विकास के लिये अनुकूल वातावरण है।

(३) कम निर्यातकर—निर्यात कर के कम होने से उद्योग को प्रोत्साहन मिलता है।

प्रथम महायुद्ध के समय उद्योग के सामने दो कठिनाइयाँ आई:—

(१) कच्चे माल की कमी—युद्ध के कारण कपास का आयात कम हो गया।

(२) निर्यात में कमी—जहाजों की कमी से निर्यात कम हो गया।

सन् १६१७ में कपास नियंत्रक समिति स्थापित हुई और १६२० में ब्रिटिश रूई उत्पादक संघ। १६२० के बाद उद्योग की अवनति होती गई जिसके निम्न कारण थे:—

(१) उत्पादन लागत में वृद्धि—रूई मंगाने में यातायात व्यय अधिक होने तथा मजदूरी ऊँची होने से लागत व्यय अधिक पड़ने लगा और विदेशी माँग कम होने लगी।

(२) पूर्वी देशों में औद्योगिक प्रगति—भारत, चीन, जापान आदि में सूती उद्योग की स्थापना जिससे ब्रिटिश माल की मांग कम हो गई।

(३) विदेशी प्रतियोगिता—जापान ने अनेक बाजारों पर अधिकार जमा लिया।

(४) राष्ट्रीय भावना व आयात कर—भारत द्वारा विदेशी माल का बहिष्कार करना और अन्य देशों द्वारा भारी आयात कर लगाना।

विश्व मन्दी से उद्योग को गहरा धक्का लगा। सुधार के लिये वैज्ञानिक प्रबन्ध व विवेकीकरण योजनाएं आरम्भ की गईं। बड़ी बड़ी मिलें स्थापित हुईं और राज्य द्वारा आर्थिक सहायता प्रदान की गई। १६३६ में सूती वस्त्र उद्योग पुनर्गठन एक्ट और १६३६ में सूती उद्योग बोर्ड स्थापित हुए।

द्वितीय महायुद्ध में माग बढ़ने से उत्पादन की वृद्धि की गई। सरकारी सहायता से उद्योग का विकास किया जाने लगा।

समस्याएं—

(१) कपास की पूर्ति विदेशों द्वारा—ब्रिटेन में रुई का उत्पादन नहीं होता है अतः सारी कच्ची रुई विदेशों से आती है जिससे पूर्ति अनिश्चित रहती है।

(२) स्थानीय मांग की कमी—ठण्डा देश होने से इंगलैंड में सूती वस्त्र की मांग सीमित है।

(३) निर्यात व्यापार के लिये महत्वपूर्ण—सुदूर देशों की माग पर उद्योग निर्भर है परन्तु वहां उद्योग के स्थापित होने से मांग घटती जा रही है।

(४) अधिक लागत मूल्य—कपास के मूल्य में वृद्धि व ऊंचे वेतन स्तर से ब्रिटिश कपड़ा महगा हो गया है।

वर्तमान दशा—

अब यह उद्योग लगातार अवनत होता जा रहा है मुख्यकर भारत व जापान की प्रतियोगिता के कारण। १९५५ में दशा सुधारने के लिये सामूहिक मूल्य निर्धारण और निर्यात को प्रोत्साहन देने के लिये मूल्य में २५% कमी भी की गई। सन् १९५६ में आधुनिकरण के लिये सरकारी सहायता की घोषणा की गई।

फिर भी यह उद्योग ब्रिटेन में आज भी सर्वप्रथम है और सूती तथा सिल्क के कपड़े के अतिरिक्त रेयान का भी उत्पादन किया जा रहा है।

कोयला उद्योग
(COAL INDUSTRY)

"इंगलैंड का आर्थिक इतिहास वास्तव में कोयले की खानों के विकास की ही कहानी है।"

"On the material side coal was the efficient cause of the Industrial Revolution." —C. R. Fay.

कोयला और लोहा औद्योगिक क्रांति के दो आधारभूत स्तम्भ हैं। किसी भी देश के औद्योगिक विकास के लिए शक्ति के साधनों का होना अत्यन्त आवश्यक है और कोयला आरम्भ से ही शक्ति का मुख्य साधन है। वास्तव में इंगलैंड में औद्योगिक क्रान्ति के सर्व प्रथम होने का कारण वहाँ पर पाये जाने वाले उत्तमकोटि का कोयला ही है। बड़े-बडे लोहे के कारखानो तथा यातायात के साधनों का विकास वहाँ कोयले के बल पर ही सम्भव हो सका है। अतः—यह कथन कि इंगलैण्ड का आर्थिक इतिहास वास्तव में कोयले की खानों के विकास की ही कहानी है, सत्य है। कोयले को इसलिये ही ब्रिटेन के आर्थिक इतिहास में काला हीरा कहा जाता है।

विकास.—रोम के समय में भी कोयला खानों से निकाला जाता था। सैक्सन और नोर्मन के समय मे बहुत कम खानें खोदी गई। १४वीं शताब्दी तक नोर्दम्बरलैंड, डरहम, यॉर्कशायर, लंकाशायर, स्टेफोर्डशायर और दक्षिण वेल्स में कोयले का प्रयोग होने लगा। इसके पश्चात् कोयले का निर्यात यूरोप को होने लगा। शताब्दियों से कोयले का घरेलू कार्यों मे प्रयोग होता रहा। यातायात की कठिनाइयो के कारण इसका अधिक व्यापक प्रयोग न हो सका। १८वीं शताब्दी में औद्योगिक क्रान्ति के कारण कोयले के विभिन्न उपयोग ज्ञात हुए। वाष्प इंजिन के आविष्कार से कोयले की माँग बढ गई। १९ वीं शताब्दी में रेलों और जलयानों के कारण कोयले का महत्व बढ़ गया। काफी समय तक कोयला कच्चे लोहे को गलाने में उपयोग नहीं किया गया।

इस प्रकार १६ वीं शताब्दी तक कोयले का उत्पादन सीमित था। खानो से पानी बाहर निकालने के उपाय ज्ञात न होने के कारण गहरी खुदाई सम्भव नहीं थी। १८वीं शताब्दी से कोयला उद्योग का विकास निम्न परिस्थितियों के कारण होने लगा:—

(१) वाष्प इंजन का आविष्कार (Invention of the Steam Engine):—आरम्भ में न्यूकोमेन (Newcomen) ने वाष्प इंजिन का आविष्कार किया जिससे पानी

निकालना सम्भव हुआ। जेम्स वाट (James Watt) द्वारा आविष्कृत सुधरे हुए इंजन से पानी निकालना अधिक सरल हो गया और गहरी खाने खोदना सम्भव हुआ।

(२) कोयले से कोक बनाना:— अब्राहम डार्बी (Abraham Darby) ने कोयले का कोक बनाकर कोक को लोहे के गलाने के काम मे लाने की प्रक्रिया खोज निकाली जिससे कोयले का औद्योगिक महत्व बढ़ गया।

(३) सस्ता नहरी यातायात:—औद्योगिक क्रान्ति के बाद नहरों के निर्माण से कोयला भेजने की समस्या आसान हो गई।

(४) आग लगने को रोकना:—१८१५ में सर हम्फरी डेवी (Sir Humphry Davy) द्वारा उनके नाम से विख्यात सुरक्षात्मक लैम्प (Davy's Safety Lamp) के आविष्कार से खानों में आग लगने की सम्भावना समाप्त हो गई।

(५) हवा निकालने के पंखे:— १८३७ में हवा निकालने के पंखों (Exhaust Fans) के आविष्कार से खानों के बाहर हवा निकालने की समस्या हल हो गई।

(६) कोयले को बाहर निकालने की सुविधा:— सन् १८३६ में तारों के बने हुए रस्सों (Wire Cables) के आविष्कार से कोयले को खान से बाहर सतह तक खींचकर लाने में सुविधा हो गई।

(७) छत गिरने का भय हटना:—स्तम्भ और पोल प्रणाली के अनुसार कोयले की परत खोदते समय कहीं-कहीं सहारे के लिये कोयले के स्तम्भ छोड़ दिये जाते थे जो बाद में हटा दिये जाते थे। कुछ समय पश्चात् छत को सहारा देने के लिये लकड़ी के स्तम्भ लगाये जाने लगे।

(८) अन्य सुधार:—कोयला काटने की मशीनों, रेलों, उचित तापक्रम की व्यवस्था और कृत्रिम साधनों द्वारा उत्पन्न स्वास्थ्यप्रद वातावरण ने कोयला उद्योग की उन्नति में सहयोग दिया।

(९) कोयले के विभिन्न उपयोग:—१८५६ में विलियम हेनरी परकिन्स ने कोयले से रंग तैयार करने का तरीका निकाला। इस प्रकार अब कोयले से अनेक रंग, औषधियाँ, तेल, खाद, सुगंधित पदार्थ, छत व सड़क बनाने और फोटोग्राफी के पदार्थ तैयार किये जाते हैं।

(१०) विदेशी माँग में वृद्धि—अन्य देशों में औद्योगिक प्रगति होने से कोयले की माँग विदेशों में भी बढ़ गई।

इन सब सुधारों के फलस्वरूप कोयले उद्योग की १६ वी शताब्दी तक विशेष प्रगति हुई। उत्पादन बढ़ा और निर्यात भी अधिक किया जाने लगा। कोयले का उत्पादन १८०० के १० मिलियन टन से बढ़कर १९१३ मे २८७ मिलियन टन हो गया।

१८६० में कोयले का निर्यात कुल निर्यात का ३% था जो कि १९१३ में बढ़कर १०% हो गया।

प्रथम महायुद्ध:—प्रथम महायुद्ध में श्रमिकों की कमी के कारण तथा निर्यात की कठिनाई के कारण उद्योग के समक्ष कुछ कठिनाई आई। कोयले के उत्पादन व मूल्य के सम्बन्ध में सरकार ने हस्तक्षेप किया। युद्ध के बाद भी इस उद्योग की अवनति होती गई जिसके निम्न कारण थे.—

(१) शक्ति के अन्य साधन—जलविद्युत शक्ति के विकसित होने के कारण इंगलैण्ड तथा अन्य देशों में कोयले की माँग कम हो गई।

(२) ब्रिटिश कोयले की अधिक लागत—श्रमिकों की अकुशलता व अधिक मजदूरी होने के कारण इङ्गलैंड का कोयला अमेरिका तथा यूरोप के कोयले से अधिक मँहगा पड़ता था।

(३) अन्य देशों में उद्योग की स्थापना—अमेरिका तथा यूरोप के देशों में कोयले उद्योग की स्थापना से ब्रिटिश कोयले की माँग कम हो गई।

(४) अन्य कारण—सरकार की उदासीन नीति, वैज्ञानिक प्रणालियों का देर में प्रयोग, अन्य देशों द्वारा अधिक आयात कर तथा खान मालिकों की उन्नति की ओर अरुचि के कारण भी उद्योग को हानि उठानी पड़ी।

सुधार के प्रयत्न:—उद्योग की अवनति रोकने के लिये निम्न प्रयत्न किये गये:—

(१) सन् १९२५ का कोयला कमीशन:—१९२५-२६ में सेम्युअल (Samuel) आयोग इस उद्योग की स्थिति की जाँच करने के लिये नियुक्त किया गया जिसने निम्न सुझाव दिये—

(i) उत्पादन नियंत्रित करने के लिये एक योजना विभाग स्थापित किया जाय।

(ii) विभिन्न खानों की उत्पादन सीमा निश्चित की जाय।

(iii) वैज्ञानिक तरीके अपनाये जायें और विवेकीकरण (Rationalisation) लागू किया जाय।

(iv) उत्पादन व्यय कम करने के लिये खानों का संयोगीकरण (Combination) किया जाय जिससे बड़ी २ इकाइयों (Units) का निर्माण हो।

(v) कोयले का श्रेणी विभाजन और प्रमापीकरण (Grading and Standardisation) किया जाय।

(२) इन सिफारिशों के आधार पर १९२६ में खनिज उद्योग अधिनियम बनाया गया जिसके अन्तर्गत संयोगीकरण को प्रोत्साहन देने के लिये स्टाम्प ड्यूटी हटा दी गई।

(३) १९३० में उत्पादन और विक्रय के सम्बन्ध में कोयला खान अधिनियम (Coal Mines Act) पास किया गया।

परन्तु फिर भी इस उद्योग की वर्तमान दशा यह है कि यह देश की केवल आन्तरिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर पाता है और बहुत थोड़ी मात्रा में कोयला निर्यात कर सकता है। इस प्रकार ब्रिटेन का कोयला उद्योग जो आरम्भ में काले हीरे के समान था, धीरे २ अवनत दशा की ओर अग्रसर हो रहा है।

सारांश (Summary)

ब्रिटेन की औद्योगिक क्रांति की आधार शिला कोयला ही है। कल कारखानों और यातायात के साधनों का विकास कोयले पर ही निर्भर है।

विकास:—१८ वीं शताब्दी के पूर्व कोयले का उत्पादन सीमित था और इसका घरेलू कार्यों में ही अधिकतर उपयोग होता था। वाष्प इंजिन के आविष्कार से कोयले की माग बढ गई। १८ वीं शताब्दी से कोयले उद्योग का विकास निम्न कारणों से हुआ:—

(१) वाष्प इंजिन का आविष्कार:—जेम्स वाट के इंजन द्वारा खानों से पानी निकालना सरल हो गया और खाने गहरी खोदी जाने लगी।

(२) कोयले से कोक बनाना:—अब्राहम डर्बी द्वारा कोयले से कोक बनाया गया जो लोहा पिघलाने में सहायक हुआ।

(३) सस्ता गहरी यातायात:—द्वारा कोयले की ढुलाई सम्भव हुई।

(४) आग लगने को रोकना:—डेवी के सुरक्षात्मक लैम्प के आविष्कार से खान में आग लगने का भय जाता रहा।

(५) हवा निकालने के पंखे (Exhaust Fans):—द्वारा खान के बाहर हवा निकालना सम्भव हुआ।

(६) कोयला बाहर निकालना:—Wire Cables से कोयला खान से बाहर खीचने में सुविधा हुई।

(७) छत गिरने का भय:—छत के सहारे के लिये कोयले स्तम्भ छोड़े जाने लगे तथा लकड़ी के स्तम्भ भी लगाये जाने लगे।

(८) अन्य सुधार:—कोयला काटने की मशीनें, रेलों का विकास, उचित तापक्रम, स्वास्थ्यप्रद वातावरण आदि।

(९) कोयले के विभिन्न प्रयोग:—कोयले से रंग, तेल, खाद औषधियां आदि तैयार होना।

(१०) विदेशी मांग में वृद्धि:—औद्योगीकरण के कारण माग में वृद्धि।

प्रथम महायुद्ध:—श्रमिकों की कमी तथा निर्यात की कठिनाई उत्पन्न हुई अतः उद्योग पर सरकारी नियंत्रण लगाया गया।

युद्ध के बाद अवनति के कारण

(१) शक्ति के अन्य साधन—जैसे तेल, विद्युत शक्ति ।

(२) ब्रिटिश कोयले की अधिक लागत—श्रमिक अकुशलता तथा अधिक मजदूरी के कारण ।

(३) अन्य देशों में उद्योग की स्थापना—जैसे अमेरिका और यूरोप के देशों में

(४) अन्य कारण—सरकारी उपेक्षा, अन्य देशों द्वारा अधिक आयात कर आदि ।

सुधार के प्रयत्न—

(१) १६२५ का कोयला कमीशन—मुख्य सुझाव—(i) योजना विभाग की स्थापना, (ii) उत्पादन सीमा निश्चित करना, (iii) वैज्ञानिक तरीके, (iv) संयोगीकरण (v) श्रेणी विभाजन प्रमाणीकरण ।

(२) १६२६ में खनिज उद्योग अधिनियम—संयोगीकरण के लिये स्टाम्प ड्यूटी की छूट

(३) १६३० कोयला खान अधिनियम—उत्पादन विक्रय के लिये ।

(४) १६३७ का अधिनियम—अनिवार्य एकीकरण आदि । द्वितीय महायुद्ध के समय उत्पादन में कमी हुई ।

वर्तमान दशा

१६४६ में कोयला उद्योग का राष्ट्रीयकरण किया गया । १६४७ में राष्ट्रीय कोयला बोर्ड स्थापित हुआ । १६५० की एक योजना के अनुसार १६६५ में उत्पादन लक्ष्य २४० मिलियन टन रखा गया । अनुसंधान संस्थाओं द्वारा बोर्ड द्वारा, आर्थिक सहायता देना ।

राष्ट्रीयकरण से लाभः—(१) पूँजी की उपलब्धि, (२) विवेकीकरण नीति, (३) मजदूरी में वृद्धि, पेन्शन और सप्ताह में ५ दिन कार्य, (४) उत्पादन में वृद्धि परन्तु निर्यात में कमी ।

वैज्ञानिक तरीकों का प्रयोग किया जा रहा है तथा श्रमिकों के सामार्थ श्रम हितकारी (Labour Welfare) कार्य किये जा रहे हैं । निर्यात बहुत कम होता है उद्योग की दशा अवनति की ओर है ।

प्रश्न

1. "The economic history of England can well be interpreted as the story of her coal mining". Discuss

"इंग्लैंड का आर्थिक इतिहास वास्तव में कोयले की खानों के विकास की ही कहानी है ।" इस कथन की विवेचना कीजिये ।

अध्याय ६

लौह-स्पात उद्योग
(IRON & STEEL INDUSTRY)

"Iron which furnished, in Jevon's phrase, the fulcrum and the lever of modern mechanical civilization, had been made by the Industrial Revolution an indispensible factor in progress."

—Clive Day

प्रस्तावना—लोहा स्पात उद्योग ग्रेट ब्रिटेन का सबसे प्राचीन उद्योग है। यह संसार में सर्वप्रथम यहीं आरम्भ किया गया था। संयुक्त राज्य अमेरिका से पूर्व विश्व में स्पात उत्पादन के विचार से इसका स्थान प्रथम था। पूर्वारम्भ की सभी सुविधाएँ जैसे औद्योगिक अनुभव, वैज्ञानिक विधियाँ और कुशल श्रमिक इस देश को प्राप्त हैं। यहाँ ऐसे लोहा स्पात क्षेत्र हैं जिनके समीप ही लोहा और कोयला दोनों मिलते हैं। ऐसी दशा ब्रिटेन में कई जगह मिलती है जिनसे इन उद्योगों के स्थानीयकरण को अत्यधिक प्रोत्साहन प्राप्त हुआ है। अधिकांश भाग समुद्रतटों के पास स्थित हैं जिनसे कच्चा लोहा प्राप्त करने और माल भेजने में बड़ी सुविधा रहती है। ब्रिटेन में कच्चे लोहे की कमी है अतः यह स्वीडन, स्पेन, व उत्तरी अमेरिका से आयात किया जाता है। फिर भी लोहा स्पात उत्पादन में अमेरिका और रूस के बाद इङ्गलैंड का तृतीय स्थान है। जर्मनी का उत्पादन भी लगभग ब्रिटेन के बराबर है। यार्कशायर, वेल्स, बर्मिंघम और उत्तरी पूर्वी तटीय प्रदेश इस उद्योग के प्रमुख केन्द्र हैं।

विकास (१७६० से १८७५)—कोयले के समान लोहा स्पात भी औद्योगिक विकास का मापदण्ड है। बड़े २ कल कारखानों तथा यातायात के साधनों के लिये लोहा स्पात अनिवार्य है। १८ वीं सदी के पूर्व इंगलैंड में लोहा लकड़ी के कोयले की सहायता से गलाया जाता था। १८ वीं शताब्दी के आरम्भ में अब्राहम डर्बी ने कोयले से कोक तैयार कर उसको लोहा गलाने में प्रयुक्त किया इस प्रकार लोहा उद्योग कोयले की खानों के पास स्थापित होने लगे। १७८४ में हेनरी कोर्ट (Henry Cort) ने लोहे को शुद्ध करने की प्रक्रिया खोज निकाली जिससे आवश्यकतानुसार लोहे का सामान बनाया जा सकता था। १७९० में नीलसन (Neilson) ने ऊष्ण भट्टी (Hot Blast) का आविष्कार किया जिससे धातु गलाने की क्रिया अधिक सरल हो गई। इसके अतिरिक्त लोहे के विभिन्न उपयोग भी ज्ञात किये गये जैसे लोहे का उपयोग नाव, जहाज, मकान व सड़क बनाने में किया जाने लगा। १८५५-५६ में हेनरी बेसेमर (Henry Bessemer) ने स्पात तैयार करने की नई क्रिया निकाली। इस प्रकार का स्पात अधिक उत्तम, विश्वसनीय, मजबूत व सस्ता था और यह शीघ्रता से बड़ी मात्रा में उत्पन्न

किया जा सकता था। सन् १८७८ में सर विलियम सीमेन्स (Sir William Siemens) ने लोहा गलाने के लिये बिजली की भट्टी बनाई जिससे विशेष उच्च कोटि का स्पात बनाने की सुविधा हुई। इस प्रकार उच्च कोटि का स्पात बनाने में बड़ी सहायता मिली।

सन् १८२१ के बाद रेलों के विकास के कारण तथा १८५० के बाद लोहे के जहाजों के निर्माण के कारण इस उद्योग को प्रोत्साहन मिला और ब्रिटेन से स्पात का निर्यात विदेशी माग बढ़ने से होने लगा। सन् १८७५ तक इङ्गलैंड विश्व का सबसे प्रमुख लोह स्पात उत्पादक देश था। इसके बाद अन्य देशों में भी इस उद्योग का विकास होने लगा। धीरे २ अमेरिका और जर्मनी में स्पात उत्पादन की मात्रा बढ़ने लगी और वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ में ये दोनों ही देश इङ्गलैंड से आगे बढ़ गये।

प्रथम महायुद्ध—प्रथम महायुद्ध के समय अमेरिका इङ्गलैंड से चार गुना अधिक स्पात उत्पन्न करता था। युद्धकाल में स्पात की मांग अस्थाई रूप में बढ़ी जिससे इस उद्योग को अल्पकालीन लाभ हुआ। युद्ध के बाद इस उद्योग को निम्न कठिनाइयों का सामना करना पड़ा,—

(१) कोयले के अधिक मूल्य* होने तथा मजदूरी की दरों के बढ़े होने के कारण इङ्गलैंड में स्पात [redacted] उत्पादन व्यय अन्य देशों की अपेक्षा अधिक था। इस प्रकार ब्रिटिश स्पात महँगा पड़ता था।

(२) अन्य नये उत्पादक देशों में इङ्गलैंड की अपेक्षा अधिक आधुनिक मशीनों† की स्थापना की गई थी जिससे उच्चकोटि की स्पात तैयार की जाती थी।

(३) जर्मनी व अमेरिका में फासफोरस रहित लोहा प्रचुर मात्रा में उपलब्ध था जब कि ब्रिटेन में लोहा फासफोरस वाला होता था।

(४) इङ्गलैंड में इतने बड़े पैमाने पर स्पात का उत्पादन‡ नहीं होता जितना कि अमेरिका व जर्मनी में। जिससे इङ्गलैंड बड़े पैमाने के लाभों से वंचित रहा।

(५) ब्रिटिश सरकार का इस उद्योग के प्रति उपेक्षापूर्ण व्यवहार रहा जब कि अन्य देशों में सरकार ने इस उद्योग के विकास में भरसक सहायता प्रदान की।

---

*"The conditions of British raw material supplies also changed to the disadvantage of the Iron & steel Industry."—Knowles.

†"UK's old plants were more suited to iron than to steel age."—Ogg & Sharp

‡"Success in steel production was bound up with the scale of output."—Knowles.

मन्दी काल—१६२० के बाद विश्व व्यापी मन्दी के समय उद्योग के सामने कई कठिनाइयाँ आई जैसे—मूल्यों में कमी, विदेशी प्रतिस्पर्धा, निर्यात में कमी तथा ऊंचे उत्पादन व्यय। इन कठिनाइयों के कारण स्पात उद्योग मन्दी के काल में विकास नहीं कर सका।

मन्दी के पश्चात—१६३१-३२ के बाद इस उद्योग का पुनर्गठन किया गया। बाहर से आने वाले स्पात तथा अन्य सम्बन्धित वस्तुओं पर संरक्षण कर लगा दिये गये। उत्पादन व्यय घटाने के लिये छोटी २ इकाइयों का एकीकरण व विवेकीकरण किया जाने लगा। इस कार्य के लिये १२ निगम स्थापित किये गये। सन् १६३० में ब्रिटिश स्पात निर्यात संघ स्थापित किया गया १६३४ में ब्रिटिश आयरन एण्ड स्टील फेडरेशन स्थापित किया गया जिसका मुख्य उद्देश्य इस उद्योग का पुनर्गठन करना और लोहे के मूल्य को निश्चित करना था। इसके अतिरिक्त अनुसंधान करने व आर्थिक सहायता दिये जाने की भी व्यवस्था की गई।

द्वितीय महायुद्धः—द्वितीय महायुद्ध के काल में स्पात निर्माण की दिशा में अधिक प्रगति नहीं हो सकी। कोयले की कमी के कारण उद्योग को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। आन्तरिक माग की पूर्ति के लिये ब्रिटेन को लगभग ४० लाख टन स्पात का अन्य देशों से आयात करना पड़ा। युद्ध के बाद १६४६ में ब्रिटिश लौह स्पात बोर्ड की स्थापना की गई और उच्च कोटि का स्पात बनाया जाने लगा।

वर्तमान दशा (Present Position)

उद्योग की उन्नति के लिये पंचवर्षीय योजना बनाई गई जिसका लक्ष्य १६५२-५३ तक १६ मिलियन टन लोहा उत्पादन करना था। इस वर्ष वास्तविक उत्पादन १६.४ मिलियन टन हुआ। १६५२-५३ में दूसरी पंचवर्षीय योजना बनाई गई जिसका लक्ष्य २० मिलियन टन था। सन् १६४६ के आयरन एण्ड स्टील एक्ट के अन्तर्गत सन् १६५१ से उद्योग के अधिकांश भाग का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया।

सन् १६५३ में अनुदारदल की सरकार (Conservative Party) ने राष्ट्रीयकरण के विरुद्ध एक अधिनियम बनाया जिसके अन्तर्गत एक नया बोर्ड स्थापित किया गया। उद्योग को पुनः व्यक्तिगत व्यावसायियों को सौंपा जाने लगा। बोर्ड का कार्य कच्चे माल का प्रबन्ध करना, मूल्य निर्धारण करना और पूंजी नियोजन की देखभाल करना था।

१६५६ में उद्योग के विकास कार्यों पर ७५ मिलियन पौंड का व्यय हुआ और १६५८ में १०५ मिलियन पौंड का। १६६२ तक उत्पादन का लक्ष्य २८ मिलियन टन और निर्यात का ५ मिलियन टन रखा गया।

कठिनाइयाँ:—ब्रिटेन के इस उद्योग को प्रमुख रूप से दो समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है—प्रथम तो कच्चे माल की अत्यन्त कमी है। ब्रिटेन के बढ़ते हुए स्पात उद्योग के लिये पिग आयरन का उत्पादन बहुत कम है। दूसरे कारखानों में काम करने के लिये श्रमिकों की कमी की समस्या है।

देश की आर्थिक प्रगति के लिये ब्रिटेन को इस उद्योग को उन्नत बनाये रखना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि इसमें अधिक पूँजी लगी हुई है तथा यह आधारभूत उद्योग है।

सारांश (Summary)

लौह इस्पात उद्योग विश्व में सर्वप्रथम इंगलैंड में आरम्भ हुआ था। लोहे और कोयले के पास पास मिलने तथा समुद्रतट के निकट होने के कारण उद्योग को प्रोत्साहन मिला। मुख्य केन्द्र यार्कशायर, वेल्स, बर्मिघम और उत्तरी पूर्वी तटीय प्रदेश हैं। अमेरीका और रूस के बाद इंगलैंड का इस क्षेत्र में तृतीय स्थान है यद्यपि जर्मनी की स्थिति भी ब्रिटेन के बराबर ही है।

विकास (१७३०-१८७५)

अब्राहम डर्बी ने १८ वीं सदी के प्रारम्भ में कोयले से उत्पन्न कोक का प्रयोग लोहा गलाने में किया। १७८४ में कोर्ट ने शुद्ध लोहा बनाने की तरकीब खोजी। १७६० में नीलसन द्वारा आविष्कृत ऊष्ण भट्टी से गलाने की क्रिया सरल हो गई। लोहे के विभिन्न उपयोग किये जाने लगे। १८५५-५६ में बेसेमर क्रिया द्वारा तैयार स्पात अधिक उत्तम सिद्ध हुआ। १८७८ में सीमेन्स की बिजली भट्टी से उच्च कोटि की स्टील तैयार की जाने लगी।

रेलों के विकास और लौह जहाज निर्माण ने उद्योग को प्रोत्साहन दिया और १८७५ तक ब्रिटिश उद्योग विश्व में सर्व प्रथम हो गया।

प्रथम महायुद्ध.—युद्धकाल में अल्पकालीन लाभ हुआ। युद्ध के बाद निम्न कठिनाईयाँ आईं.—

(१) कोयले की कमी व बढ़ी हुई मजदूरी के कारण ब्रिटिश स्पात महँगा हो गया।

(२) ब्रिटिश कारखानों की मशीनों का पुरानी व घिसी हुई होना।

(३) ब्रिटेन का लोहा फासफोरस वाला होता था।

(४) इंगलैंड बड़े पैमाने के लाभों से वंचित रहा।

(५) यह उद्योग सरकार द्वारा उपेक्षित रहा।

मन्दी काल:–१९२० के बाद मन्दी काल में यह उद्योग विकास नहीं कर सका।

मन्दी के पश्चात्:—१६३१-३२ में उद्योग को संरक्षण मिला। उद्योग का एकीकरण व विवेकीकरण किया गया। १६३० में ब्रिटिश स्पात निर्यात संघ स्थापित हुआ। सन् १६३४ में उद्योग के पुनर्गठन के लिये ब्रिटिश आयरन एण्ड स्टील फेडरेशन स्थापित किया गया।

द्वितीय महायुद्ध—उद्योग को कठिनाई का सामना करना पड़ा और स्पात का आयात किया गया। १६४६ में लोहस्पात बोर्ड स्थापित किया गया।

वर्तमान दशा—१६५२-५३ तक स्पात उत्पादन का लक्ष्य १६ मिलियन टन रखा गया और दूसरी पंचवर्षीय योजना का लक्ष्य २० मिलियन टन था। १६५१ से उद्योग का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया।

१६५३ मे उद्योग को पुनः व्यक्तिगत व्यावसायियों को सौंपा जाने लगा। उद्योग की देख भाल के लिये एक नया बोर्ड स्थापित किया गया। १६६२ तक उत्पादन का १८ मिलियन टन और निर्यात का ५ मिलियन टन रखा गया।

ब्रिटिश उद्योग के सामने कच्चे लोहे और श्रमिकों की कमी की दो समस्याएं हैं। आधारभूत उद्योग (Basic Industry) होने के कारण इस उद्योग का ब्रिटेन में उन्नत होना आवश्यक है।

प्रश्न

1. What changes have been introduced in the development of Iron and Steel Industry in England after the Industrial Revolution? (Raj. Uni 1962)

औद्योगिक क्रांति के पश्चात् इङ्गलैण्ड के लोहस्पात उद्योग के विकास में क्या परिवर्तन किये गये? (राज० वि० १६६२)

2. Discuss the growth of British Iron and Steel Industry and write a few lines about its present position.

ब्रिटिश लोहस्पात उद्योग के विकास का वर्णन करिये और उसकी वर्तमान दशा के बारे में कुछ पंक्तियां लिखिये।

सन् १८६७ में एक राजकीय आयोग (Royal Commission) की नियुक्ति की गई। इस आयोग के अल्पमत के सुझावों पर सन् १८७१ में Trade Union Act पास किया गया जिसने श्रम आन्दोलन को नया स्वरूप प्रदान किया। इसमें निम्न बातों का समावेश किया गया—

(१) संघों का रजिस्ट्रेशन कराया जा सकता था।

(२) रजिस्टर्ड संघों के अधिकार में भूमि, भवन और चल-अचल सम्पत्ति रह सकती थी।

(३) वे मुकदमे दूसरे पक्षों पर चला सकते थे तथा अन्य पक्ष उन पर कानूनी कार्यवाही कर सकता था।

(४) उनकी सम्पत्ति को सुरक्षा प्रदान की गई।

यद्यपि १८७१ के कानून के द्वारा श्रमिकों को पर्याप्त स्वतन्त्रता मिली परन्तु उसी समय फौजदारी कानून (Criminal Law) में संशोधन कर हड़तालियों को रोकने और धमकियां देने वाले अपराधी व्यक्तियों को भारी दण्ड देने की व्यवस्था की गई। इस प्रकार १८७१ के अधिनियम का प्रभाव निरर्थक हो गया। फलस्वरूप भारी संख्या में श्रमिकों को धरना देने के अपराध में दण्डित किया गया। इस नियम में परिवर्तन के हेतु तीव्र आलोचना हुई। अतः १८७५ के अधिनियम द्वारा शान्तिपूर्ण धरना देने तथा श्रमिकों के अपने नियोक्ताओं से वेतन निश्चित करने पर कोई दण्ड की व्यवस्था नहीं रही। इस प्रकार सन् १८७० से १८८० तक इंगलैंड का श्रमिक संघ आन्दोलन काफी प्रगति कर चुका था और नये २ संघों का निर्माण हुआ।

संघों को वैधानिक मान्यता प्रदान कर दी गई थी वे वेतन बढ़ाने और काम के घन्टे घटाने के लिये अपना संगठन बना सकते थे और शान्तिपूर्ण ढंग से हड़ताल भी कर सकते थे तथा धरना दे सकते थे। इस बीच कृषि श्रमिकों तथा अन्य व्यवसायों के श्रमिकों के संघ भी बन चुके थे।

सन् १८८० के बाद मन्दी काल में इस आन्दोलन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। बेरोजगारी और मजदूरी में कमी होने के कारण संघों की सदस्यता और पूंजी में भारी गिरावट आई, फलस्वरूप कुछ संघ लुप्त हो गये।

सन् १८८० से १८८९ के काल में अकुशल श्रमिकों को भी संगठित करने के प्रयत्न किये गये। गोदी कर्मचारियों, गैस कर्मचारियों तथा अन्य अकुशल श्रमिकों के संघों का निर्माण हुआ। रेल्वे श्रमिकों के संघ देर से प्रारम्भ हुए। यद्यपि सर्वप्रथम रेल्वे

कर्मचारी संघ का निर्माण १८७१ में हुआ था परन्तु Amalgamated Society of Rly. Servants की स्थापना १६ वीं शताब्दी के अन्त तक हो सकी। सन् १८६३ में स्वतन्त्र (Labour Party) की स्थापना होगई थी और इस पार्टी का समर्थन करके श्रमिक संघ राजनैतिक क्षेत्रों मे भी अपना प्रभाव जमाने का प्रयत्न करने लगा।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में श्रमिक संघ आन्दोलन पर दो प्रतिकूल प्रभाव पड़े। सन् १६०१ में T. V. Rly. Co. के मजदूरों ने हड़ताल कर दी। न्यायालय ने इस हड़ताल को अवैधानिक घोषित कर दिया और रेल्वे श्रमिक संघ को २३००० पौंड क्षतिपूर्ति के रूप में देने पड़े। इस दोष को दूर करने के लिये १६०६ में औद्योगिक संघर्ष एक्ट के अन्तर्गत हड़ताल व शान्तिपूर्ण धरना (Peaceful Picketing) देने के विरुद्ध मुकदमा लेने का निषेध न्यायालयों के लिये हो गया जिससे श्रम संघों की शक्ति काफी बढ़ गई।

दूसरा प्रतिकूल प्रभाव संघ की राजनैतिक क्रियाओं से सम्बन्धित था। सन् १६०८ में न्यायालय ने रेल्वे संघ के सदस्य W. Orborne के इस मत को स्वीकार कर लिया कि सदस्यों से राजनैतिक कार्यों के लिये चन्दा लेना श्रमिक संघों के क्षेत्र के बाहर है और इसका उन्हें कोई अधिकार नहीं है। इस निर्णय ने संघों की सत्ता को खतरे में डाल दिया। ट्रेड यूनियन कांग्रेस Trade Union Congress और लेबर पार्टी (Labour Party) का भविष्य अन्धकारमय हो गया।

सन् १६१३ में उपर्युक्त दोष दूर करने के लिये Trade Union Act पास किया गया। इस एक्ट के द्वारा श्रमिक संघ राजनैतिक कार्यों के लिये बहुमत से चन्दा जमा कर सकते थे, परन्तु शर्त यह थी कि यह राजनैतिक कोष अन्य कोषों से पृथक रहना चाहिये और किसी सदस्य को चन्दा देना अनिवार्य नहीं हो।

प्रथम महायुद्ध और उसके बाद—प्रथम महायुद्ध के समय श्रम संघों और उनके सदस्यों की संख्या में आशातीत वृद्धि हुई। संघों की सदस्यता १६१४ में ४ मिलियन [redacted] बढ़कर १६२० में ८ मिलियन हो गई। संघों का निर्माण रेल्वे, यातायात, छपाई और अन्य व्यवसायों में स्थापित हुए। उसके अतिरिक्त इस काल में बड़ी २ राष्ट्रीय संघो की प्रवृत्ति संयुक्तिकरण की ओर थी। युद्ध काल मे देशहित को ध्यान में रख कर श्रम संस्थाओं ने अपनी माँगें स्थगित कर दी। युद्ध के पश्चात् श्रमिकों मे असन्तोष की एक लहर सी दौड़ गई। समझौता कराने के लिये राष्ट्रीय उद्योग परिषद की स्थापना सरकार द्वारा की गई। फिर भी श्रमिकों का असन्तोष कम नहीं हुआ और वे अधिकारों के लिये हड़ताल का सहारा लेने लगे। फलस्वरूप १६२६ मे कोयला उद्योग में हड़ताल हुई। इसकी सहानुभूति में ट्रेड यूनियन कांग्रेस द्वारा सम्पूर्ण देश में हड़ताल की गई।

अत १९२७ में श्रम विवाद एवं श्रम संघ अधिनियम बनाया गया जिसके अन्तर्गत कुछ दशाओं में हड़ताल (Strike) को अवैधानिक (Illegal) घोषित कर दिया। इस अधिनियम पर तीव्र रोष प्रकट किया गया।

द्वितीय महायुद्ध:—इस युद्ध काल में श्रमिकों ने सरकार से पूर्ण सहयोग किया। श्रमिक आन्दोलन का राजनैतिक प्रभाव बढ़ गया और कई प्रसिद्ध श्रम नेता सरकार में लिये गये। राजनैतिक प्रभाव से सन १९२४, १९३१ और युद्धोपरान्त १९४५ में श्रम सरकार (Labour Govt.) बनी। १९४६ के श्रमिक विवाद और श्रमिक संघ अधिनियम द्वारा १९२७ के अधिनियम को समाप्त कर दिया गया।

श्रम संघों की व्यवस्था (Organisation of Trade Unions)

इङ्गलैंड में श्रम संस्थाएं जनतंत्रीय सिद्धान्तों पर आधारित हैं Trade Union Congress में सम्बन्धित लगभग सभी श्रम संस्थाएं हैं।

लगभग १९० संघ इस कांग्रेस से सम्बन्धित हैं। यह यूनियन अपना कार्य साधारण कार्यकारिणी द्वारा चलाती है। इस कार्यकारिणी के सदस्य श्रम संस्थाओं द्वारा चुने जाते हैं। T. U. C. के विभिन्न कार्यों के अनुरूप ही विभिन्न विभाग व सलाहकार समितियाँ हैं जैसे शिक्षा, अनुसंधान, आर्थिक सामाजिक कार्य, बीमा, महिला समस्याएं अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध आदि।

इङ्गलैंड का श्रमिक आन्दोलन अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक आन्दोलन से भी सम्बन्धित है। T. U. C. विश्व फेडरेशन ऑफ ट्रेड यूनियन से सम्बन्धित है अन्य देशों के श्रमिक संघों से भी इसका सम्पर्क है। महत्वपूर्ण विषयों पर विचार विमर्श करने के लिये सहायक अन्तर्राष्ट्रीय समितियाँ हैं।

इस एक शताब्दी के लम्बे संघर्ष के कारण ही अब श्रम संगठन इस योग्य बन गये हैं कि वे अपने स्वार्थों की सुरक्षा कर सकें। वे राष्ट्रीय हित को समझने लगे हैं और शांतिपूर्ण तरीकों में ही विश्वास करते हैं। हड़तालें भी हुई हैं परन्तु बहुत कम और प्रायः समझौतों द्वारा ही झगड़ों को तय किया गया है। श्री बेवन के शब्दों में, "प्रजातन्त्रीय देशों में श्रमिकों के पास हड़ताल का हथियार महान शक्ति का प्रतीक है परन्तु यहाँ उन्होंने ऐसे उपाय खोज निकाले हैं कि उनकी कठिनाइयों का समाधान इस हथियार की बिना सहायता के हो सके।

इंगलैंड में श्रमिक संघों ने जो सफलताएं प्राप्त की हैं वे हैं वेतन दर में वृद्धि, कार्य के घण्टों व दशाओं में परिवर्तन, अपने सम्मान व संगठन में वृद्धि और सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र में राज्य से कई लाभ प्राप्त कर लेना। श्रम कल्याणकारी कार्य इतने

विस्तृत और सुसंगठित हैं कि विश्व के देशों और मुख्यकर भारतवर्ष के लिये आदर्श व अनुकरणीय हैं। श्रमिकों के जन्म व मृत्यु तक की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करना इन संघों के उद्देश्य है। गृह व्यवस्था, पानी, बिजली, शिक्षा, चिकित्सा, बेकारी, दुर्घटना, वृद्धावस्था पेन्शन तथा मनोरंजन आदि की उचित व्यवस्था है। ये सफलताएँ कम नहीं हैं। आज इंगलैंड का श्रमिक जीवन स्तर और सामाजिक सुरक्षा की दृष्टि से किसी भी अन्य राष्ट्र के श्रमिक से उत्तम स्थिति में है। विशेष बात यह है कि वहां के श्रमिकों ने यह सफलता किसी विप्लव के द्वारा नहीं बल्कि शान्तिपूर्ण संघर्ष के कारण ही प्राप्त की है। इस प्रकार ब्रिटिश श्रमिक संघ आन्दोलन अन्य औद्योगिक देशों के लिये प्रेरणा का स्रोत है।

सारांश (Summary)

औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व श्रमिक संघों का अस्तित्व नहीं था क्योंकि अधिकतर उत्पादन कार्य श्रमिकों के घरों पर होता था।

सहकारी भावना पर आधारित कारीगर संघों के पतन के बाद कुछ व्यवसायों में लगे कारीगरों के संघ बने जिनको अवैधानिक (Illegal) घोषित कर दिया गया था।

औद्योगिक क्रान्ति के बाद बड़े २ कारखानों के स्वामी पूंजीपति श्रमिकों का विभिन्न प्रकार से शोषण करने लगे। श्रमिक वर्ग अपनी स्थिति सुधारने के लिये संघों की स्थापना करने लगे। इस प्रकार श्रमिक संघ औद्योगिक क्रांति की ही देन है।

इन प्रारम्भिक संघों को १७९९-१८०० के Combination Laws के द्वारा अवैध घोषित कर दिया गया। मैत्री समितियां (Friendly Societies) उस समय अवश्य थीं जो सदस्यों को आवश्यकता पड़ने पर आर्थिक सहायता देती थीं। कुछ समितियां गुप्त रूप से भी कार्य करती थीं।

सन् १८२४ के अधिनियम द्वारा सर्व प्रथम श्रमिक संघों को वैधानिक मान्यता दी गई। इसके बाद कई हड़तालें हुई जिनके कारण १८२५ में हड़ताल करने वालों को दण्ड देने की व्यवस्था की गई। १८२४ और १८४३ के मध्य कई संघ स्थापित हुए।

१८४३ के बाद संघों के संगठन, तरीकों और उद्देश्यों आदि में कई परिवर्तन हुए।

१८७१ में Trade Union Act बना जिसके द्वारा संघों का रजिस्ट्रेशन हो सकता था और संघ सम्पत्ति रख सकते थे।

१८७५ के अधिनियम द्वारा शान्तिपूर्ण धरना देने की श्रमिकों को छूट दी गई। १८७० से १८८० तक कई नये २ संघों का निर्माण हुआ। कृषि श्रमिकों और अन्य व्यवसायों के श्रमिकों के संघ भी बने।

अध्याय ११

सामाजिक सुरक्षा और बीमा

(SOCIAL SECURITY & INSURANCE)

"Social Insurance is a collective or co-operative method of protecting individuals against the chief risks of life".

—A. Birnie.

प्रत्येक मनुष्य के जीवन में प्रति क्षण किसी न किसी आकस्मिक दुर्घटना (Accident) या संकट का भय बना रहता है—जैसे मृत्यु, बीमारी, बेकारी, वृद्धावस्था आदि। एक अच्छे समाज में इन संकटों से लोगों की सुरक्षा (Security) करना अत्यन्त आवश्यक है ताकि व्यक्ति इन दुर्घटनाओं के भय से मुक्त होकर समाज में अपने कर्तव्य को पूरा कर सकें।

प्राचीनकाल में समाज का संगठन भिन्न प्रकार था। परिवार बड़े आकार के सयुक्त (Joint) होते थे। जातीय और वंश परम्पराओं के आधार पर बीमारी, बेकारी और वृद्धावस्था के समय व्यक्ति की सहायता और सुरक्षा स्वतः ही हो जाती थी।

औद्योगिक क्रान्ति के बाद नगरों में श्रमिकों (Labourers) की संख्या बढ़ गई। संयुक्त परिवारों (Joint Families) के स्थान पर छोटे आकार के परिवार बन गये और लोगों में व्यक्तिवाद (Individualism) की भावना का उदय हुआ। अब संकट के समय श्रमिकों की सुरक्षा का उत्तरदायित्व सारे समाज या राष्ट्र पर आ गया। इन दुर्घटनाओं और संकटों से सुरक्षा प्रदान करने के लिये समाज में जिन योजनाओं की व्यवस्था की गई, वे सब सामाजिक सुरक्षा या बीमा की योजनायें कहलाती हैं।

आजकल एक प्रजातन्त्र और कल्याणकारी राज्य (Welfare State) में सामाजिक सुरक्षा या बीमे की व्यवस्था अनिवार्य समझी जाती है। श्रमिक वर्ग प्रत्येक राष्ट्र में समाज का एक महत्वपूर्ण अंग होता है। यह कहा जाता है कि प्रत्येक नागरिक के लिये जन्म से मृत्यु तक की सुरक्षा का उत्तरदायित्व राज्य के ऊपर होना चाहिये अर्थात् बीमारी, बेकारी, जच्चा, वृद्धावस्था और दुर्घटनाओं से सुरक्षा की व्यवस्था राज्य को करनी चाहिये। परन्तु क्रियात्मक रूप में अभी राष्ट्र इस आदर्श से दूर हैं।

सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी योजनाओं को आरम्भ करने का श्रेय जर्मनी को है जहाँ गत शताब्दी में बिस्मार्क (Bismark) के प्रयत्नों से श्रमिकों के बीमें की व्यवस्था की गई।

१६ वीं शताब्दी में इंगलैंड में 'निर्धनता अधिनियम' (Poor Laws) के अन्तर्गत आर्थिक सहायता अनाथों, निर्धनों, विधवाओं आदि को दी जाती थी। १८३३ में सर्व प्रथम सरकार द्वारा शिक्षण संस्थाओं को आर्थिक सहायता देना आरम्भ हुआ। कुछ चेतन श्रमिकों ने अपने सहयोगियों द्वारा मैत्री संघों (Friendly Societies) का निर्माण किया, जिनके द्वारा आवश्यकता के समय सदस्यों को आर्थिक सहायता की जाती थी। श्रमिक संघ आन्दोलन के विकसित होने पर श्रम कल्याणकारी कार्यों का आयोजन इनके द्वारा होने लगा।

वास्तव में इंगलैंड में सामाजिक सुरक्षा का आरम्भ बीसवीं सदी में हुआ। सर्व प्रथम वृद्धावस्था के लिये पेन्शन की व्यवस्था वृद्धावस्था पेन्शन अधिनियम (Old Age Pension Act) १९०८ के अन्तर्गत की गई। सन् १९११ में राष्ट्रीय स्वास्थ्य बीमा (National Health Insurance) अधिनियम द्वारा बीमारी व बेकारी के बीमे की व्यवस्था की गई। इसके बाद तो वहाँ इस क्षेत्र में आश्चर्यजनक उन्नति हुई।

सन् १९४२ में सर विलियम बेवेरिज (Sir William Beveridge) ने सामाजिक सुरक्षा के लिये एक बहुत ही व्यापक योजना प्रस्तुत की, जिसे बेवरिज योजना (Beveridge Plan) कहा जाता है। इस योजना के आधार पर ही सन् १९४६ में कानून बनाकर इंगलैंड के प्रत्येक नागरिक के लिये व्यापक सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र की व्यवस्था कर दी गई है। इसमें जीवन में घटित होने वाले प्रायः सब संकटों से सुरक्षा का प्रबन्ध है। आज इंगलैंड सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र में विश्व में सबसे अग्रगण्य है। वहाँ कुल राष्ट्रीय आय का १०% सामाजिक सुरक्षा पर व्यय किया जाता है।

ब्रिटेन की सामाजिक सुरक्षा का अध्ययन हम निम्न योजनाओं के अन्तर्गत कर सकते हैं—

(१) श्रमिक क्षतिपूर्ति व्यवस्था (Workman's Compensation)—दुर्घटना के समय श्रमिक की हानि पूर्ति करने की व्यवस्था सर्वप्रथम सन् १८८० में की गई, जिसका स्थान १८९७ में श्रमिक क्षतिपूर्ति अधिनियम ने ले लिया। यह अधिनियम केवल ऐसे उद्योगों में लागू किया गया जिनमें जोखिम (Risk) का अधिक भय था। इसके अतिरिक्त इसके अन्तर्गत क्षतिपूर्ति की राशि लेने के लिये श्रमिकों को न्यायालयों में जाना पड़ता था। इन दोषों को दूर करने के लिये सन् १९०६ में एक नया अधिनियम पारित हुआ जो सब उद्योगों पर लागू किया गया। इस अधिनियम के अन्तर्गत वे सारे श्रमिक

ब्रिटेन की सामाजिक योजना के अंग
(१) श्रमिक क्षति पूर्ति व्यवस्था
(२) वृद्धावस्था पेन्शन
(३) स्वास्थ्य बीमा
(४) बेकारी का बीमा
(५) बेवरिज योजना

आ गये जिनकी वार्षिक आय २५० पौंड से कम थी। श्रमिकों को स्थायी या आंशिक क्षति के लिये आजीवन भत्ता या औसत साप्ताहिक आय की आधी राशि क्षतिपूर्ति के रूप में देने की व्यवस्था की गई परन्तु इसके साथ ही यह शर्त थी कि क्षति जानबूझ या श्रमिक की असावधानी के कारण न हुई हो।

वृद्धावस्था पेन्शन योजना (Old Age Pension Scheme)—सन् १९०७ में वृद्धावस्था पेन्शन अधिनियम बनाया गया जो जनवरी १९०९ में लागू किया गया। इस अधिनियम के द्वारा ७० वर्ष की आयु के बाद प्रत्येक ब्रिटिश नागरिक को पेन्शन देने की व्यवस्था की गई। पेन्शन पाने के लिये यह आवश्यक था कि (i) वह व्यक्ति ब्रिटेन का नागरिक हो (ii) उसकी वार्षिक आय ३१½ पौंड से अधिक न हो (iii) उसको 'निर्धनता कानून' (Poor Law) के अन्तर्गत आर्थिक सहायता नहीं मिलती हो। श्रमिकों और मिल मालिकों को इसमें चन्दा देना अनिवार्य नहीं था। इस प्रकार पेन्शन देने का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व सरकार पर ही था। बाद में श्रमिकों और मिल मालिकों द्वारा चन्दा देना आवश्यक कर दिया।

(३) स्वास्थ्य बीमा (Health Insurance)—१९०५ में नियुक्त शाही आयोग (Royal Commission) की सिफारिशों के फलस्वरूप १९११ में राष्ट्रीय स्वास्थ्य बीमा अधिनियम स्वीकृत हुआ। यह अधिनियम जर्मनी के आदर्श पर बनाया गया था। इस अधिनियम की मुख्य धाराएं (Clauses) निम्नलिखित हैं:—

(i) १६ वर्ष से ६५ वर्ष की आयु वाले समस्त ब्रिटिश श्रमिकों के लिये स्वास्थ्य बीमा अनिवार्य कर दिया गया।

(ii) श्रमिक, नियोजक और सरकार द्वारा चन्दा देना आवश्यक कर दिया गया।

(iii) श्रमिकों को निम्न लाभ प्राप्त हुए:—

(अ) निःशुल्क डाक्टरी जांच, औषधि और चिकित्सा।

(ब) बीमारी के समय प्रत्येक पुरुष को १० शिलिंग प्रति सप्ताह और प्रत्येक स्त्री को ७½ शिलिंग प्रति सप्ताह की आर्थिक सहायता।

(स) २६ सप्ताह लगातार बीमार रहने पर अयोग्यता भत्ता।

(द) बीमा किये हुए श्रमिक की पत्नी को प्रसूति (Maternity) के लिये ३० शिलिंग प्रति सप्ताह।

बाद में संशोधित अधिनियमों में चन्दे और लाभ की दरों में परिवर्तन किये गये। सन १९४० में इस योजना के अन्तर्गत लगभग दो करोड़ व्यक्ति लाभ उठा रहे थे।

(४) बेकारी का बीमा (Unemployment Insurance)—यह वास्तव में ब्रिटिश सामाजिक सुरक्षा के इतिहास में एक अभूतपूर्व कदम था। इसको सन १९११ के राष्ट्रीय स्वास्थ्य बीमा अधिनियम के अन्तर्गत लागू किया गया। इसकी मुख्य बातें निम्न

प्रचार थीं—(i) यह योजना आरम्भ में उन्हीं उद्योगों में व्यवहार में लाई गई जिनमें अधिक बेरोजगारी फैली हुई थी। (ii) धीरे २ इसे अन्य उद्योगों पर भी लागू कर दिया गया। (iii) आर्थिक व्यवस्था की पूर्ति एक कोष द्वारा होती थी जिसमें प्रत्येक श्रमिक को २½ पैंस, मालिक को प्रत्येक श्रमिक के लिये २½ पैंस और सरकार को प्रत्येक श्रमिक के लिये १⅔ पैंस प्रति सप्ताह चन्दा देना अनिवार्य था। (iv) प्रत्येक श्रमिक को बेकारी के काल में ७ शि० प्रति सप्ताह आर्थिक सहायता दी जाती थी। (v) एक वर्ष में अधिक से अधिक १५ सप्ताह तक यह लाभ प्राप्त हो सकता था।

प्रथम महायुद्ध के समय बेकारी घटने के कारण इस योजना को अधिक सफलता मिली और बीमा कोष में अधिक धनराशि जमा हो गई।

१९२१ में बेकारी बीमा अधिनियम (Unemployment Insurance Act) बनाया गया जिसके अन्तर्गत कई और उद्योगों को भी सम्मिलित कर लिया गया। बेकारी बीमा योजना के क्षेत्र को विस्तृत कर बेकार या आश्रित व्यक्तियों पर भी इसको लागू किया गया। लाभ की राशि बढ़ा कर पुरुषों के लिये १५ शि० और स्त्रियों के लिये १२ शि० प्रति सप्ताह कर दी गई।

विश्व मन्दी (World Economic Depression) के समय इस योजना की प्रगति रुक गई। बेकारी बढ़ने से लाभ प्राप्त करने वालों की संख्या बढ़ती गई। फलस्वरूप आर्थिक सहायता ऋण लेकर दी गई। अतिरिक्त चन्दे की दरें बढ़ा दी गई तथा लाभ की मात्रा घटा दी गई।

सन् १९३१ में योजना की जाँच करने के लिये एक शाही आयोग (Royal Commission) नियुक्त हुआ जिसकी सिफारिशों पर सन १९३४ में महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये। बेकार सहायता प्रमण्डल (Unemployment Assistance Board) स्थापित किया गया जिसका आर्थिक दायित्व सरकार का था। लाभ की कमी को पूरा किया गया और चन्दे की दरें भी घटा कर पहले के समान कर दी गईं।

सन १९३६ में इस योजना को कृषि श्रमिकों तक बढ़ा दिया गया। अगले वर्ष वृद्धावस्था पेन्शन और विधवा पेंशन बेकार व्यक्तियों के क्षेत्र तक बढ़ा दी गई। युद्ध काल में बेकार सहायता प्रमण्डल (Unemployed Assistance Board) का परिवर्तित नाम 'सहायक प्रमण्डल' कर दिया गया।

(५) बेवरिज योजना (Beveridge Plan)—सन १९४१ में सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था की जांच करने और सिफारिश करने के लिये श्री बेवरिज की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की गई जिसकी रिपोर्ट १९४२ में प्रकाशित हुई। यह योजना विश्व के सामाजिक सुरक्षा के इतिहास में एक क्रान्तिकारी कदम है। इस योजना का मुख्य उद्देश्य ब्रिटेन में प्रचलित सामाजिक बीमे की विभिन्न योजनाओं को एक सूत्र में

बीवकर ब्रिटेन के सब नागरिकों को जीवन के प्राय: सब सम्भावित खतरों से सुरक्षा प्रदान करना था। वेवरिज की यह प्रसिद्ध 'पंचसूत्री सहायता' (Five Point Assistance Plan) कहलाती है जिसमे आवश्यकता, रोग, अज्ञान, गन्दगी और आलस्य सम्मिलित हैं। आलस्य से तात्पर्य अनैच्छिक बेकारी से है। संक्षेप में इस योजना का उद्देश्य व्यक्तियों की जन्म से मृत्यु तक (From the Cradel to the grave) सुरक्षा करना है।

योजना की मुख्य बातें निम्न प्रकार हैं:—

(१) सर्व व्यापकता:—इस योजना में सब लोगों को सम्मिलित किया गया है चाहे उनकी आय कुछ भी हो।

(२) समाज का वर्गीकरण (Classification)—इस योजना के अन्तर्गत सारे समाज को ६ वर्गों में विभाजित किया गया है —

(i) सेवक:—वे श्रमिक या कर्मचारी जो सेवा के लिये साधारण वेतन में नियोजित हैं।

(ii) अन्य स्वतन्त्र कार्यों में लगे व्यक्ति:—इस वर्ग में मिल मालिक, नियोजक, व्यापारी और स्वतन्त्र कारीगर सम्मिलित हैं।

(iii) गृहणियाँ:—विवाहित स्त्रियाँ जो कार्यशील आयु की हैं।

(iv) अन्य व्यक्ति:—जो कि अर्ध बेकारी की अवस्था में है।

(v) अवयस्क (Minors):—कार्य करने की आयु से छोटे—१६ वर्ष से कम आयु के लड़के और लड़कियाँ।

(vi) सेवामुक्त वृद्ध व्यक्ति:—अर्थात् अवकाश प्राप्त (Retired) व्यक्ति।

३. चन्दा अनिवार्य:—मालिक या अन्य धनिक चाहे इस योजना से लाभ उठायें या न उठायें, परन्तु चन्दा देना प्रत्येक नागरिक के लिये अनिवार्य है।

४. चन्दे और लाभ की दरें मूल्य स्तर के अनुसार घटती बढ़ती रहेंगी।

५. वित्त व्यवस्था:—इस योजना की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये लगभग ८० करोड़ पौंड की राशि का अनुमान किया गया था जिसे श्रमिकों, मालिकों और राज्य तथा प्रदत्त चन्दे से पूरा किया जायगा।

६. लाभ:—प्रथम वर्ग के प्रत्येक व्यक्ति को बेकारी, अयोग्यता, पेन्शन, चिकित्सा और दाहसंस्कार व्यय सम्बन्धी लाभ प्राप्त होंगे। द्वितीय और चतुर्थ वर्ग के लोगों को बेकारी और अयोग्यता को छोड़कर सभी लाभ प्राप्त होंगे। तृतीय वर्ग में प्रसवकालीन लाभ, वैधव्य सहायता, तलाक और अवकाश सम्बन्धी स्त्री सहायता तथा कार्य में नियोजित गृहणियों के लिये प्रसवकालीन लाभ में १३ सप्ताह अवकाश सम्मिलित

है। विधवाओं को आश्रितों (Dependents) के पालन पोषण के लिये संरक्षक लाभ मिलेगा। पांचवां वर्ग राष्ट्रीय कोष से बालक रूप में लाभ प्राप्त करेगा। छठवां वर्ग अवकाश ग्रहण करने पर ही पेन्शन लाभ प्राप्त करेगा।

७ व्यवस्था—सामाजिक सुरक्षा मन्त्रालय की स्थापना की जायगी जो इस योजना के कार्यक्रमों के लिये उत्तरदायी (Responsible) होगा और सरकारी तथा स्थानीय विभागों की सहायता से कार्य करेगा।

राष्ट्रीय बीमा (National Insurance)—बेवरिज योजना के आधार पर फरवरी १९४६ में ब्रिटेन में राष्ट्रीय बीमा अधिनियम बनाया गया। इस अधिनियम में बेवरीज योजना की प्रायः सब महत्वपूर्ण बातों का समावेश कर लिया गया।

सन १९४८ से यह अधिनियम पूर्णरूप से लागू हुआ। समय २ पर इसमें अनेक परिवर्तन हुए। १९५७ में हुए परिवर्तनों के अनुसार चन्दे और लाभ की दरें निम्न प्रकार हैं—

चन्दे की दरें

वर्ग	पुरुष		स्त्रियाँ	
	१८ वर्ष से अधिक	१८ वर्ष से कम	१८ वर्ष से अधिक	१८ वर्ष से कम
	शि० पैंस	शि० पैं०	शि० पैं०	शि० पैंस
१. रोजगार में लगे व्यक्ति.—				
(i) श्रमिकों द्वारा चन्दा	९—५	५—३	७—८	४—६
(ii) मिलमालिकोंद्वारा चन्दा	८—१	४—९	६—७	३—१०
२. स्वयं रोजगार व्यक्ति (व्यापारी आदि)	११—६	६—७	९—८	५—९
३. बेकार व्यक्ति	९—१	५—३	७—३	४—४

प्राप्त आर्थिक लाभ (Economic benefits):—

(१) बीमारी तथा बेकारी में समान लाभ—बीमारी अथवा बेकारी के समय ५० शि० प्रति सप्ताह मिलना, आश्रितों का भत्ता—वयस्क के लिये ३० शि०, १ बच्चे पर १५ शि०, अन्य बच्चों पर ७ शि० प्रति सप्ताह मिलेगा। बेरोजगारी का लाभ ३० सप्ताह तक मिलता है और यह अधिक से अधिक १९ महीनों तक मिल सकता है।

(२) जच्चाओं को.—इसके लिये १२॥ पौ० की आर्थिक सहायता मिलती है, और भत्ता (Allowance) ५० शि० प्रति सप्ताह है।

(३) विधवा स्त्रियों (Widows) को:—किसी स्त्री के पति की मृत्यु पर ७० शि० तथा १ बच्चे पर २० शि० और अन्य बच्चों पर १२ शि० प्रति सप्ताह मिलेगा।

(४) संरक्षक भत्ता:—जो संरक्षक (Guardian) बनकर किसी ऐसे बच्चे का पालन करते हैं जिनके माता-पिता जीवित नहीं हों तो उसको २७॥ शि० प्रति सप्ताह भत्ता मिलेगा।

(५) अवकाश प्राप्त पेन्शन:—प्रत्येक पुरुष को ६१ वर्ष तथा स्त्री की ६० वर्ष की आयु पर ५० शि० प्रति सप्ताह पेन्शन दी जायगी। सेवामुक्त कर्मचारी को अपनी पत्नी के लिये ४० शि० की दर से भत्ता मिलेगा। इसके अतिरिक्त इस के आश्रितों को भी भत्ता मिलने की व्यवस्था है।

(६) मृत्यु अनुदान:—एक वयस्क (Adult) की मृत्यु पर २५ पौंड तथा बच्चे की मृत्यु पर छोटी राशि अनुदान में मिलेगी।

राष्ट्रीय औद्योगिक हानि बीमा योजना
(National Insuarnce for Industrial Injuries)

जुलाई १९४८ में यह अधिनियम बना जिसकी प्रमुख बातें निम्न प्रकार हैं:—

(१) कार्य करते हुए चोट लगने पर एक श्रमिक को ८५ शि० प्रति सप्ताह उसके कार्य करने योग्य होने तक मिलेगा। इसके अतिरिक्त आश्रित भत्ता वयस्क के लिये ३० शि०, प्रथम बच्चे के लिये १५ शि० और अन्य बच्चों के लिये ७ शि० प्रति सप्ताह मिलेगा।

(२) सदैव के लिये कार्य के अयोग्य (Parmanent Disatility) होने पर निम्न लाभ प्राप्त होंगे.—

(i) अधिकाधिक अनुदान २८० पौंड तक,
(ii) ८५ शि० प्रति सप्ताह भत्ता,
(iii) देखभाल के लिये ३५ से ७० शि० तक भत्ता
(iv) बेकारी सहायता ५० शि० तक
(v) विशेष आपत्ति भत्ता ३४ शि० तक

(३) मृतक की विधवा को ७० शि० प्रति सप्ताह, प्रथम बच्चे के लिये २० शि० और अन्य बच्चों के लिये १२ शि० प्रति सप्ताह इस प्रकार इन अधिनियमों के लागू हो जाने से अब ब्रिटेन में सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र में आदर्श परिस्थितियां लागू हो गई हैं। ब्रिटेन के नागरिकों को इस योजना ने जीवन के सब कष्टों—जन्म से मृत्यु तक (from the cradle to the grave) की चिन्ता से मुक्त कर दिया है।

सारांश (Summary)

प्रत्येक मनुष्य को प्राकृतिक आपत्तियो का सामना करना पड़ता है जैसे बीमारी, बेकारी, मृत्यु, वृद्धावस्था आदि। प्राचीन काल मे इन संकटों से सुरक्षा पारिवारिक व जातीय परम्पराओ के आधार पर हो जाती थी।

औद्योगिक क्रान्ति के कारण श्रमिकों की संख्या बढ़ी और व्यक्तिवाद की भावना तथा छोटे परिवारो के कारण संकटों से सुरक्षा का भार राष्ट्र पर आ गया। सामाजिक सुरक्षा और बीमा योजना द्वारा राष्ट्रीय स्तर पर दुर्घटनाओं से सुरक्षा की व्यवस्था की जाने लगी। यह माना जाता है कि प्रत्येक नागरिक के लिये जन्म से मृत्यु तक की सुरक्षा का उत्तरदायित्व सरकार पर होना चाहिये।

इन योजनाओ का आरम्भ सर्वप्रथम जर्मनी मे हुआ। इंगलैंड में पहले Poor Laws के अन्तर्गत आर्थिक सहायता दी जाती थी। कुछ मैत्री संघ और बाद मे श्रमिक संघ यह कार्य करते थे।

(१) क्षति पूर्ति व्यवस्था—सरकारी स्तर पर श्रमिक क्षति पूर्ति व्यवस्था अधिनियम १८६७ में बना जो अधिक व्यापक नही था। सन् १९०६ का अधिनियम सब उद्योगो पर लागू किया गया और भत्ता क्षति पूर्ति के रूप मे देने की व्यवस्था की गई।

(२) वृद्धावस्था पेन्शन योजना:—१९०७ के अधिनियम द्वारा ७० वर्ष की आयु के बाद प्रत्येक ब्रिटिश नागरिक को जिसकी आय ३१½ पौंड से कम हो पेन्शन देने की व्यवस्था की गई। इसका सारा आर्थिक उत्तरदायित्व सरकार पर ही था।

(३) स्वास्थ्य बीमा—१९११ के राष्ट्रीय स्वास्थ्य बीमा अधिनियम को १६ से ६५ वर्ष वाले श्रमिको पर लागू किया गया जिसमें श्रमिक, नियोजक और सरकार द्वारा चन्दा देना अनिवार्य था। श्रमिकों की निशुल्क चिकित्सा, बीमारी के समय आर्थिक सहायता, अयोग्य भत्ता, और प्रसूति भत्ता देने की व्यवस्था की गई।

(४) बेकारी का बीमा:—इसको भी १९११ के राष्ट्रीय स्वास्थ्य बीमा अधिनियम के अन्तर्गत बेकारी के समय आर्थिक सहायता देने के लिये लागू किया गया इसमें भी श्रमिक, मिल मालिक व सरकार द्वारा चन्दा देना अनिवार्य था।

१९२१ के अधिनियम द्वारा इस योजना के क्षेत्र को विस्तृत कर दिया गया और लाभ की मात्रा बढ़ा दी गई। मन्दी काल में चन्दे की दरें बढ़ाई गईं और लाभ की मात्रा कम कर दी गई। १९३४ मे अनेक परिवर्तन किये गए। फलस्वरूप लाभ की कमी पूरी हो गई और चन्दे की दरें पूर्ववत कर दी गईं १९३६ मे यह योजना कृषि श्रमिकों पर भी लागू कर दी गई।

(५) बेवरेज योजना—१९४२ मे सर विलियम बेवरिज द्वारा रचित योजना का उद्देश्य ब्रिटिश नागरिको को जीवन के सब खतरो से सुरक्षा प्रदान करना था।

इस योजना ने समाज को ६ वर्गों में बाटा—सेवक, मालिक, गृहणियाँ, अर्ध बेकार व्यक्ति, अल्पवयस्क, और सेवा मुक्त वृद्ध व्यक्ति। प्रत्येक वर्ग के लिये सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था की गई जैसे क्षतिपूर्ति बेकारी, वृद्धावस्था पेन्शन आदि भत्ते। स्त्रियो को विवाह के समय तथा बच्चो के पालने के लिये आर्थिक सहायता देने का प्रबन्ध किया गया। चन्दा देना प्रत्येक नागरिक के लिये अनिवार्य था। चन्दे की दरें और लाभ की मात्रा मूल्य स्तर के अनुसार घटती बढती रहेगी।

राष्ट्रीय बीमा—इस योजना के आधार पर १९४६ में राष्ट्रीय बीमा अधिनियम बना जो १९४८ में लागू हुआ। इसके अन्तर्गत (१) रोजगार में लगे व्यक्ति, (२) स्वतंत्र व्यवसाय के व्यक्ति और (३) बेकार व्यक्ति तथा मिल मालिक द्वारा चन्दा देना अनिवार्य है।

इस योजना से निम्न लाभ है—(१) बीमारी व बेकारी में आर्थिक सहायता, (२) जच्चाओ को भत्ता, (३) विधवाओं को भत्ता, (४) संरक्षणों को भत्ता, (५) अवकाश प्राप्ति पर पेन्शन, (६) मृत्यु होने पर अनुदान।

राष्ट्रीय औद्योगिक हानि बीमा—१९४८ के इस अधिनियम द्वारा :—

(१) कार्य करते हुए चोट लगने पर क्षतिपूर्ति के रूप में भत्ता मिलना।

(२) सदैव के लिये कार्य के अयोग्य होने पर विभिन्न रूप मे आर्थिक सहायता, तथा

(३) मृतक की विधवा को भत्ता देने की व्यवस्था की गई।

इस प्रकार इन योजनाओ द्वारा वहा के लोगों को जन्म से मृत्यु तक के सब कष्टों की चिन्ता से मुक्त करने की व्यवस्था की गई है।

प्रश्न

1. What do you mean by Social Insurance ? How has it been provided in England ?

(Raj Uni. Iyr. T.D.C. 1961 and R.U.B. Com. 1949 & 1959)

सामाजिक बीमे से आप क्या अर्थ लगाते हैं ? इंगलैंड में इसकी किस प्रकार व्यवस्था की गई है ?

(रा०वि० टी०डी०सी० I वर्ष १९६१,रा०वि० बी०कॉम० १९४९ & १९५९)

2. What are the provisions of National Insurance Act ? How has it influenced the condition of labour ?

राष्ट्रीय बीमा अधिनियम की मुख्य धाराएं क्या हैं ? इसने श्रमिक दशा को किस प्रकार प्रभावित किया है ?

3. Give a brief appraisal of the Soical Insurance Schemes in Great Britain after the first world war.

(Raj. Uni. B, Com., 1960)

प्रथम महायुद्ध के बाद ग्रेट ब्रिटेन की सामाजिक बीमा योजनाओं की संक्षिप्त समीक्षा कीजिये। (राज०वि० बी० कॉम०, १९६०)

अध्याय १२

सड़क और नहर यातायात
(ROAD & CANAL TRANSPORT)

"British Roads are regarded as inadequate for the traffic they have to bear". —Southgate

"यह कहना पर्याप्त है कि १८ वीं शताब्दी के अन्त तक इंगलैंड मे नहरो का जाल बिछ गया।" —साउथगेट

यातायात के साधनों का देश के आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक विकास मे विशेष महत्व है। औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) के फलस्वरूप उद्योग और व्यापार का विकास हुआ। इनके विकास के साथ २ ही यातायात के साधनों मे भी प्रगति हुई। १७ वी शताब्दी तक इंगलैंड के यातायात के साधनों की बड़ी दुर्दशा थी। यातायात के नाम पर केवल घोडे और खच्चरों का ही प्रयोग होता था। उद्योग धन्धे अविकसित थे, जनसंख्या कम थी तथा पूंजी का अभाव था। १८ वी शताब्दी से सड़कों और नहरों का विकास हुआ। १९ वी शताब्दी मे रेलों व स्टीमशिपो के निर्माण से इंगलैंड की औद्योगिक व व्यावसायिक प्रगति तीव्र गति से हुई।

यातायात के साधनो को अध्ययन की दृष्टि से पांच भागो मे विभाजित किया जा सकता है—सड़क, नहर, रेल, जहाजरानी और वायु यातायात। इनमें से प्रथम दो भागों अर्थात् सड़क और नहर यातायात का वर्णन इस अध्याय में किया जा रहा है।

(१) सड़क यातायात (Road Transport)

यह ठीक ही कहा गया है कि—"For many centuries English roads were in a most unsatisfactory condition"

बहुत समय तक इंगलैंड मे सड़को की दशा बहुत असन्तोषजनक थी। सड़कें कच्ची, टूटी फूटी और यात्रा के लिये असुरक्षित थीं। गिबिन्स (Gibbins) के अनुसार "रोमन सड़कें, जो मध्य युग में अच्छी दशा मे थी समाप्तप्राय: और जीर्णावस्था मे थीं। नई सड़को का निर्माण तो दूर रहा पुरानी सड़कों की मरम्मत भी ठीक ढंग से नही की गई।" इस परिस्थिति में घोड़ों पर ही यात्रा करना सम्भव था। इस प्रकार सड़क यातायात खर्चीला, धीमा और असुविधाजनक था। सन् १५५५ के अधिनियम के द्वारा सड़को की देखभाल का उत्तर-

> **यातायात के साधन**
>
> (१) सड़क
> (२) नहर
> (३) रेल
> (४) जहाजरानी
> (५) वायु यातायात

दायित्व स्थानीय शासन क्षेत्र (Parish) पर डाल दिया गया, परन्तु यह अधिनियम कठोरता से नहीं लागू किया गया। ऑग एण्ड शार्प (Ogg & Sharp) के अनुसार "सड़कें केवल यात्रा के अयोग्य ही न थी परन्तु वहा चोर व डाकुओं का भी बाहुल्य था जिसके कारण यात्रा सुरक्षित न थी।"

१८ वी शताब्दी मे सुधार कार्य आरम्भ हुआ। राज्य की निर्बाध व्यापार नीति (*Laissez Faire Policy*) के कारण सरकार का कार्यक्षेत्र सीमित था। सड़क निर्माण कार्य निजी साहस (Private Enterprise) पर ही छोड़ दिया गया। सड़को पर नियंत्रण का अधिकार उन धनी व्यक्तियों को दे दिया गया, जो सड़क बनाने में पूंजी लगाते थे। ऐसी निजी सड़कों की व्यवस्था व निमंत्रण के लिये सड़को पर फाटक थे, जिससे प्रत्येक यात्री, पशु व सवारी से कर वसूल किया जा सके। उसी धन में से कुछ सड़कों को मरम्मत व सुधार पर व्यय कर दिया जाता था। इन धनी व्यक्तियों ने समूह के रूप में ट्रस्ट बना लिये थे, जिनको टर्न पाइक ट्रस्ट (Turn Pike Trust) कहते थे। इस प्रकार सड़क का आर्थिक भार जन साधारण पर न होकर सड़क का प्रयोग करने वालों पर था। श्री सी. आर. फे (C R Fay) के अनुसार "इस ट्रस्ट का कार्य एक निर्धारित दूरी तक सड़क का निर्माण करना था और यह माल ढोने वाले व्यक्तियों से कर वसूल करता था।"

ऐसे ट्रस्टो को मान्यता देने के लिये और सड़क निर्माण को प्रोत्साहित करने के लिये सन् १६६३ में टर्न पाइक अधिनियम (Turn Pike Act) बनाया गया। १७४५ में कुछ विद्रोहियो के भय से सड़क निर्माण को अधिक प्रेरणा (*Inspiration*) मिली और टर्नपाइक अधिनियमों की संख्या १७७४ तक ४२५ हो गई। परिणामस्वरूप सड़क निर्माण करने वाली ऐसी संस्थाओं की संख्या भी बढ़ गई और सड़क निर्माण कार्य प्रगति करने लगा। १७७३ में एक सामान्य टर्न पाइक अधिनियम विभिन्न अधिनियमों में समानता लाने के लिये बनाया गया। १८३१ के अधिनियम के अनुसार सड़को का उपयोग करने वालों पर अधिक कर लगाया जा सकता था। इससे ट्रस्टों की आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ।

इस प्रकार उपर्युक्त पद्धति से इंगलैंड में अच्छी सड़कें बनने लगी। परन्तु फिर भी सड़कों का विशेष विकास नहीं हो पाया। सड़को की दशा मे सुधार न होने के ३ प्रमुख कारण थे:—

(१) सड़क निर्माण की वैज्ञानिक विधियो का उस समय तक आविष्कार नहीं हुआ था। प्रसिद्ध यात्री श्री आर्थर यंग (Arthur Young) के अनुसार कुछ सड़कें ऐसी थी जिन पर चार २ फुट गहरे खड्डे पाये जाते थे।

(२) जनसंख्या कम थी और पूंजी का अभाव था। उन दिनों अच्छी सड़कों की आवश्यकता लोग अनुभव नहीं करते थे।

(३) सड़कों का निर्माण व मरम्मत निजी व्यक्तियों के हाथ में थे और सरकार का कार्यक्षेत्र सीमित था।

१८ वीं शताब्दी के आरम्भ में सड़क निर्माण विधियों में सुधार हुआ। बड़े २ इंजीनियर इस कार्य में रुचि लेने लगे। इनमें से तीन के नाम प्रसिद्ध हैं—(१) जोन मेटकाफ, (२) थोमस टेलफोर्ड और (३) जॉन मैकएडम।

(१) जोन मेटकाफ (John Metcalfe)—इनका कार्य इतना अच्छा था कि कई ट्रस्टों ने उनकी सेवाएं उपलब्ध की। १०६५ से १७९८ के बीच इंगलैंड के उत्तर में १८० मील लम्बी सड़कें इन्होंने बनवाईं।

(२) थोमस टेलफोर्ड (Thomas Teolford)—यह पुलें, नहरें और सड़कें बनाने में विशेष निपुण था। सन १८०२ में इसे स्काटलैंड में सड़क बनाने के लिये नियुक्त किया गया और १८२३ तक उसने वहाँ १०० मील लम्बी सड़क बनाई। उसने कई ट्रस्टों का एकीकरण किया।

(३) जॉन मैकएडम (John Mc Adam)—इन्हें १८०० में सड़क निर्माण में रुचि उत्पन्न हुई। इन्होंने पत्थर के छोटे छोटे टुकड़ों की कठोर सतह वाली सड़क बनाने की योजना बनाई। इस प्रकार की सड़क सर्वोत्तम सिद्ध हुई क्योंकि सड़क की पूरी सतह पर यातायात हो सकता था। इन सड़कों की प्रसिद्धि के कारण इनका नाम 'मैकएडम मार्ग' (Macadamised Roads) पड़ गया।

चेनी (Cheney)—के शब्दों में, "टेलफोर्ड, मैकएडम और अन्य इन्जिनियर तथा निजी टर्नपाइक कम्पनियों व स्थानीय सत्ताओं के प्रयत्नों से इंगलैंड में अच्छी सड़कों का निर्माण हो सका।" इस प्रकार कंक्रीट का प्रयोग कर पक्की सड़कों के निर्माण का द्वार खुल गया जिससे यात्रा में एक नई क्रान्ति आरम्भ हुई। अब सब ऋतुओं में यात्रा करना सरल हो गया।

ट्रस्टों के एकीकरण की प्रवृत्ति १८१५ से ही आरम्भ हो गई थी जिससे विशाल पूंजी वाले बड़े बड़े ट्रस्टों की स्थापना हो चुकी थी। इस समय औद्योगिक विकास और व्यापार की वृद्धि हो रही थी अतः यातायात के साधनों के विकास की अत्यन्त आवश्यकता थी। ट्रस्टों को रेलों की प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ा और उनकी आर्थिक स्थिति गिरने लगी। १८४० के बाद वे लुप्त होने लगे और १८७५ तक ट्रस्ट बिल्कुल समाप्त हो गये। अतः १८८८ में सरकार ने सड़कों का प्रबन्ध राष्ट्रीय परिषद तथा देहाती व शहरी हाईवे बोर्ड को सौंप दिया। इस प्रकार सड़क निर्माण का कार्य सरकारी नियन्त्रण में चला गया।

२० वीं शताब्दी के प्रारम्भ में मोटरों के आविष्कार से सड़कों की महत्ता बढ़ गई। सन १६०७ में मोटर व पेट्रोल पर कर लगाया गया जिसका कुछ अंश सड़क निर्माण व मरम्मत में व्यय किया जाने लगा। बढ़ती हुई औद्योगिक आवश्यकताओं को देखते हुए सड़कों को अधिक मजबूत, कमधूल उड़ाने वाली तथा कम आवाज करने वाली बनाया गया।

प्रथम महायुद्ध—प्रथम महायुद्ध काल में सड़को की दशा बिगड़ने लगी १६१८ में एक विशेष कोष स्थापित किया गया तथा जिसका उपयोग केवल सड़क विकास के लिये किया जा सकता था। सड़को को नवीन योजना के अनुसार ५ वर्गों में विभाजित किया गया—

(१) ट्रंक रोड जिसका समस्त आर्थिक उत्तरदायित्व सड़क कोष पर था।
(२) 'अ' वर्ग रोड जिसका ७५% व्यय सड़क कोष पर था।
(३) 'ब' वर्ग रोड जिसका ६०% व्यय सड़क कोष पर था।
(४) 'स' वर्ग रोड जिसका ५०% व्यय सड़क कोष पर था।
(५) अवर्गीत रोड।

शेष व्यय स्थानीय सत्ताओं द्वारा होता था। १६१६ में निर्मित यातायात मन्त्रि-मण्डल के आधीन निम्न कार्य रखे गये—

(१) सड़क-प्रबन्ध का केन्द्रीयकरण।
(२) मितव्ययता का प्रयत्न करना।
(३) सड़क निर्माण काल में उन्नति करना।
(४) नये पुलों का बनाना।
(५) सड़क निर्माण सम्बन्धी अनुसंधान कार्य करना।
(६) नई सड़कें बनाना।
(७) सड़कों की मरम्मत करना।

सन १६३० तक सड़क-रेल यातायात में तीव्र प्रतिस्पर्धा होने लगी। अत. मोटर यातायात पर नियन्त्रण लगाने के हेतु इसी वर्ष एक अधिनियम बना। यातायात कमिश्नरो को नियुक्त किया गया और मोटर चलाने की सीमा, समय व किराया निश्चित किया गया।

वर्तमान दशा—द्वितीय महायुद्ध के समय सड़कों के अधिक प्रयोग के कारण उनकी अवस्था बिगड़ती गई। दशा सुधारने के लिये युद्ध के बाद १६४६ में एक दस वर्षीय योजना बनाई गई। सन १६४८ में सड़कों के सुधार के हेतु सरकार ने सड़कों का राष्ट्रीयकरण कर दिया जिसके अनुसार केवल सरकार से लाइसेंस प्राप्त संस्थाओं को ही यात्रियों को ले जाने और माल ढोने का अधिकार दिया गया।

सड़क निर्माण और देख भाल के लिये दो समितियों की नियुक्ति की गई—(१) ब्रिटिश यातायात आयोग और (२) माल ढोने को कार्यकारिणी समिति। सन् १९५५ मे सरकार ने यातायात अधिनियम बनाकर सड़क यातायात को पुनः पूंजीपतियों के हाथों में सौप दिया और अभी तक यही व्यवस्था है।

ग्रेट ब्रिटेन में लगभग २ लाख मील लम्बी सड़कें हैं। प्रत्येक वर्ग मील क्षेत्र में २ मील सड़क है। सड़कों का वर्गीकरण ट्रैफिक के महत्व है। प्रथम महायुद्ध से ही मोटरों का प्रचलन अधिक बढ़ गया है और प्रत्येक १५ व्यक्ति के पीछे एक मोटर है। माल ढोने की व्यवस्था सड़क तथा रेल ट्रैफिक अधिनियम से नियन्त्रित है। सड़कों पर वार्षिक व्यय अधिक किया जा रहा है और यह अनुमान है कि १९६२ मे व्यय की राशि ७० मिलियन पौंड हो जायेगी। इस प्रकार सड़क यातायात का महत्व समझा जा रहा है और उसको प्राथमिकता दी जा रही है।

(२) नहर यातायात (Canal Transporr)

"नहर प्रणाली राष्ट्रीय परिवहन योजना का अंग बन सकती है।"

—शाही यातायात आयोग १९३०

औद्योगिक क्रान्ति के कारण भारी सामान विशेषकर कोयले को एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाने के लिये यातायात के उत्तम साधनों की आवश्यकता हुई। सड़कों मे सुधार हो जाने पर भी इस समस्या का हल नहीं हुआ क्योंकि गाड़ियों ढुलाई का कार्य सुव्यवस्थित नहीं हो पाता था। इस दोष को नहर निर्माण द्वारा ही दूर किया गया।

नॉवेल्स (Knowles) के अनुसार "नहरों की उत्पत्ति का तथ्य यह है कि ये कोयले की बढ़ती हुई माँग को पूर्ण कर रही थीं।" इस प्रकार कोयले की माँग बढ़ने से नहरें लाभदायक सिद्ध हुईं।

सन १७६० से १८३० का काल नहर निर्माण दृष्टि से स्वर्ण युग कहलाता है। सर्व प्रथम वर्सली (Worseley) से मेनचेस्टर तक 'ब्रिज वाटर नहर' का निर्माण हुआ। यह एक महत्वपूर्ण परीक्षण था जिसे ड्यूक ऑफ ब्रिज वाटर ने ब्रिन्डले (Brindley) की सहायता से १९६१ में आरम्भ किया। यह नहर अत्याधिक सफल रही क्योंकि यह नदी के सूखने व बाढ आने के अभाव से पृथक रखी गई। इस नहर से मैनचेस्टर का वर्सली की कोयले की खान के साथ सम्पर्क हो गया। प्रथम सफलता से प्रभावित हो ड्यूक ने दूसरी नहर मैनचेस्टर को लिवरपूल से मिलाने के लिये बनाई।

उपर्युक्त दो नहरों की सफलता से उत्साहित होकर नहर निर्माण के लिये अनेक कम्पनियों की स्थापना हुई। इन 'नहरों की सनक' के काल में अनेक जलमार्गों का

निर्माण हुआ। जिससे देश में नहरों का जाल सा बिछ गया। सन १८३० तक ३४०० मील लम्बी नहरें निर्मित हो चुकी थी। जलमार्गों में विभिन्न सुधार भी किये गये। नदियों की चौड़ाई भी बढ़ाई गई तथा उन्हें गहरा किया गया।

निजी स्वामीत्व राज्य को हस्तक्षेप न करने की नीति के कारण नहर निर्माण निजी कम्पनियों द्वारा होता था। परन्तु ये कम्पनियाँ माल लाती ले जाती नहीं थी। ये कम्पनियाँ नहरों का निर्माण कर उन लोगों से मार्ग शुल्क वसूल करती थीं जो नहरों का प्रयोग करते थे।

लाभः—नहर कम्पनियों को अधिक लाभ होने लगा जिससे नहर यातायात का विकास होता गया। इसके विकास से औद्योगिक व व्यापारिक उन्नति तीव्रगति से होने लगी। नहर यातायात एक सस्ता साधन था। नहर का किराया सड़क किराये से लगभग १/४ था। नये २ औद्योगिक केन्द्रों और नगरों की स्थापना हुई। रोजगार के साधन उपलब्ध हुए और पूंजी का उचित नियोजन हुआ।

हानिः—नहर निर्माण की निजी प्रणाली के कारण नहरों में समानता का अभाव था। नहरों की चौड़ाई, गहराई, पुलों की ऊंचाई और फाटकों के आकार में अन्तर था जिससे सीधे यातायात में कठिनाई होती थी।

इन दोषों के होते हुए भी नहर कम्पनियों की संख्या बढ़ती गई जिससे इनमें आपस में तीव्र प्रतिस्पर्धा होने लगी परिणाम यह हुआ कि नहरों का पतन होने लगा।

नहरों के पतन के कारण (Decline of Canals)

(१) निजी प्रबन्धः—नहरों का प्रबन्ध निजी कम्पनियों द्वारा होता था अतः इनकी व्यवस्था, भाड़े की दरें, आदि का उचित समन्वय (Co-ordination) न हो सका। इस प्रकार उनकी कार्यक्षमता पर बुरा प्रभाव पड़ा।

(२) नहरों की विभिन्नताः—नहरें विभिन्न कम्पनियों द्वारा समय २ पर बनाई जाती थीं। अतः इनमें समानता का अभाव था—चौड़ाई व गहराई में बहुत अन्तर था। फलस्वरूप बड़े जहाजों के लिये सभी नहरें सुविधाजनक नहीं थी।

(३) रेलों की प्रतिस्पर्धा (Competition):—रेलों के विकास ने नहर यातायात को अधिक धक्का पहुंचाया। १८३३ की नहर समिति ने लिखा था कि १८४० के पश्चात रेलों के कारण नहर यातायात लंगड़ा होता गया।" नहर कम्पनियां स्वयं माल ढोने का कार्य नहीं करती थी, वे नहर प्रयोग करने वालों से शुल्क वसूल करती थीं। इसके विपरीत रेलें कम्पनियाँ माल ढोने का किराया लेती थी। इस प्रकार रेलों ने लोगों को एक नवीन सुविधाजनक व कुशल साधन के रूप में आकर्षित किया। धीरे २ रेलों ने प्रतियोगिता समाप्त करने के विचार से नहरों को खरीदना प्रारम्भ कर दिया, जिससे नहरों का पतन आरम्भ हो गया।

गोदामों का अभाव.—बड़े गोदामों के न होने से नहरी कम्पनियों को बड़ी कठिनाई उठानी पड़ती थी जब कि रेल ने इस कमी को दूर कर दिया।

(५) **समय की अनियमितता**.—कर्मचारियों का अभद्र व्यवहार तथा समय की पाबन्दी न रहने से यह यातायात अधिक सुविधाजनक न रहा।

(६) **आविष्कार पर ध्यान नहीं**:—नहर कम्पनियों ने नये आविष्कारों की ओर ध्यान नहीं दिया जबकि दूसरे यातायात के साधनों का विकास होता जा रहा था।

(७) **स्टीमरों की प्रतिस्पर्धा**:—तटीय स्टीमरों के विकास ने नहरों से प्रतियोगिता आरम्भ कर दी जिससे इनको बहुत हानि उठानी पड़ी।

(८) **अधिक समय**:—नहर यातायात का प्रमुख दोष अत्यधिक मन्द गति था जबकि रेल्वे यात्रा में कम समय लगता था।

(९) **रेल्वे खानों तक**:—रेल्वे द्वारा सीधे खानों से कोयला ढोया जाता था जबकि नहरों में यह सुविधा नहीं थी।

(१०) **शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुएं**:—शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुएँ (Perishable Commodities) जैसे फल, सब्जी, दूध, मक्खन पनीर, आदि के लिये शीघ्रगामी यातायात के साधन की आवश्यकता थी। नहरें इस कार्य के लिये अयोग्य थी।

प्रथम महायुद्ध से वर्तमान समय तक:—प्रथम महायुद्ध के समय नहरों के विकास के प्रयत्न किये गये परन्तु उनकी स्थिति में विशेष सुधार नहीं हुआ। युद्ध के बाद नहरों को उन्नत करने के लिये १९२१ और १९३१ में सार्वजनिक ट्रस्ट निर्माण की योजना बनाई गई परन्तु वह सफल नहीं हो सकी। १९४७ तक रेलवे कर्मचारियों ने १/३ नहरें अपने आधीन कर लीं। १९४८ में नहरों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया परन्तु विशेष उन्नति न हो सकी। १९५५ से नहरों का संचालन (British Water ways) आयोग द्वारा होता है। इसी वर्ष एक खोज सघ की स्थापना भी की गई जिसने ५० वर्ष की योजना ५·५ मि० पौंड की लागत की बनाई। सन् १९५८ में नहरों के लाइसेंस देने की प्रणाली, नहरों के आमोद-प्रमोद के उपयोग की व्यवस्था तथा नहरों को 'अ' व 'ब' वर्ग में विभाजित करने के सुझाव दिये गये।

इंगलैंड में नहरें महत्वपूर्ण उस समय थी जब अन्य यातायात के साधनों का विकास नहीं हुआ था। नहरों ने उस समय औद्योगिकरण में बहुत सहायता दी। परन्तु अब भी नहरों की उपयोगिता का सर्वथा अन्त नहीं हो गया है। श्री साउथ गेट के अनुसार "भारी और भीमकाय वस्तुओं के लाने-ले-जाने के लिये, जिनके लिये यातायात की गति आवश्यक नहीं, उनका अब भी प्रयोग किया जाता है" सी० आर० फे के शब्दों में "नहरों ने जन संख्या के वितरण में सहायता दी, उन्होंने नई फैक्ट्रियों के लिये स्थान निर्धारित किये, औद्योगिक विस्तार को अवसर दिया और श्रमिकों को पुराने अधिक आबाद नगरों की अस्वास्थ्यकर सीमाओं से बाहर आने में सहायता दी।"

सारांश (Summary)

यातायात के साधन देश के आर्थिक विकास के लिये अत्यन्त आवश्यक हैं। १७ वी शताब्दी तक इंगलैंड मे यातायात के साधनो की दुर्दशा थी।

सड़क यातायात

१७वीं शताब्दी तक सड़क यातायात विकसित नही हो पाया था। नई सड़कें निर्मित नहीं होती थी तथा पुरानी जीर्ण अवस्था मे थी। घोड़े व खच्चरों से ही यात्रा होती थी।

१८वी शताब्दी मे सड़को का नियंत्रण धनी व्यक्तियों को सौपा गया जिन्होने Turn Pike Trust बनाये और यात्रा करने वालों से कर वसूल करने लगे।

ट्रस्ट को मान्यता देने के लिये १६६३, १७७३ व १८३१ में विभिन्न अधिनियम पारित हुए। इनके द्वारा ट्रस्टो की आर्थिक स्थिति सुधरी और सड़क निर्माण को भी प्रोत्साहन मिला।

उस समय सड़को की दुर्दशा के ३ कारण थे:—

(१) वैज्ञानिक पद्धतियों का ज्ञान न होना,

(२) जनसंख्या व पूंजी की कमी,

(३) सरकारी उपेक्षा,

१९वीं शताब्दी में मेटकाफ, टेलफोर्ड, व मैकएडम आदि इंजिनियरो ने सड़को की दशा सुधारने के प्रयत्न किये।

(१) मेटकाफ:—इंगलैंड के उत्तर में १८० मील सड़कें बनाई।

(२) टेलफोर्ड:— पुलें, नहरें और सड़कें बनाने में दक्ष थे।

(३) मैकएडम:—पत्थर के टुकड़ों की कठोर सतह वाली सड़कें बनाई जो सर्वोत्तम सिद्ध हुई।

सड़क निर्माण मे इस प्रकार क्रान्ति उत्पन्न हुई और सब ऋतु मे यात्रा करना सरल हो गया। ट्रस्टो का एकीकरण १८१५ से आरम्भ हो गया था।

रेलो की प्रतिस्पर्धा के कारण १८९५ तक ट्रस्ट समाप्त हो गये और १८८८ से सड़क निर्माण सरकारी नियंत्रण में आ गया।

२०वी शताब्दी के आरम्भ में मोटरें चलने लगी और १९०७ में मोटर व पैट्रोल पर लगे कर से प्राप्त आय का कुछ भाग सड़को पर व्यय किया जाने लगा।

प्रथम महायुद्ध:—सड़कों की दशा बिगड़ी। १९१८ में सड़क विकास के लिये एक कोष स्थापित हुआ। सड़कों को पाच वर्गो में बांटा गया—ट्रंक रोड, 'अ' वर्ग, 'ब' वर्ग, 'स' वर्ग और अवर्गित रोड।

१६११ में यातायात मन्त्रिमण्डल सड़कों की देखभाल के लिये निर्मित किया गया।

१६३० में रेल मोटर स्पर्धा बढ़ने के कारण एक अधिनियम मोटर यातायात पर नियंत्रण करने के लिये बनाया गया।

वर्तमान दशा:—अधिक प्रयोग के कारण सड़कों को दुर्दशा हुई। १६४६ में दसवर्षीय योजना बनाई गई। १६४८ में सड़क यातायात का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। लेकिन १६५५ मे सड़क यातायात को पुन पूंजीपतियो को सौंप दिया गया। सड़क यातायात के महत्व को समझते हुए उन पर प्रतिवर्ष अधिकाधिक व्यय किया जा रहा है।

नहर यातायात (Canal Transport)

भारी सामान विशेषकर कोयले को ले जाने के लिये ब्रिटेन मे नहरों का निर्माण हुआ।

सन् १७६१ मे सर्वप्रथम ब्रिजवाटर नहर का निर्माण हुआ जिसकी सफलता ने नहर निर्माण को प्रोत्साहन दिया। परन्तु नहर निर्माण निजी कम्पनीयों द्वारा ही हुआ, जो नहरो का प्रयोग करने वालों से सीमा शुल्क वसूल करती थी।

नहर यातायात सस्ता होने के कारण अधिक लोकप्रिय हुआ, परन्तु नहरों के निर्माण मे समानता का आभाव था जिससे सीधा यातायात सम्भव नही हो सकता था।

नहर कम्पनियों की आपसी प्रतिस्पर्धा के कारण इनका पतन होने लगा।

नहरों के पतन के कारण:—

(१) निजी प्रबन्ध:—विभिन्न नहरी कम्पनियों के कारण इनकी व्यवस्था में समन्वय नहीं था।

(२) नहरों की विभिन्नता:—विभिन्न नहरी कम्पनियों के कारण सभी नहरें बड़े जहाजों के लिये उपयुक्त नही थीं।

(३) रेलों की प्रतिस्पर्धा:—रेलें माल ढोने का कार्य भी करने लगीं जिससे नहरों को धक्का लगा।

(४) गोदामों का आभाव:—रेलों ने इस कमी को दूर किया।

(५) समय की अनियमितता।

(६) आविष्कारो पर नहरों ने ध्यान नही दिया।

(७) तटीय स्टीमरों की प्रतिस्पर्धा

(८) अधिक समय:—नहर यातायात की मन्द गति

(९) रेलें सीधी खानों तक

(१०) शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुओं के लिये नहर यातायात अनुपयुक्त था।

प्रथम महायुद्ध से अब तक

प्रथम महायुद्ध के समय नहरों की स्थिति में सुधार नहीं हुआ। १९२१ व १९३१ में सार्वजनिक ट्रस्ट बनाने की योजना बनी जो असफल रही। १९४८ में नहरों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। १९५५ में पंचवर्षीय योजना बनाई गई।

अभी भी नहरों की उपयोगिता का अन्त नहीं हुआ है। भारी सामान को लाने ले जाने के लिये वे आज भी यातायात के अति उत्तम साधन हैं।

प्रश्न

1. Briefly describe the efforts made by the Govts improve the Condition of Roads.

सड़कों की दशा सुधारने के सरकारी प्रयत्नों का संक्षिप्त वर्णन कीजिये।

2. Write short notes on:—

(a) Turn Pike Trusts (b) Decline of Canals.

संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिये:—

(अ) टर्नपाइक ट्रस्ट (ब) नहरों का पतन

3. Describe the competition between Canal and Railway Transport in England in the 19th century and account for the ultimate victory of the Railways in this connection.

१९ वीं शताब्दी में इंगलैंड में नहर और रेल यातायात की प्रतिस्पर्धा का वर्णन करो और इस सम्बन्ध में अन्तिम रूप में रेलों की विजय का कारण बताइये।

अध्याय १३

रेल यातायात
(RAILWAY TRANSPORT)

"ग्रेट ब्रिटेन की रेल व्यवस्था अनेक प्रकार से अद्वितीय है।"
—साउथगेट

इगलैंड मे औद्योगिक क्रान्ति के परिणाम स्वरूप जन-संख्या मे वृद्धि हुई तथा व्यापार व उद्योग मे बहुत अधिक विकास हुआ। इससे उत्पन्न यातायात की माग की पूर्ति करने मे सडकें व नहरें अपर्याप्त थी। सडक यातायात मंहगा और अव्यवस्थित था, तथा नहर यातायात असुविधाजनक व धीमा था। अत: निरन्तर एक ऐसे आन्तरिक यातायात के साधन की खोज थी जो सस्ता, शीघ्रगामी और सुविधाजनक हो।

१७ वी शताब्दी में खानों व बन्दरगाहों मे थोड़ी थोड़ी दूरी के लिये कोयला ले जाने के लिये ट्रौली का उपयोग हुआ जिससे रेल निर्माण को प्रेरणा मिली। प्रारम्भ में रेलें कोयला शहरों और बन्दरगाहों तक पहुचाने के लिये बनी। इनका रेल पथ लकड़ी का बना था और डिब्बे घोड़ो की सहायता से खींचे जाते थे। सन् १८३० मे जार्ज स्टीफेन्सन ने वाष्प द्वारा चलाने वाले इन्जिन का आविष्कार किया तो उसके द्वारा यातायात मे क्रान्ति सम्पन्न हुई। सड़कों और नहरों का महत्व कम होता गया और उनका स्थान रेलों ने ले लिया। इस समय रेलों से निम्न लाभ प्राप्त हुए—

(१) भारी और सस्ते पदार्थ दूरी तक सस्ती दर से भेजे जा सकते थे।

(२) रेलों से श्रमिकों की गतिशीलता (Mobility) में वृद्धि हुई।

(३) व्यापारियो को अधिक माल सग्रह की आवश्यकता न रही क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर माल रेल द्वारा कभी भी मगाया जा सकता था।

(४) रेल द्वारा उद्योग व व्यापार का तीव्रगति से विकास हुआ।

(५) रेलों के आरम्भ होने से नये नये नगरो की स्थापना हुई और लोगो को नये रोजगार के साधन उपलब्ध हुए।

(६) उद्योगों का विकेन्द्रीयकरण (Decentralization) हुआ क्योंकि रेल द्वारा कच्चा माल (Raw materials) दूर दूर के कारखानों तक पहुच सकता था और निर्मित माल उपयोग केन्द्र तक। इस प्रकार उत्पादक और उपभोक्ता दोनो को ही सुविधा मिली।

(७) रेल के कारखानों मे लोहस्पात की मांग बढ़ने से इस उद्योग को बड़ा प्रोत्साहन मिला।

ब्रिटिश रेलों की विशेषताएं (Chief Characteristics)

इंगलैंड के रेल यातायात विकास मे अन्य देशो को अपेक्षा कुछ पृथक विशेषताएं थी जिनमे स प्रमुख निम्न प्रकार से हैं:—

(१) निजी साहस (Private Enterprise) द्वारा विकास:—जर्मनी, फ्रांस आदि देशों में रेलो की स्थापना सरकार द्वारा की गई थी, अथवा उन्हें सरकारी सहायता प्राप्त थी। इसके विपरीत इंगलैंड में रेल निर्माण निजी साहस व पूंजी द्वारा हुआ क्यों कि सरकार की नीति यह थी कि वह आर्थिक कार्यों में कोई हस्तक्षेप न करे। इस प्रकार राज्य की सहायता व संरक्षण का अभाव था।

ब्रिटिश रेलों की विशेषताएं
(१) निजी साहस
(२) व्यापारिक महत्व
(३) निर्माण व्यय अधिक
(४) निजी गाड़ियां
(५) तीव्र विरोध
(६) छोटे पैमाने पर
(७) देशी पूंजी
(८) अधिक किराया

(२) व्यापारिक दृष्टि से विकास:—रेलें व्यावसायिक दृष्टिकोण से स्थापित की गई और उनकी स्थापना का मुख्य उद्देश्य उनके निर्मानाओं को लाभ मिलना था। इस प्रकार उनका निर्माण राष्ट्रीय व सैनिक उद्देश्यों की दृष्टि में न रखते हुए हुआ जैसे फ्रांस, जर्मनी, रूस, भारत आदि मे हुआ।

(३) निर्माण व्यय अधिक:—इंगलैंड मे रेल लाइन का निर्माण व्यय प्रति मील अधिक हुआ। अधिक व्यय होने के कई कारण थे जैसे भूमि का अधिक मूल्य, धरातल की असमानता, नहरी प्रतिस्पर्धा व प्रारम्भिक खोज आदि।

(४) निजी गाड़ियां चलाना:—रेल्वे कम्पनियां पटरियां बिछा देती थी और उन पर कोई भी व्यक्ति कर देकर गाड़ियां चला सकता था।

(५) तीव्र विरोध (Strong Opposition):—प्रारम्भ में सब ओर से रेल यातायात का बड़ा तीव्र विरोध प्रदर्शित किया गया और इसकी कटु आलोचना (Criticism) हुई। नाना प्रकार के अनुपयुक्त तर्क दिये गये जैसे रेलों द्वारा अधिक शोर होना, अस्वास्थ्यकर धुंआ फैलना, कृषि भूमि की कमी आदि।

(६) छोटे पैमाने पर:—इंगलैंड मे रेलों का विकास लघु स्तर पर किया गया जब कि अन्य देशों मे बड़े पैमाने पर हुआ। इस कारण ब्रिटिश रेलें बड़े पैमाने के लाभ से वंचित रही।

(७) देशी पूंजी:—ब्रिटिश रेलों मे आरम्भ में देशी पूंजी प्रयुक्त हुई जब कि अन्य देशों मे विदेशी पूंजी का भी नियोजन किया गया।

(८) किराया प्रविष्ठ:—रेल के किराये में उतारने, चढाने, स्टेशनों की लागत पटरी व्यय आदि सम्मिलित रहते थे जिससे किराया प्रति मील अधिक था। यदि इनमें से कोई कार्य भेजने वाला स्वयं कर लेता था तो उसका उतना ही किराया कम कर दिया जाता था।

ब्रिटिश रेलों का विकास (Development of Railways)

अध्ययन की सुविधा के लिये इंगलैंड मे रेलों के विकास को निम्न कालों में विभाजित किया जा सकता है —

(१) सन् १८२१ से १८४४ तक—इस काल में छोटी २ लाइनों का ही निर्माण हुआ। रेल निर्माण का सारा श्रेय निजी कम्पनियो को ही है परन्तु सरकार ने रेलो के विकास पर नियंत्रण करने के अनेक प्रयत्न किये। १८२१ में स्टोकटन और डार्लिंगटन के बीच रेलवे लाइन बनाने के लिये एक अधिनियम पारित हुआ। यह प्रथम रेल पथ था जिस पर यात्री और सामान दोनों ढोये गये थे। १८२५ में इन रेल पथों पर इंजिन द्वारा सामान ढोया गया। इसकी सफलता ने अन्य रेलवे कम्पनियों को प्रोत्साहन दिया जिससे नहरों की अवनति होने लगी। सामान और यात्री सस्ते किराये पर ढोये जाने लगे। इस यातायात की महत्ता को स्वीकार करते हुए सरकार ने निजी कम्पनियो पर नियंत्रण के उद्देश्य से 'व्यापार मण्डल' (Board of Trade) स्थापित किया। १८४२ में नई रेल कम्पनियों की स्थापना के लिये इस व्यापार मण्डल की अनुमति लेना अनिवार्य कर दिया। १८४४ में रेल किराये पर नियंत्रण रखने के लिये यह विधान बना कि १० प्रतिशत से अधिक लाभ होने पर रेलवे कम्पनिया किराये में वृद्धि नहीं कर सकती थीं।

(२) १८४५ से १८७३ तक:—इस काल में रेलों का काफी सुधार हुआ। छोटी २ लाइनो को ट्रंक लाइनो (Trunk lines) में मिलाया गया। जनसाधारण का मत भी रेलो के अनुकूल होने लगा। १८५० तक देश में ६६२१ मील रेलें बन गई। जार्ज हडसन (George Hudson) जो 'The Railway King' के नाम से प्रसिद्ध था, ने रेलो की कुशलता और सुविधा बढ़ाने के लिये एकीकरण (Unification) को प्रेरणा दी। एकीकरण के द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान सभी कम्पनियो की रेलो पर सीधी यात्रा सम्भव हो गई। सरकार ने १८४४ में रेल कम्पनियों पर नियंत्रण (Control) रखने के लिये नियंत्रण मण्डल की स्थापना की। १८६५ मे एक शाही आयोग नियुक्त किया गया जिसे रेलो पर राजकीय नियंत्रण या उनको खरीदने के प्रश्न पर सम्मति देने को कहा गया। इसने स्थिति पूर्ववत रखने का सुझाव दिया। इस प्रकार रेल्वे कम्पनियों का एकाधिकार (Monopoly) हो गया।

(३) १८७४ से १८९३:—इस काल में रेलों का व्यवस्थित नियमन (Control) तथा राज्य द्वारा नियंत्रण हुआ। १८७३ में नियुक्त एक विशेषज्ञ समिति ने कुछ सीमा तक रेल्वे को नियंत्रित किया। १८८८ में एक अधिनियम द्वारा रेल्वे तथा नहर आयोग के अधिकारों को बढ़ाया गया १८९३ में रेल किराये को निश्चित दर लागू की गई। इस बात पर भी जोर दिया गया कि तय की हुई मजदूरी नियमित रूप से दी जाय।

(४) १८९४ से १९१३:—इस काल में कम्पनियों में पारस्परिक प्रतियोगिता समाप्त सी हो रही थी। इसी समय रेल्वे कर्मचारी रेलों के राष्ट्रीयकरण के लिये आन्दोलन करने लगे। १९०० में T.V. रेल्वे कम्पनी के श्रमिकों ने मजदूरी बढ़ाने तथा काम का समय कम कराने के लिये हड़ताल की। इन झगड़ों के फलस्वरूप रेल्वे मजदूरों ने संघों की स्थापना प्रारम्भ कर दी। व्यापार मण्डल ने हस्तक्षेप कर कई सुलह मण्डलों (Concilation Boards) की स्थापना कराई जिसमें रेलों तथा मजदूरों के प्रतिनिधि आपस में मिलकर झगड़े निपटाने लगे। १९०६ में नियुक्त एक आयोग ने प्रतिस्पर्धा समाप्त करने के लिये कुछ नहरों को सरकार के आधीन करने का सुझाव दिया। परन्तु रेल्वे कम्पनियों द्वारा अस्वीकृत कर दिये गये। १९१३ में राष्ट्रीय रेल्वे कर्मचारी संघ के रूप में मजदूर एकत्रित हो गये।

(५) १९१४ से १९३९:—प्रथम महायुद्ध में सामरिक दृष्टि से रेलों को सरकारी नियंत्रण में ले लिया गया। यह नियंत्रण १९२१ तक चलता रहा। युद्ध में रेल्वे लागत और किराये में वृद्धि हुई तथा यात्रियों को कष्ट हुआ। रेल्वे सामान की भी कमी हुई और श्रमिकों में असंतोष बढ़ा। सरकारी नियंत्रण के कारण रेलों की स्थिति में कई सुधार हुए। १९२१ में रेल्वे अधिनियम बना जिसके अनुसार रेलों का एकीकरण अनिवार्य कर दिया तथा रेल दरें निश्चित करने के लिये 'रेल्वे रोड ट्रिब्यूनल' की स्थापना की गई।

१९२३ के बाद मोटर-रेल प्रतिस्पर्धा (Rail-Road Competition) बढ़ने लगी जिसको दूर करने के लिये १९२८ में एक समिति नियुक्त की गई जिसकी सिफारिशें थी:—

(१) रेलों का उचित वर्गीकरण करना,
(२) व्यापारियों तथा यात्रियों को अधिक सुविधाएं देना,
(३) विद्युत रेलें चलाना,
(४) मोटर यातायात पर समुचित नियंत्रण करना।

१६३० में एक सड़क यातायात अधिनियम पारित हुआ जिससे यातायात कमिश्नरों को मोटरों को लाइसेन्स देने, मार्ग व समय सूचि निर्धारित करने तथा मोटर यातायात नियंत्रित करने के अधिकार दिये गये। १६३२ मे एक रेल सड़क सम्मेलन बुलाया गया जिसने सड़क यातायात पर कड़े नियंत्रण का सुझाव दिया। परन्तु इन सब प्रयत्नों से रेलों को कोई लाभ नहीं हुआ और उनकी आय घटती गई।

(६) १६३९ से वर्तमान समय तक:—द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ होने पर रेलें पुन: राज्य के नियंत्रण मे आ गईं। कम्पनियों की वार्षिक आय निर्धारित कर दी गई। युद्ध के समय मे रेलों की दशा बिगड़ गई। रेल पथ, डिब्बों व इंजिनो का नवीनिकरण नही हो सका। रेल किराये में वृद्धि हुई। सैनिकों को, प्राथमिकता दी गई और नागरिकों को कष्ट सहना पड़ा।

१६४५ मे सरकार ने यह निश्चय किया कि रेलों की उन्नति का कार्य कम्पनियों पर नही छोड़ा जा सकता और १ जनवरी १६४८ से रेलों का राष्ट्रीयकरण कर दिया। १६५३ मे एक यातायात आयोग स्थापित किया गया जिसने रेलो के पुनर्गठन तथा विकेन्द्रीकरण के सुझाव दिये। १६५४ से रेलों की गति बढ़ाने के लिये उनका विद्युतिकरण किया गया। रेलो के आधुनिकरण के लिये १६५५ में ब्रिटिश यातायात आयोग द्वारा एक १५ वर्षीय योजना बनाई जिसके अनुसार रेलो पर प्रति वर्ष १६०-२१० मि० पौंड व्यय किया जायगा। यात्रियों की सुविधा के लिये सम्मिलित प्रयत्न किये जा रहे हैं।

रेलें राष्ट्ररूपी शरीर की जीव तन्तु हैं जिनके द्वारा ही आर्थिक उन्नति सम्भव हुई हैं। अतः उनका उचित विकास किसी भी देश के लिये आवश्यक है। ब्रिटिश रेलें विश्व के अन्य देशों के लिये प्रेरणादायक व अनुकरणीय हैं।

सारांश (Summary)

औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप सस्ते और शीघ्रगामी यातायात के साधन के रूप मे रेलें प्रारम्भ हुईं।

सन् १८३० में वाष्प इन्जिन का प्रयोग हुआ। रेलो से निम्न लाभ प्राप्त हुए:—

(१) भारी व सस्ते पदार्थ दूरी तक ले जाये गये। (२) श्रमिकों की गतिशीलता बढ़ी। (३) व्यापारियों को माल संग्रह करने की आवश्यकता न रही। (४) उद्योग व्यापार का विकास हुआ। (५) नये २ नगर स्थापित हुए व रोजगार के साधन बढ़े। (६) उद्योगों का विकेन्द्रीकरण हुआ। (७) लोहा स्पात उद्योग प्रोत्साहित हुआ।

ब्रिटिश रेलों की विशेषताएँ —

(१) निजी साहस द्वारा विकास:—राज्य की सहायता प्राप्त नहीं हुई।

(२) व्यापारिक दृष्टि से विकास:—अन्य देशों में सामरिक दृष्टि से।

१६४८ में रेलो का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। १६५३ में नियुक्त आयोग ने रेलो के पुनर्गठन और विकेन्द्रीयकरण के सुझाव दिये। १६५४ मे रेलो का विद्युनिकरण किया गया। १६५५ मे रेलो के विकास के लिये १५ वर्षीय योजना बनाई गई।

प्रश्न

1 Describe the chief features of British Railways Discuss their growth during the 19th century.

ब्रिटिश रेलों की विशेषताएँ बताइयें। १६ वी शताब्दी मे उनके विकास का विवरण दीजिये।

2. Trace the history of Railway development in England.

इगलैड मे रेलो के ऐतिहासिक विकास का वर्णन करिये।



सामुद्रिक व वायु यातायात
(OCEANIC AND AIR TRANSPORT)

"The United kingdom was the pioneer of the Steamer on a commercial scale for world traffic." —Knowles

औद्योगिक क्रान्ति के कारण जो इंगलैंड की समृद्धि में वृद्धि हुई वह केवल रेलों के विकास से ही इतनी अधिक नहीं होती यदि ब्रिटिश जहाजरानी में १६ वी शताब्दी में महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं होते। वाह्य यातायात के साधन देश के औद्योगिक विकास की सफलता के लिये उतने ही आवश्यक थे जितने आन्तरिक यातायात के साधन। इंगलैंड के उद्योगों को विदेशों से कच्चा माल मिलता था और निर्मित माल की बिक्री भी विदेशी बाजारों में होती थी। अतः जहाजरानी का विकास आवश्यक था। राजनैतिक कारणों जैसे अनेक उपनिवेशों को अपने आधीन रखने के लिये भी इंगलैंड को एक सुदृढ़ जहाजी बेड़ा रखना आवश्यक था। सैनिक दृष्टि से भी जहाजी बेड़े की विशेष महत्ता थी। इस प्रकार इंगलैंड की सम्पन्नता, स्वतन्त्रता तथा सब कुछ जहाजी बेड़े के विकास पर निर्भर था।

इंगलैंड में भौगोलिक परिस्थितियां भी जहाजी बेड़े (Navy) के विकास के लिये अति उपयुक्त हैं। उसका विशाल समुद्रतट कटा फटा है और उसमें अनेक प्राकृतिक बन्दरगाह है। इंगलैंड में कोई भी स्थान समुद्रतट से ८० मील से अधिक दूर नहीं है। इन्हीं कारणों से इस देश ने सामुद्रिक यातायात में आश्चर्यजनक उन्नति की और यह देश 'समुद्रों की मलका' (Mistress of seas) तथा 'जहाजों का राष्ट्र' कहलाता है।

नौवहन अधिनियम (Navigation Acts)—इंगलैंड में जहाजरानी का विकास नौवहन अधिनियमों के कारण तीव्रगति से हुआ। सर्व प्रथम १३८१ में नौवहन अधिनियम पास हुआ जिसके द्वारा विदेशी जहाजों का बहिष्कार कर दिया गया। सन् १४८५ में दूसरा अधिनियम बना जिसके अनुसार इंगलैंड में आने वाला माल ब्रिटिश जहाजों में ही लाना अनिवार्य कर दिया गया। बाद में यह आज्ञा दी गई कि जहाजों के कप्तान भी अंग्रेज ही हों। १५३२ और १५४० में और भी अधिनियम बने। ये नियम दूसरे देशों को बुरे लगे और उन्होंने ब्रिटिश जहाजरानी के विरुद्ध कदम उठाये। अतः एलिजाबेथ ने १५५९ में इन्हें रद्द कर दिया। परन्तु १६५१ और १६६० में इसको पुनः लागू किया गया। १६५१ के अधिनियम की मुख्य बातें निम्न प्रकार से थी—

(१) ब्रिटिश जल मे विदेशी जहाजों का सीमित क्षेत्र कर दिया।

(२) ब्रिटेन और उसके उपनिवेशो के मध्य व्यापार केवल ब्रिटिश अथवा उपनिवेशो के जहाजों द्वारा हो सकता था।

(३) इंगलैंड का तटीय व्यापार केवल ब्रिटिश जहाजो द्वारा ही हो सकता था।

(४) जहाजो के कप्तान तथा ३/४ कर्मचारियों का अंग्रेज होना आवश्यक था।

(५) उपनिवेशो के मध्य व्यापार ब्रिटिश जहाजों द्वारा ही किया जावे।

सन् १६६० के अधिनियम द्वारा विदेशी जहाजो को इंगलैंड के उपनिवेशों के साथ व्यापार करने के लिये लाइसेंस लेना अनिवार्य कर दिया गया। इंगलैंड के जल मे विदेशी जहाजो के पाये जाने पर उनको सामान सहित जब्त किया जा सकता था। इस अधिनियम मे संशोधन १६६३, १६७२ और १६९६ मे किया गया।

इन नौवहन अधिनियमो के कारण इंगलैंड विश्व में सामुद्रिक शक्ति का नेता बन गया। ब्रिटिश जहाज दूर २ की यात्रा करने लगे और इससे विदेशी व्यापार की वृद्धि भी हुई। परन्तु इन अधिनियमो के कारण अन्य राष्ट्र क्षुब्ध हो गये और अन्त में १८४९ मे इन नियमो को समाप्त कर दिया गया। इस प्रकार ब्रिटिश जहाजी यातायात को पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी गई।

सामुद्रिक यातायात के विकास को निम्न कालो में विभाजित किया सकता है।

(१) १७९६ से १८५४ तक—यद्यपि नौवहन अधिनियमो के कारण विदेशी जहाजो का बहिष्कार कर दिया गया था परन्तु विभिन्न देशों के विरोध के कारण कुछ देशो से व्यापारिक सन्धियाँ हुईं और उनको ब्रिटिश जल में अपने जहाज लाने की रियायतें दी गईं। उपनिवेशो को विदेशो से सीधा व्यापार करने की आज्ञा भी दी गई, परन्तु एशिया और अफ्रीका से सामान ब्रिटिश जहाजो मे ही आ सकता था। ये नौवहन अधिनियम १८४९ में पूर्ण रूप से समाप्त हुए और व्यापार निर्बाध रूप से होने लगा।

(२) १८५४ से १८८० तक:—इस काल मे वैज्ञानिक आविष्कारो (Scientific discoveries) से ब्रिटिश जहाजरानी मे अनेक परिवर्तन हुए। भाप के इंजिन और लोहे के जहाज का विकास हुआ। जहाज निर्माण की तकनीक (Technique) मे महान परिवर्तन हुए। १८६९ में स्वेज नहर का खुलना जहाजो के विकास में सहायक हुआ। जहाजो की गति बढाई गई। १७८७ में लोहे का प्रथम जहाज निर्मित हुआ जो लकडी के जहाज से मजबूत और हल्का सिद्ध हुआ। १८०२ में प्रथम वाष्प चालित जहाज चालू हुआ और १८३८ तक ऐसे बड़े जहाजो का निर्माण हुआ जो अटलान्टिक पार कर सकते थे। माल के उतारने-चढाने में मशीनो का प्रयोग किया जाने लगा, लागत व्यय में कमी हुई तथा किराये भाडे की दर भी कम हुई। बाद मे लोहे के स्थान पर स्पात के जहाज बनने लगे। ये हल्के स्थायी, अधिक माल ढोने वाले तथा तीव्र गति वाले होते थे।

(३) १८८० से १९१४ तक:—इस काल में विदेशों की प्रतिस्पर्धा एवं एकीकरण प्रमुख तत्व रहे। अन्य देशों ने भी अपनी जहाजी शक्ति में उन्नति कर ली मुख्यकर अमेरिका, जर्मनी आदि। इन देशों ने ब्रिटेन से जहाजी शक्ति में टक्कर लेना आरम्भ कर दिया। इस प्रतिस्पर्धा का सामना करने के लिये ब्रिटिश जहाजी कम्पनियां संगठन (Ring) बनाने लगी। एकीकरण की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया गया तथा सरकारी संरक्षण भी दिया गया। इस प्रकार प्रथम महायुद्ध के प्रारम्भ होने तक ब्रिटेन की सामुद्रिक शक्ति विश्व के समस्त राष्ट्रों से अधिक हो गई।

(४) १९१४ से १९१८ तक:—युद्ध के आरम्भ होते ही सरकार ने जल यातायात को अपने नियंत्रण में ले लिया। युद्ध में ब्रिटेन के ८ मि० टन से अधिक जहाज नष्ट हो गये। किन्तु इसी समय जहाज निर्माण कार्य तीव्र गति से होने लगा जिससे युद्ध में सामान और सैनिक शीघ्रता से पहुँच सकें। नागरिक आवश्यकताओं की वस्तुओं का आयात बहुत कम कर दिया गया। जहाजी भाड़े की दर में वृद्धि हुई। अमेरिकन और जापानी जहाजी शक्ति के विकसित होने से धीरे २ इंगलैंड का महत्व इस क्षेत्र में कम होने लगा।

(५) १९१९ से १९३९ तक—युद्ध के पश्चात् इंगलैंड के जहाजी उद्योग के सामने कई प्रकार की कठिनाइयां उपस्थित हुईं। कोयले के निर्यात में कमी के कारण किराये से प्राप्त घटी। जहाजी श्रमिकों के द्वारा हड़तालें भी हुईं। जहाजों के मरम्मत के सम्बन्ध में भी कठिनाइयाँ उपस्थित हुईं। १९२१ के बाद विदेशी व्यापार की कमी के कारण जहाजी यातायात में मन्दी आरम्भ हुई जो १९२९ तक चलती रही। १९२६ में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार (International Trade) की उन्नति के कारण जहाजी परिस्थिति सुधरने लगी। १९२७-३० में विश्व के जहाज उत्पादन का ५३% अंश इंगलैंड में तैयार होने लगा था। फिर भी इङ्गलैण्ड युद्ध के पूर्व की स्थिति को प्राप्त नहीं कर सका। १९२९-३२ के विश्व आर्थिक संकट का बहुत बुरा प्रभाव इङ्गलैण्ड के जहाज निर्माण पर पड़ा। जहाजी किराया कम हुआ, श्रमिकों की छंटनी व मजदूरी में कमी हुई। १९३४ से राजकीय वित्त सहायता दी जाने लगी।

(६) १९३९ से वर्तमान तक—द्वितीय महायुद्ध के समय ब्रिटिश जहाजों की भारी क्षति हुई, जिसकी पूर्ति अब तक नहीं हो सकी है। युद्ध के बाद जर्मन वणिक पोत का ४६% भाग इङ्गलैंड को मिला। अमेरिका से भी जहाज खरीदे गये। इङ्गलैंड में भी जहाज निर्माण कार्य तेजी से होने लगा, परन्तु सीमित स्रोत उपलब्ध होने के कारण निर्माण कार्य में बाधा पड़ी। इन सब कठिनाइयों के उपरान्त १९४६ में विश्व के जहाज निर्माण कार्य का अर्द्धांश से अधिक ब्रिटेन में होने लगा। सन् १९५५ में सर्वेक्षण बोर्ड ने एक पंचवर्षीय योजना बनाई जिसके अनुसार ५.५ मिलियन पौंड जल यातायात की उन्नति पर व्यय करने की व्यवस्था की गई है।

इस उद्योग का राष्ट्रीयकरण (Nationalization) नहीं किया गया है और सरकार का इस पर बहुत कम नियन्त्रण है। इस समय इङ्गलैंड की जहाजरानी का विश्व मे द्वितीय स्थान है, परन्तु फिर भी इस उद्योग से बहुत आय होती है।

वायु यातायात (Air Transport)

वायु यातायात का जन्म बीसवी शताब्दी में हुआ। इंगलैंड में वायु यातायात का वास्तविक आरम्भ २५ अगस्त १६१६ को हुआ जब कि एक कम्पनी द्वारा एक हवाई सेवा लन्दन और पेरिस के बीच स्थापित की गई। सन् १९१६ मे ब्रिटिश उड़ाकों द्वारा अटलांटिक समुद्र पार किया गया। १६२३ में वायु यातायात की प्रगति के लिये छोटी २ कम्पनियों को संस्था बनाने का सुझाव दिया गया। अप्रैल १६२४ में Imperial Airways Ltd. के रूप में कम्पनियों का पुनर्गठन हुआ और सरकार ने इसको आर्थिक सहायता प्रदान की।

इस कम्पनी ने ही अन्तर्राष्ट्रीय वायु यातायात सेवा और Royal Air Force का कार्य आरम्भ किया। सन् १६२६ में इंगलैंड और भारत के बीच वायु यातायात आरम्भ हो गया। दिसम्बर १६३४ में पहली मेल (Air Mail) सर्विस लन्दन और आस्ट्रेलिया के बीच स्थापित हुई और १६३५ में यात्री सर्विस।

सन् १६३७ में इस कम्पनी ने अटलान्टिक पार किया। सन् १६३६ के एक अधिनियम द्वारा British Overseas Airways Corporation (B. O. A. C) की स्थापना हुई जिसने १६४० में Imperial Airways Ltd. तथा British Airways Ltd. का कार्य सम्भाल लिया।

द्वितीय महायुद्ध के समय (B. O. A. C.) ने आवश्यक सेवाएं आरम्भ की। युद्ध के पश्चात् सेवाओं का इतना विस्तार हो गया कि वायुयानों की कमी प्रतीत होने लगी। इस कमी की पूर्ति मिनिस्ट्री एयरक्राफ्ट तथा बाहर से वायुयान खरीद कर की गई।

ब्रिटेन में वायु यातायात पर सरकारी नियंत्रण है। यह नियन्त्रण एक मन्त्री द्वारा होता है जो प्रगति के लिये उत्तरदायी है और जिसकी सहायता के लिये ३ मुख्य संस्थाएं हैं—

(१) वायु यातायात परामर्शदात्री परिषद,
(२) वायु रजिस्ट्रेशन बोर्ड, तथा
(३) वायु सुरक्षा बोर्ड।

वायु यातायात संस्थाएं अपने कार्यों को व्यापारिक संस्थाओं के समान करती हैं और मन्त्री इन संस्थाओं पर अधिक नियन्त्रण रखता है। प्रत्येक संस्था अपने श्रमिकों

के स्वास्थ्य और कल्याण (Welfare) का ध्यान रखती है। सन् १६१२ में एक नई नीति के कारण वायु यातायात को बहुत प्रोत्साहन मिला। इस नीति का उद्देश्य वायुयानों की गति में वृद्धि करना, लागत में कमी करना तथा यात्रियों और व्यापारियों को अधिक से अधिक सुविधाएं देना है।

सारांश (Summary)

इंगलैंड में जहाजरानी का विकास कई कारणों से महत्वपूर्ण था औद्योगिक क्रान्ति, उपनिवेशों की स्थापना, सुरक्षा आदि। समुद्रतट के कटे फटे होने से तथा प्राकृतिक बन्दरगाहों के कारण सामुद्रिक यातायात में आश्चर्यजनक उन्नति हुई।

नौवहन अधिनियम (Navigation Act)

ये अधिनियम १३८१से लेकर १६६६ तक बने। १५५६ में कुछ समय के लिये ये रद्द कर दिये गये थे। इनके द्वारा विदेशी जहाजों के ब्रिटिश जल में आने पर प्रतिबन्ध लगाया गया। इन अधिनियमों द्वारा इंगलैंड में जहाजरानी का विकास तीव्रगति से हुआ परन्तु अन्य राष्ट्र क्षुब्ध हो गये। अन्त में १८४६ में इन नियमों को समाप्त कर दिया गया।

सामुद्रिक यातायात का विकास

(१) १७६६ से १८५४:—विभिन्न देशों से व्यापारिक सन्धियाँ हुई और इन्हें कुछ रियायतें दी गई। १८४६ के बाद व्यापार निर्बाध रूप से होने लगा।

(२) १८५४ से १८८०:—इस काल में विभिन्न आविष्कारों का प्रयोग जहाजरानी में हुआ। १८६७ में स्वेज नहर खुली। १७८७ से लोहे के जहाज बनने लगे। १८०२ में वाष्प चालित जहाज चालू हुआ। स्पात के जहाज भी बनने लगे जो अति उत्तम सिद्ध हुए।

(३) १८८० से १६१४:—इस काल में अमेरिका, जर्मनी आदि देशों की प्रतिस्पर्धा के कारण ब्रिटिश जहाजी कम्पनियों के संगठन बनने लगे।

(४) १६१४ से १६१८:—युद्ध के आरम्भ होने से जल यातायात सरकारी नियंत्रण में ले लिया गया। युद्ध में ब्रिटेन के जहाजों को क्षति पहुँची। अतः जहाज निर्माण प्रोत्साहित किया गया।

(५) १६१६ से १६३६:—इस समय कई कठिनाइयाँ उपस्थित हुई। १६२१ १६२६ तक मन्दी रही। १६२६ से १६३२ तक विश्व आर्थिक संकट का बुरा प्रभाव था। १६३४ से राजकीय आर्थिक सहायता दी जाने लगी।

(६) १६३६ से अब तक.—द्वितीय महायुद्ध में अधिक ब्रिटिश जहाज नष्ट हुए जिसकी पूर्ति अमेरिका से जहाज खरीदकर और देश में जहाज निर्माण कर पूरी करने के प्रयत्न किये गये। १६५५ में जहाजरानी के विकास के लिये ५·५ मि० पौंड की योजना बनाई गई। इस समय इंगलैंड की जहाजरानी का विश्व में द्वितीय स्थान है।

वायु यातायात—

इंगलैंड में वायु यातायात का आरम्भ १६१६ से हुआ जब लन्दन और पेरिस के बीच वायु सेवा स्थापित हुई। १६२४ में छोटी २ कम्पनियों का पुनर्गठन हुआ और सरकारी आर्थिक सहायता दी गई।

१६२६ में इंगलैंड और भारत के बीच वायु सेवा आरम्भ हुई। १६३४ में लन्दन आस्ट्रेलिया के बीच मेल सर्विस स्थापित हुई और १६३५ मे यात्री सर्विस।

१६३६ में British Overseas Airways Corporation (B. O. A. C.) की स्थापना हुई।

द्वितीय महायुद्ध के बाद वायु सेवाओं के अधिक विस्तार के कारण वायुयानों की कमी हुई जिसकी पूर्ति बाहर से वायुयान खरीद की कर गई।

ब्रिटेन में वायु यातायात एक मन्त्री के अन्तर्गत सरकारी नियन्त्रण में है। १६५२ की नई नीति के कारण वायु यातायात को बहुत प्रोत्साहन मिला।

प्रश्न

1. Describe the development of shipping in England during 1822-1845. What were the effects of the abolition of Navigation Acts ?

इंगलैंड मे १८२२ से १८४५ के समय जहाजरानी के विकास का वर्णन करिये। नौवहन अधिनियमों की समाप्ति के क्या प्रभाव पड़े ?

2. "The Locomotive and the steamship suddenly replaced national economy by *international economy*"—*Comment.*

(Raj. Uni B.Com., 1952).

"इन्जिन और भाप के जहाज ने अविलम्ब आर्थिक व्यवस्था को अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था का रूप दिया।" समीक्षा कीजिये। (राज०वि० बी० कॉम, १६५२)

3. "The general results of the growth of Mechanical Transport after 1870 were revolutionary." Briefly indicate these

results and discuss the resulting changes in British foreign trade. (Raj. Uni. B. Com., 1959)

"१८७० के बाद यान्त्रिक यातायात के विकास के सामान्यः प्रभाव क्रान्तिकारी थे।" इन प्रभावों को बताइये और ब्रिटिश व्यापार में जो परिवर्तन हुए उन्हें समझाइये। (रा० वि० बी० कॉम, १६५६)

4. What do you know about Britain's shipping industry ? How far has it been responsible for the making of modern Britain ? (Raj. Uni. B. Com. 1960)

ब्रिटिश जहाजरानी के बारे में आप क्या जानते हैं ? यह आधुनिक ब्रिटेन के निर्माण मे कहाँ तक जिम्मेदार है ? (राज० वि० बी.कॉम, १६६०)

अध्याय १५

स्वतन्त्र व्यापार-नीति और संरक्षण

(LAISSEZ-FAIRE AND PROTECTION)

"The best Government is that which governs the least", was the maxium, Laissez-faire was the ideal." —Knowles

व्यापारवाद नीति (Mercantilism) १७ वी व १८ वी शताब्दी मे ब्रिटेन मे व्यापारवाद नीति (Mercantilism) प्रचलित थी। इस नीति के अन्तर्गत राष्ट्र को शक्तिशाली और सम्पन्न बनाने के उद्देश्य से देश के आर्थिक जीवन के प्रत्येक अङ्ग को राज्य द्वारा नियन्त्रित किया जाता था। इस नीति के अनुसार अन्न कानून' (Cron Laws) द्वारा विदेशी अनाज के आयत (Imports) पर प्रतिबन्ध अथवा भारी आयात कर लगा दिये गये। नाविक शक्ति का विकास नौवहन कानूनो (Navigation Acts) द्वारा किया गया। यह व्यापारवाद नीति कृत्रिम कानूनो, प्रतिबन्धो और नियन्त्रणों द्वारा ब्रिटेन को एक शक्तिशाली राष्ट्र बनाने मे सफल हुई। अन्न कानूनों के कारण कृषि की दशा मे सुधार हुआ। नाविक कानून के कारण ब्रिटेन का जहाजी बेड़ा बहुत शक्तिशाली हो गया। १८ वी सदी के अन्त तक और १९ वी सदी के आरम्भ मे व्यापारवाद का ही बोलबाला रहा।

इस नीति की असफलता:—१९ वी सदी के आरम्भ मे फिर परिस्थितियो मे परिवर्तन हुआ और व्यापारवाद नीति की सफलता पर सन्देह प्रकट किया जाने लगा। औद्योगिक क्राति के कारण इन वर्षों में इगलैंड के आर्थिक क्षेत्र मे महत्वपूर्ण परिवर्तन हो चुके थे। लोग स्वतन्त्र व्यापार की नीति का समर्थन करने लगे। एडमस्मिथ (Adam Smith) ने अपनी पुस्तक Wealth of Nations में सन् १७७६ मे इस नीति का स्पष्टीकरण किया। बाद में इस नीनि का समर्थन रिकार्डो, जेम्समिल आदि ने भी किया। इस नीति का प्रधान उद्देश्य यह था कि आर्थिक क्षेत्र मे राज्य द्वारा हस्तक्षेप (Interference) नही होना चाहिये और उद्योग तथा व्यापार व्यक्तिगत क्षेत्रों के लिये छोड़ दिये जायें। राज्य का प्रधान कार्य केवल देश की रक्षा करना और शान्ति बनाये रखना था।

स्वतन्त्र व्यापार नीति के अपनाये जाने के कारण

(१) औद्योगिक क्रांति (Industrial Revolution):—इस क्राति के कारण उद्योगों का विकास तीव्र गति से होने लगा जिससे सरकारी प्रतिबन्ध हटाने की आवश्यकता हुई।

(२) अर्थशास्त्रियों का समर्थन (Support of Economists)—एडमस्मिथ आदि अर्थशास्त्रियों ने व्यापारवाद नीति की कटु आलोचना की और स्वतन्त्र व्यापार नीति का समर्थन किया।

(३) स्वर्णमान का अपनाना (Adoption of Gold Standard)—स्वर्ण-मान के अपनाये जाने के फलस्वरूप सोने का स्वतन्त्र आयात निर्यात होने लगा जिससे सरकारी हस्तक्षेप समाप्त होने लगा।

(४) विदेशी व्यापार में वृद्धि (Increase in foreign Trade)—विदेशी व्यापार को बढ़ाने के लिये स्वतन्त्र व्यापार नीति आवश्यक थी जिससे निर्बाध रूप में कच्चा माल आ सके और निर्मित माल विदेशों को पहुँचाया जा सके।

स्वतन्त्र व्यापार नीति के अपनाये जाने के कारण
(१) औद्योगिक क्रान्ति
(२) अर्थशास्त्रियों द्वारा समर्थन
(३) स्वर्णमान का अपनाना
(४) विदेशी व्यापार में वृद्धि
(५) अमेरीका की स्वतन्त्रता

(५) अमेरिका की स्वतन्त्रता (Independence of America)—१७७६ में अमेरिका इंगलैंड के शासन से मुक्त हो गया। इस देश से सम्बन्ध बनाये रखने के लिये स्वतन्त्र व्यापार नीति अपनाना आवश्यक था।

आरम्भ में तो यह नीति केवल एक सिद्धान्त मात्र ही थी। क्रियात्मक रूप में इस पर व्यवहार बहुत बाद में किया गया। सन् १८२४ में Combination Laws को समाप्त कर दिया गया और श्रमिकों को अपने संघ (Unions) बनाने की स्वतन्त्रता दे दी गई।

सन् १८५४ तक जल यातायात के सम्बन्ध में सामुद्रिक और तटीय प्रतिबन्ध (Restrictions) हटाये जा चुके थे।

सन् १८६६ में अन्न कानूनों की समाप्ति हो चुकी थी और खुले रूप में अनाज का आयात होने लगा। व्यापार नीति में भी सुधार किया जाने लगा। कच्चे माल के आयात करों (Import-duties) को घटाकर कम कर दिया गया। मशीनों के निर्यात (Exports) प्रतिबन्धों को हटा लिया गया। इस प्रकार कई वर्षों के संघर्ष के पश्चात् इंगलैंड में अब स्वतन्त्र व्यापार की नीति का पूर्णरूपेण अवलम्बन होने लगा।

वास्तव में स्वतन्त्र व्यापार नीति का आन्दोलन पूरे वेग से सन् १८२० से प्रारम्भ हुआ। सन् १८५० से १८७५ तक का काल ब्रिटिश कृषि का स्वर्णयुग (Golden Age) कहलाता है लेकिन यही काल ब्रिटिश उद्योग व व्यापार का भी स्वर्णयुग कहलाता है। अन्तर केवल यह है कि उसके बाद कृषि की दशा तो गिरती ही चली गई किन्तु उद्योग और व्यापर प्रथम महायुद्ध तक बढ़ता गया।

१८२२ से १८२७ के काल में हस्किसन (Haskisson) के प्रयत्नों द्वारा कच्चे माल के आयात पर कर समाप्त कर दिये गये और निर्यात में प्रतिबन्ध हटाये जाने लगे।

श्री पील (Peel) के सुधारों के कारण कच्चे माल के आयात कर बहुत कम हो गये और उसने अपने बजट में आयकर सम्मिलित किया।

स्वतंत्र व्यापार नीति के लाभ

इस नीति को अपनाने के बाद ब्रिटेन विश्व का सबसे बड़ा औद्योगिक और व्यापारिक राष्ट्र बन गया। अन्न और कच्चे माल का आयात होने लगा तथा निर्मित माल का निर्यात। विदेशी व्यापार में वृद्धि के कारण बैंकिंग, बीमा और यातायात में भी विकास हुआ। इस सर्वांगीण उन्नति में स्वतंत्र व्यापार की नीति का ही हाथ था।

इस नीति का अपनाये जाना उस देश के आर्थिक विकास के इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना मानी जाती है। यह एक ऐसी घटना थी जिसने इंगलैंड की आर्थिक प्रगति को एक नया मोड़ दिया, जिसके द्वारा यहां के उद्योग एवं व्यापार आदि के लिये विकास के सब मार्ग खुल गये। कच्चे माल तथा खाद्य पदार्थों का आयात बढ़ा, बड़े २ कारखानों की संख्या में वृद्धि हुई और भारी मात्रा में वहाँ सब प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन होने लगा। साख (Credit) बैंक, बीमा (Insurance) और यातायात के क्षेत्रों में भी ब्रिटेन ने उन्नति की।

इस समृद्धि का लाभ ब्रिटेन के प्रत्येक वर्ग को हुआ। मिल मालिक और व्यापारी मालामाल हो गये। श्रमिकों के वेतन बढ़े और उनके जीवन स्तर में वृद्धि हुई। अतः यह कथन सत्य है कि स्वतंत्र व्यापार की नीति के कारण ही १९ वीं सदी के उत्तरार्द्ध में ब्रिटेन की आर्थिक समृद्धि में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई। यद्यपि इस समृद्धि के अन्य कारण भी थे, जैसे इंगलैंड की अनुकूल स्थिति, नाविक शक्ति तथा आविष्कार आदि, फिर भी यह निर्विवाद है कि इस सम्पन्नता का सबसे प्रमुख कारण यह निर्बाध नीति ही था।

स्वतंत्र व्यापार की नीति का परित्याग

सन् १८७० के बाद कुछ ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गईं जिनके कारण स्वतंत्र व्यापार की नीति के विरुद्ध लोगों में प्रतिक्रिया होने लगी। इस नीति के समर्थकों का यह विचार कि संसार के सब देश इस नीति का अनुसरण करें जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वृद्धि होगी और सब देशों को इससे लाभ होगा, निर्मूल (Baseless) सिद्ध हुआ। अन्य देशों ने स्वतंत्र व्यापार के स्थान पर संरक्षण की नीति अपना ली। दूसरी बात यह थी कि अन्य देशों ने भी औद्योगिक उन्नति कर ली थी और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में ब्रिटेन की प्रतियोगिता करने लगे थे। अतः यह आवश्यक समझा जाने लगा कि प्रतियोगिता से बचने के लिये ब्रिटेन भी संरक्षण

की नीति अपना ले। स्वतंत्र व्यापार की नीति में लोगों का विश्वास न रह गया और उसकी सफलता में सन्देह होने लगा। सन् १८७५ के बाद ब्रिटिश कृषि की दशा गिरने लगी और बाहरी प्रतियोगिता के कारण अन्न के भाव बहुत अधिक गिर गए।

मन्दी की परिस्थितियों व विदेशी व्यापार के असन्तुलन (Disequilibrium) के कारण स्वतंत्र व्यापार की नीति असफल होने लगी। बाहरी सस्ते अनाज एवं अन्य सस्ते माल के स्वतन्त्र आयात के कारण ब्रिटिश कृषि व उद्योगों की दशा गिरने लगी। विदेशी बाजारों में भी जर्मनी और अमेरिका के माल द्वारा प्रतियोगिता होने लगी।

इस कठिनाई से बचने के लिये यह कहा जाने लगा कि आयात कर नीति के सम्बन्ध में ब्रिटेन और उसके उपनिवेशों में गठबन्धन हो जाना चाहिये। अन्य राष्ट्रों के माल पर आयात कर लगाया जाना चाहिये और उपनिवेशों के माल पर आयात कर में रियायतें दी जायें। इसी प्रकार ब्रिटिश माल पर भी उपनिवेशों द्वारा अन्य देशों के माल की अपेक्षा कम दर पर आयात कर लगना चाहिये। इस बात का प्रयत्न किया गया कि स्वतंत्र व्यापार की नीति के स्थान पर पारस्परिक व्यापार सन्धियां (Mutual Trade Pacts) करने और औपनिवेशिक प्राथमिकता (Imperial Preference, की नीति अपनाई जाये।

प्रथम महायुद्ध आरम्भ होने ही कई वस्तुओं पर आयात कर लगा दिया गया। सन् १९१५ में कई विलास की वस्तुओं जैसे मोटर साइकिल, सिनेमा, फिल्मस, घड़ियां, ग्रामोफोन आदि पर आयात कर लगाये गये। जहाजों की कमी और विदेशी विनिमय की कठिनाइयों के कारण यह कदम उठाया गया। युद्ध के बाद भी यह कर जारी रहे। सन् १९१९ में उपनिवेशों से आने वाले माल पर इन करों में कुछ कमी कर दी गई। सन् १९२० में रंग उद्योग को संरक्षण (Protection) दिया गया और १९२२ में उद्योग सुरक्षा अधिनियम (Industrial Security Acts) के द्वारा विदेशी सस्ते माल पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया और कई अन्य वस्तुओं पर कर लगा दिये गये।

इस काल में मन्दी और बढ़ती जा रही थी। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कमी हो रही थी। युद्ध के कारण कई देशों की आर्थिक व्यवस्था छिन्नभिन्न हो गई थी और लोगों की क्रय शक्ति (Purchasing Power) गिर गई थी। अन्य देशों में औद्योगिकरण बढ़ रहा था और उन्होंने भी अपने जहाजी बेड़ों का विकास कर लिया था तथा अब वे जल यातायात में ब्रिटेन के साथ प्रतियोगिता करने लगे थे।

दूसरी ओर ब्रिटिश उद्योगों की दशा गिरती जा रही थी और उनमें अन्य देशों से टक्कर लेने की क्षमता नहीं रह गई थी। निर्यात का मूल्य एवं परिमाण कम हो गया था और विदेशी व्यापार का सन्तुलन बिगड़ रहा था। इन सब कारणों से कई ब्रिटिश कम्पनियों को भारी हानि सहन करनी पड़ रही थी। अतः अब जनमत

(Public opinion) स्वतन्त्र व्यापार की नीति के नितान्त विरुद्ध था और संरक्षण की नीति का समर्थन किया जा रहा था।

सन् १९३२ में उपयुक्त परिस्थितियों के कारण संरक्षण की नीति अपना ली गई और आयातकर अधिनियम पास किया गया। इसके अन्तर्गत कुछ वस्तुओं को छोड़कर शेष सब वस्तुओं पर आयात कर दिया गया। अनाज के आयात पर भी कर लगाया गया। कुछ वस्तुओं पर तो १० से १००% तक आयात कर लगाया गया। आयात निर्यात कर घटाने बढ़ाने और तटकर नीति (Fiscal Policy) में संशोधन करने के लिये एक परामर्शदात्री समिति (Advisory Committee) की नियुक्ति की गई। सन् १९३३ में हुए समझौते के अनुसार शाही संरक्षण की नीति को अपना लिया गया।

इस प्रकार इंगलैंड ने स्वतन्त्र व्यापार की नीति जो वहाँ पिछली एक शताब्दी से प्रचलित थी उसका परित्याग कर दिया और अब वह भी संरक्षणवादी (Protectionist) देशों की श्रेणी में आ गया। नीति में यह परिवर्तन तत्कालीन आर्थिक आवश्यकताओं एवं परिस्थितियों के कारण किया गया।

संरक्षण नीति से लाभ (Advantages of the Policy of Protection)

संरक्षण नीति से लाभ
१ राष्ट्रीय आय में वृद्धि
२. उद्योगों का विकास
३ व्यापार संतुलन ठीक हो गया
४ उपनिवेशों के साथ व्यापारिक सम्बंध सुधार
५ स्टर्लिंग के मूल्य में सुधार
६. कृषि को लाभ

(१) राष्ट्र की आय (National Income) में वृद्धि हुई और इन करों का भार सारी जनता पर समान रूप से पड़ा।

(२) उद्योगों को संरक्षण प्राप्त हो गया, और वे बाहरी सस्ते माल की प्रतियोगिता (Competition) से बच गये।

(३) इससे आयात पर रोक लग गई और निर्यात को प्रोत्साहन मिला जिसके कारण विदेशी व्यापार का सन्तुलन (Balance of Trade) ठीक हो गया।

(४) उपनिवेशों (Colonies) के साथ शाही प्राथमिकता (Imperial Preference) के कारण व्यापारिक सम्बन्ध अच्छे हो गये।

(५) स्टर्लिंग मुद्रा का अवमूल्यन (Devaluation) रुक गया और उसने अपने पूर्व मूल्य को प्राप्त कर लिया।

(६) विदेशी सस्ते अनाज पर कुछ कर लग जाने से ब्रिटिश कृषि को भी लाभ हुआ।

उपर्युक्त लाभों को देखते हुए इस नीति का अपनाया जाना उचित ही था। इसने इङ्गलैंड की गिरती हुई आर्थिक दशा में सुधार कर दिया। यद्यपि इंगलैंड अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपने इस खोये हुए स्थान को तो न प्राप्त कर सका, जो कि उसे प्रथम युद्ध के पूर्व प्राप्त था फिर भी संरक्षण के द्वारा उसने अपनी गिरती हुई आर्थिक अवस्था को रोक ही नहीं लिया बल्कि कुछ सुधार भी कर लिया।

सारांश (Summary)

१७ वीं व १८ वी शताब्दी में व्यापार नीति प्रचलित होने के कारण Corn Laws और Navigation Act बनाये गये जिससे ब्रिटेन ब्रिटेन एक शक्तिशाली राष्ट्र बन गया।

औद्योगिक क्रांति के कारण व्यापारवाद (Mercantilism) नीति असफल होने लगी। एडमस्मिथ आदि अर्थशास्त्रियों ने स्वतन्त्र व्यापार नीति का समर्थन किया।

स्वतन्त्र व्यापार नीति (Free Trade) अपनाये जाने के कारण:—

(१) औद्योगिक क्रांति। (२) अर्थशास्त्रियों का समर्थन। (३) स्वर्णमान का अपनाना। (४) विदेशी व्यापार में वृद्धि के लिये। (५) अमेरिका की स्वतन्त्रता।

१८२४ में (Combinations Laws) समाप्त कर दिये गये। १८५४ तक नौवहन अधिनियम हटा दिये गये और १८६६ में अन्य कानूनों की समाप्ति हुई। स्वतन्त्र व्यापार का आन्दोलन १८२० से तीव्र गति से आरम्भ हुआ।

१८२२ से १८२७ के मध्य हस्किसन के सुधारों के फलस्वरूप आयात निर्यात करों में कुछ कमी हुई। बाद में पील और ग्लैडस्टोन द्वारा महत्वपूर्ण सुधार हुए।

स्वतन्त्र व्यापार नीति के लाभ:—

इस नीति से ब्रिटेन में उद्योग व व्यापार की अत्यधिक प्रगति हुई तथा बैंकिङ्ग, बीमा और यातायात में भी विकास हुआ। कच्चे माल का आयात बढ़ा और निर्मित माल के निर्यात में वृद्धि हुई।

इस समृद्धि का लाभ मिल मालिक, व्यापारी व श्रमिक आदि सबको हुआ।

स्वतन्त्र व्यापार नीति का परित्याग:—

१८७० के बाद इस नीति का विरोध किया जाने लगा क्योंकि अन्य राष्ट्र संरक्षण की नीति अपना रहे थे। ब्रिटेन में मन्दी तथा विदेशी व्यापार की गिरावट के कारण यह नीति असफल होने लगी। यह कहा गया कि ब्रिटेन भी अन्य राष्ट्रों के माल पर आयात कर लगाने और व्यापारिक सन्धियाँ की जायें।

१९१५ में कई विलास की वस्तुओं के आयात पर कर लगाये गये, परन्तु १९१९ में उपनिवेशों से आने वाले माल पर कुछ रियायतें की गईं। १९२२ में उद्योग सुरक्षा अधिनियम द्वारा कई वस्तुओं पर कर लगा दिये गये।

विश्व मन्दी के कारण ब्रिटिश उद्योगों की दशा गिरती जा रही थी जब कि अन्य राष्ट्र औद्योगिकरण और जहाजरानी का विकास कर रहे थे।

१९३२ में उपर्युक्त कारणों से संरक्षण की नीति अपनाई गई जिसके द्वारा कुछ वस्तुओं को छोड़ कर शेष सब पर आयात कर लगा दिये गये। १९३३ में शाही संरक्षण (Imperial Preference) की नीति अपना ली गई।

संरक्षण नीति (Protectionist Policy) से लाभ

(१) राष्ट्र की आय में वृद्धि। (२) उद्योगों की बाहरी प्रतियोगिता से रक्षा हुई। (३) विदेशी व्यापार का असन्तुलन ठीक हो गया। (४) व्यापारिक सम्बन्ध अच्छे हो गये। (५) स्टर्लिंग (Sterling) मुद्रा का अवमूल्यन रुक गया। (६) ब्रिटिश कृषि का विकास हुआ।

इस प्रकार इस नीति ने इङ्गलैंड की गिरती हुई आर्थिक दशा में सुधार किया।

प्रश्न

1. In what ways did the British Govt. deviate from the usual Free Trade Policy after the War of 1914-18 ? Explain the circumstances which necessitated this change,

(Raj Uni. B. Com. 1949)

१९१४-१८ के युद्ध के बाद किस प्रकार ब्रिटिश सरकार स्वतन्त्र व्यापार नीति से विचलित हुई ? इस परिवर्तन को अनिवार्य करने वाली परिस्थितियों का वर्णन करिये। (राज० वि० बी० कॉम, १९४९)

2. 'The adoption of Free Trade Policy in England was a turning point in the history of her economic development'. Comment.

"स्वतन्त्र व्यापार नीति का इङ्गलैंण्ड में अपनाये जाना, उसके आर्थिक विकास के इतिहास में एक महत्वपूर्ण कदम था।" समीक्षा कीजिये।

3. Give a short analysis of the free trade policy of England in the 19th century (Raj. Uni. I yr. T D C, Arts, 1962)

१९ वीं शताब्दी में प्रचलित इंगलैण्ड की स्वतन्त्र व्यापार नीति की संक्षिप्त विवेचना कीजिये। (राज० वि०, टी. डी. सी प्रथम वर्ष कला, १९६२)

बैंकिग और राजस्व

(BANKING AND PUBLICE FINANCE)

The Bank of England Nationalisation Act gave, "statutory authority to what has long existed by custom and tradition."
—Lord Catto, Governor, Bank of England.

बैंकिग व्यवस्था

ईसाई धर्म द्वारा ब्याज लेना वर्जित था, साथ ही उस समय ब्याज लेना कानूनी अपराध समझा जाता था। इस स्थिति में बैंकिग व्यवसाय के आरम्भ होने की कोई सम्भावना न थी। धीरे २ लोग सोचने लगे कि पूंजी को व्यापारी अपने व्यवसाय मे लगाकर लाभ अर्जित करते है तो धन देने वालों का भी कुछ भाग उस लाभ में होना चाहिये।

सन् १५४५ में कानून द्वारा ब्याज लेना वैध (legal) कर दिया गया। उस समय लोग अपने धन को सुरक्षित रखने के लिये सुनारो (Goldsmiths) के पास रख देते थे। इस जमा धन में से आवश्यकता पड़ने पर समय समय पर लोग धन निकालते थे। इस प्रकार सुनारों ने लोगों को आकर्षित करने के लिये जमा धन पर ब्याज देना भी आरम्भ कर दिया और जमा धन का एक भाग ब्याज पर उधार भी देने लगे।

सन् १६६४ मे बैंक ऑफ इगलैण्ड (Bank of England) की स्थापना हुई। इस बैंक को व्यवसाय करने के लिये सरकार से अधिकार पत्र (Charter) मिल गया था। सन् १८२६ तक यही बैंक एक सम्मिलित पूँजी वाला बैंक (Joint Stock Bank) था।

सन् १७५० से पूर्व बैंकिग मुख्यकर लन्दन तक ही सीमित था। देहातो मे जो भी बैंक थे, वे निजी थे। गाँवों मे व्यापारी व्यापार के साथ बैंकिग कार्य भी करते थे।

औद्योगिक क्रान्ति के कारण बैंकिग व्यवसाय का भी बहुत विस्तार हुआ। जगह जगह निजी बैंक (Private Banks) खुल गये थे। परन्तु बैंकिग व्यवसाय सीमित साधनों वाले सामान्य योग्यता के लोगो के हाथ में था। सन् १७९३ और १८२५ के बीच आर्थिक सकटो (Financial difficulties) के कारण कितनी ही बैंकें फेल हो गई।

सन् १८१५ में इन छोटे छोटे निजी बैंको के विपक्ष में यह कहा गया कि ये सट्टा (Speculation) करते हैं, प्रबन्ध अकुशल है और ये अपर्याप्त जमानत (Security) पर ऋण देते हैं।

बैंको के अधिक संख्या मे फेल होने के कारण सरकार का ध्यान इस ओर गया। सन् १८२६ के कानून के द्वारा लन्दन से ६५ मील दूर के स्थानो पर सम्मिलित पूंजी वाले बैंक स्थापित किये जा सकते थे। इन्हे नोट निर्गमन (Note Issue) का अधिकार दिया गया। सन १८३३ के अधिनियम के अनुसार सम्मिलित पूंजी वाले बैंको को लन्दन मे अपने कार्यालय स्थापित करने का अधिकार प्राप्त हो गया। इन कानूनो ने इंगलैंड मे महत्वपूर्ण बैंको के स्थापित होने मे सहयोग दिया।

परन्तु इस समय तक अपरिमित दायित्व (Unlimited Liability) सिद्धान्त था, इसलिये कम्पनियो और साझेदारी (Partnership) में कोई अन्तर न था। सन १८५५ मे कम्पनियाँ सीमित दायित्व (Limited Liability) के सिद्धान्त के अनुसार रजिस्टर्ड हो सकती थी। सन १८५८ में यह सिद्धान्त बैंकिंग कम्पनियों के लिये भी लागू कर दिया गया। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक अशधारी (Share holder) अपने शेयर (Share) की रकम तक के लिये ही उत्तरदायी माना जाता था। इस सिद्धान्त के लागू होने से बडी बडी बैंकिंग कम्पनियों की स्थापना होने लगी। इन्होने स्थान स्थान पर शाखाएं (Branches) भी खोलना आरम्भ कर दिया।

बडे बैंको के विकास की यह प्रवृति २० वीं शताब्दी मे भी चलती रही। ये बैंक पर्याप्त साधन होने के कारण बडे संकटो का सामना करने मे समर्थ हो सके और लोगों के विश्वास को प्राप्त कर सके। आजकल इगलैंड का बैंकिंग व्यवसाय बैंक ऑफ इंगलैंड तथा पाच बडे बैंको द्वारा होता है जिनकी शाखाएं देश के विभिन्न भागो मे हैं। इनकी शाखाएं विदेशो मे भी हैं। ये पाच बडे बैंक निम्नलिखित हैं—

(१) बार्कलेज (Barcleys)
(२) लायड्स (Lloyds)
(३) मिडलैंड (Midland)
(४) वेस्ट मिनिस्टर (West Minister)
(५) नेशनल प्रोविंशल (National Provincial)

बैंक ग्राफ इंगलैंड (Bank of England —सन १८४४ के बैंक कानून द्वारा बैंक ऑफ इंगलैंड के दो विभाग कर दिये गये—(१) बैंकिंग विभाग (२) निर्गम विभाग (Issue Department)। लन्दन के किसी अन्य बैंक को नोट निर्गम का अधिकार नहीं रहा। सन १८२१ में बैंक ऑफ इगलैंड द्वारा ही नोट निर्गमन किया जा सकता था। सन १८४४ के बाद से ही चैक पद्धति (Cheque System) का प्रयोग बहुत अधिक होने लगा।

इङ्गलैंड का बैंक सन् १६६४ में स्थापित हो चुका था। धीरे २ इसका महत्व बढ़ता गया और वह देश के केन्द्रीय बैंक (Central Bank) के रूप में कार्य करने लगा। नोट निर्गमन का उसे एकाधिकार (Monopoly) प्राप्त हो गया। सरकार के सारे बैंकिंग सम्बन्धी कार्य उसको सौंप दिये गये। वह सरकारी ऋण (Public Debt) का प्रबन्ध करने लगा और आर्थिक मामलों में सरकार को परामर्श देने लगा। यह बैंकों का बैंक (Banker's Bank) बन गया और इस प्रकार दूसरे बैंक इसमें धन जमा कराने तथा ऋण लेने लगे जिससे आर्थिक स्थिरता आ गई। सन् १९४६ में इस बैंक का राष्ट्रीयकरण (Nationalization) कर दिया गया।

राजस्व (Finance)

इंगलैण्ड के राजस्व की स्थिति परिस्थितियों के अनुसार बदलती रही है। व्यापार वादी (Mercantilist) युग में आयात निर्यात के कर (Import export duties) राज्य की आय के मुख्य साधन थे। परन्तु निर्बाध व्यापार नीति (Laissez Faire Policy) के कारण ये आय के स्रोत कम होते गये। परन्तु १९३२ में संरक्षण (Protection) की नीति अपनाई जाने के फलस्वरूप आयात निर्यात करों की फिर से महत्ता बढ़ गई। आय कर (Income Tax) आरम्भ में अस्थायी तौर पर लगाया गया था, परन्तु बाद में आय का स्थायी साधन बन गया। ऋणों का परिमाण बहुत अधिक बढ़ गया।

१६८८-८९ से पूर्व इंगलैंड में राजा की प्रधानता थी और उसकी जो आय होती थी उसी से सरकार का व्यय चलता था। बाद में पार्लियामेंट पर उत्तरदायित्व आ गया और राजा की आय और दरबार के खर्चे प्रशासन के सामान्य व्यय (General administration expenses) से पृथक कर दिये गये। राजा को प्रति वर्ष दी जाने वाली राशि पहले से निश्चित कर दी जाती थी।

सन् १८६६ से सार्वजनिक आय-व्यय के निरीक्षण का कार्य कंट्रोलर एवं आडिटर जनरल (Controller and Auditor General) के द्वारा किया जाने लगा।

आयात निर्यात कर (Import & Export duties):—सन् १६६२ से पूर्व सरकारी आय के मुख्य साधन आयात निर्यात कर तथा उत्पादन कर (Excise Duties) थे। बाद में कुछ वस्तुओं पर से सीमा शुल्क (Customs duties) हटा दिया गया और अनेक पर कम कर दिया क्योंकि ऐसा विश्वास किया जाने लगा कि इससे व्यापार में वृद्धि होगी और लोगों की सम्पन्नता बढ़ेगी।

सन् १७८३ से मुक्त व्यापार नीति अपनाने के कारण बहुत से अप्रत्यक्ष करों (Indirect Taxes) में कमी की गई, जैसे चाय पर आयात ११% से घटा कर १२½% कर दिया।

नेपोलियन युद्धों की समाप्ति पर सन् १८१६ मे आयकर हटा दिया गया। इस कारण पुन: आयात कर लगाये गये, जिससे साधारण जनता पर कर का भार बढ़ गया।

सन् १८२३ से मुक्त व्यापार (Free trade) की ओर फिर प्रवृत्ति बढ़ी। निर्यात की कुछ वस्तुओं पर जो भारी कर लगाये जाते थे उनमें कमी कर दी गई।

सन् १८४२ मे कच्चे माल (Raw Materials) की अनेकों वस्तुओं पर से आयात कर हटा दिया गया तथा कई निर्मित वस्तुओं (Manufactured goods) पर से निर्यात कर समाप्त कर दिया गया।

सन् १८५५ में क्रीमिया युद्ध के कारण चाय, चीनी, कॉफी और मदिरा पर आयात कर बढ़ा दिये गये। सन् १८६० में मुक्त व्यापार नीति अपनी चरम सीमा पर थी, केवल ४८ वस्तुओं पर जो कर रह गये थे, वे भी संरक्षात्मक नहीं थे।

सन् १९३२ मे संरक्षण की नीति (Protectionist Policy) को अपनाया गया और वस्तुओं के मूल्य पर आयात कर लगा दिये गये।

आयकर (Income Tax):—यह सर्वप्रथम १७९८ में लगाया गया। यह युद्ध कर (war tax) के रूप में लगाया गया था और १८१६ में हटा दिया गया। सन् १८८२ में जब व्यापार को प्रोत्साहन देने के लिये बहुत सी वस्तुओं पर से सीमा शुल्क हटा दिया गया था तो अस्थायी तौर से आयकर फिर लगा दिया गया। क्रीमिया युद्ध, भारत का १८५७ का विद्रोह तथा चीन व रूस के युद्धों के कारण आयकर जारी रहा। परन्तु बदलती हुई परिस्थितियों के कारण आयकर की दरें घटती बढ़ती रहीं।

सन १९०७ में आयकर को आय का स्थायी साधन मान लिया गया और १९०९ मे सुपरटैक्स (Super Tax) भी लगाया गया। १९१४-१८ के महायुद्ध के समय आयकर और सुपरटैक्स की दरों मे वृद्धि की गई। अब य सरकार की आय के स्थायी व महत्वपूर्ण साधन हैं।

भूमिकर (Land Revenue):—सर्वप्रथम १६९२ में लगाया गया। यह प्रथम प्रत्यक्ष कर (Direct Tax) था जो इंग्लैंड मे सर्वप्रथम लगाया गया।

मृत्युकर (Death duties)—यह सर्व प्रथम १८९४ मे लगा, जब ग्लैडस्टोन प्रधान मंत्री थे। यह कर अब सम्पत्ति कर (Estate Duty) के नाम से प्रसिद्ध है। यह कर मृतक व्यक्तियों द्वारा छोड़ी हुई सम्पत्ति पर लगता है। सन् १९०७ में इसकी दरें बढ़ा दी गईं। सरकार की आय [redacted] यह वर्तमान समय में अत्यन्त महत्वपूर्ण साधन है। इसके द्वारा राज्य की आय बढ़ाने के साथ ही समाज में विषम सम्पत्ति-वितरण (Inequitable distribution of wealth) का दोष भी कम हो जाता है।

लोक ऋण (Public Debt):—संकटकालीन स्थिति में विशेषकर युद्धकाल में सरकार का व्यय उसकी सामान्य आय से नहीं पूरा हो पाता। देश को रक्षा करने

के लिये तथा युद्ध के लिये ऋण लेना आवश्यक हो जाता है। ऐसे ऋण सामान्यतः अनिश्चितकाल के लिये लिये जाते हैं और उनको Funded Debts कहते हैं। जो ऋण निश्चित काल के लिये लिये जाते हैं उन्हें Unfunded Debt कहते हैं।

इंगलैंड में अनिश्चितकालीन ऋण का आरम्भ सन् १६९३ में हुआ। कालान्तर में ऋण की राशि में निरन्तर वृद्धि होती गई, जिसका प्रमुख कारण युद्धों का होना था।

सारांश (Summary)

ब्याज लेना ईसाई धर्म तथा कानून के विरुद्ध था। १५४५ में यह वैध कर दिया गया। पहले सुनारों द्वारा जमा पर ब्याज देना आरम्भ हुआ।

बैंकिंग का विकास—

१६९४ में बैंक ऑफ इंगलैण्ड स्थापित हुआ। १७५० से पूर्व बैंकिंग लन्दन तक सीमित था। औद्योगिक क्रान्ति के कारण बैंकिंग व्यवसाय का विकास हुआ, परन्तु १७९३ और १८२५ के आर्थिक संकटों के कारण बहुत से बैंक फेल हुए।

१८२६ के कानून द्वारा लन्दन के बाहर भी बैंक स्थापित किये जा सकते थे। १८३३ में इन्हें लन्दन में कार्यालय खोलने का अधिकार दे दिया गया।

१८५८ में सीमित दायित्व का सिद्धान्त बैंकिंग कम्पनियों पर लागू होने से बड़ी बड़ी बैंकिंग कम्पनियों की स्थापना हुई।

वर्तमान समय में इंगलैण्ड का बैंकिंग व्यवसाय बैंक ऑफ इंगलैंड तथा ५ बड़े बैंकों और उनकी शाखाओं द्वारा होता है। बैंक ऑफ इंगलैंड देश का केन्द्रीय बैंक है, उसे नोट निर्गम का एकाधिकार प्राप्त है, वह सरकारी बैंक है और बैंकों का बैंक है। सन् १९४६ में इसका राष्ट्रीयकरण कर दिया गया।

राजस्व—

व्यापारवादी नीति के समय आयात-निर्यात कर सरकारी आय के मुख्य साधन थे, परन्तु निर्बाध व्यापार नीति के कारण इनसे आय कम होती गई। १९३२ में संरक्षण नीति के फलस्वरूप इनकी महत्ता फिर से बढ़ गई।

आयात निर्यात कर:—१७८३ से मुक्त व्यापार नीति के कारण अप्रत्यक्ष करों में कमी की गई। सन् १८२३ से निर्यात करों में कमी की गई। १८४२ में कच्चे माल पर से आयात कर हटा दिया गया और निर्मित माल पर से निर्यात कर। १९३२ में संरक्षण नीति के कारण बहुत सी वस्तुओं पर आयात कर लगाये गये।

आय कर:—१७९८ में सर्वप्रथम लगाया गया। १९०७ में इसको आय का स्थायी साधन मान लिया गया। १९०९ में सुपर टैक्स लगाया गया।

भूमिकर:—सर्वप्रथम १६६२ मे लगाया गया।

मृत्युकर.—यह सर्वप्रथम १८६४ में लगा। यह कर अब सम्पत्ति कर के नाम से प्रसिद्ध है।

लोक ऋण—देश की रक्षा करने तथा युद्ध के लिये ऋण आवश्यक हो जाता है। अनिश्चितकालीन ऋण Funded Debts और निश्चितकालीन ऋण को Unfunded Debts कहते हैं।

प्रश्न

1. Trace the origin of the development of Banking in England and in this connection indicate the position of the Bank of England.

इङ्गलैंड मे बैंकिंग प्रथा के उद्गम का वर्णन कीजिये और इस सम्बन्ध में बैंक ऑफ इङ्गलैंड की स्थिति बताइये।

2. Give a short account of the chief sources of Income of British Govt and trace their origin.

ब्रिटिश सरकार की आय के मुख्य स्रोत बताइये और उनका उद्गम कब हुआ ?

BIBLIOGRAPHY

अध्ययन के लिये महत्वपूर्ण पुस्तकें

1. Industrial and Commercial Revolutions—Knowles
2. English Economic History—Southgate.
3. An Economic History of Europe—A Birnie
4. Eco. Development of Modern Europe—Ogg and Sharp
5. Eco History of England—Meredith.
6. British Trade and Industry—G D. H. Cole
7. Industrial History of England—Gibbons
8 Industrial and Social History of England—Cheyney
9. Economic History of England—M Briggs
10. Story of British Trade and Industry—J. Burnley
11. Industrial History of Modern England—G. Perris
12. Protective and Preferential Import Duties—A. C. Pigou.
13. An Introduction to the Eco. History of England—E Lipson
14. Introduction to English Eco. Hist & Theory—W J Ashley
15. England's Industrial Development—A. D. Innes
16. Growth of English Industry and Commerce in Modern Times —W. Cunningham
17. General History of Commerce—W. C. Webster.
18. History of Agriculture in England & America—N. S. B. Gras.
19. The Industrial History of England—A. P. Usher
20. The Development of Transportation in Modern England —W. J. Jackman.
21. British Economics—W. R. Lawson
22. Life and Labour in the 19th Century—C. R Fay
23 Economic History of Modern Britain—Clapham
24. *Great Britain from Adam Smith to Present Day—C R Fay*

भारत का आर्थिक विकास

(१८००—१९४७)

ECONOMIC DEVELOPMENT OF INDIA

"भारत की विश्व को बहुत बड़ी देन है।"



"भारत के प्राकृतिक स्रोत बहुत हैं। आवश्यकता है उनकी उचित सुरक्षा, विकास और उपयोग की।"

स्मरणार्थ वाक्य

(१) "किसी देश का आर्थिक संगठन बहुत बड़ी सीमा तक उस देश के प्राकृतिक साधनों के परिमाण, उनकी विविधता और उनके सदुपयोग पर निर्भर करता है।"

(२) "भारत को प्रकृति ने उदारतापूर्वक अपने अनेक उपहार प्रदान किये हैं, परन्तु खेद है भारतीय उनसे समुचित लाभ नहीं उठा सके। प्राकृतिक विपुलता और मानव-निर्धनता की यह विषमता एक अनोखी विडम्बना है।" —अपार एवं बेरी

(३) "भारत निर्धनों से बसा एक धनी देश है।" —वीरा ऍन्सटे

(४) "बहुउद्देशीय नदी घाटी योजनाएं वर्तमान भारत के तीर्थ स्थान हैं।" —पंडित नेहरू

(५) "भारत गाँवों में निवास करता है।" —महात्मा गांधी

(६) "मानव के विकास की कहानी बड़ी लम्बी और रोचक है।"

(७) "जब यूरोप के उन देशों में, जो आज औद्योगिक विकास के नेता बने हुये हैं, असभ्य जातियाँ निवास करती थीं, तब भारत अपने सम्राटों के अपार वैभव तथा शिल्पकारों की श्रेष्ठ कला के लिये प्रसिद्ध था।" —भारतीय औद्योगिक आयोग, १९१८

(८) "भारत का मोक्ष उसके कुटीरों के उत्थान में ही निहित है।" —महात्मा गांधी

(९) "भारतीय किसान के लिये कृषि एक व्यवसाय नहीं किन्तु एक जीवन का तरीका है।" —रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया

(१०) "उद्योग व्यवसाय की आत्मा तथा समृद्धि की कुंजी है।"—चार्ल्स डिकन्स

(११) "यदि कृषि और उद्योग एक राष्ट्र के अंग हैं तो परिवहन के साधन उसकी रक्त शिराएँ हैं।"

अध्याय १

हमारे आर्थिक विकास की भौगोलिक पृष्ठ भूमि

(GEOGRAPHICAL BACKGROUND OF OUR ECONOMIC DEVELOPMENT)

"किसी देश का आर्थिक संगठन बहुत बड़ी सीमा तक उस देश के प्राकृतिक साधनों के परिणाम और उनकी विविधता पर निर्भर करता है।"

किसी देश के आर्थिक विकास को ठीक ढंग से समझने के लिये उसकी भौगोलिक परिस्थिति का ज्ञान होना इतना ही आवश्यक है जितना गणित करने के पहिले अंकों का ज्ञान होना।

भारत की स्थिति (Geographical Position)

भारत की भौगोलिक महत्ता के विश्लेषण के लिये इस उप महाद्वीपीय भाग (Sub-Continent) की मानचित्रीय स्थिति पर विचार करना आवश्यक है। मानचित्र पर भारत की स्थिति ८°४° उत्तरी अक्षांश से ३७°६° उत्तरी अक्षांश तक फैली हुई है। उसी प्रकार पूर्व से पश्चिम तक यह ६८°७° से ९७°२५° पूर्वी देशान्तरों के मध्य स्थित है। भारत के दक्षिणी पश्चिमी भाग मे अरब सागर व पूर्वी दक्षिणी भाग में बंगाल की खाड़ी है। आकार की दृष्टि से भारत एक त्रिभुजीय (Triangular) द्वीप है, जिसका आधार दक्षिण मे न होकर उत्तर मे है। इसके विशाल विस्तार के कारण भारत मे उष्ण और शीतोष्ण कटिबन्धों का सुन्दर सामंजस्य है। भारतवर्ष का क्षेत्रफल १२,५६,७९७ वर्ग मील में फैला हुआ है। उत्तर से दक्षिण तक भारत की लम्बाई लगभग २००० मील और पूर्व से पश्चिम तक १८५० मील है। त्रिभुजीय आकार होने के फल स्वरूप इसके दक्षिणी भाग क्रमशः संकुचित होते गये हैं, और ठीक दक्षिण मे तो कुमारी अन्तरीप केवल मात्र एक लघु कोण ही बनकर समुद्र मे प्रविष्ट होता जान पड़ता है। इस प्रकार भारत के तीन ओर समुद्र है, जिससे विदेशी व्यापार की सुविधायें भारत मे पूर्ण रूपेण उपलब्ध हैं, परन्तु समुद्र तट सीधा और कम गहरा है तथा कटा फटा न होने के कारण कठिनाई से २-३ बन्दरगाह ही प्राकृतिक दृष्टि से उपयुक्त हैं। पूर्व में विशाखापतनम तथा पश्चिम मे बम्बई इस विचार प्रमुख हैं।

भारत की स्थिति का महत्व (Importance of her situation)

अपनी विभिन्न स्थिति से भारत व्यापारिक दृष्टि से विशिष्ट सुविधा प्राप्त देश है। उत्तरी गोलार्ध के 'मध्य में' स्थित होने के कारण तथा तीनों ओर समुद्री तट होने मे अन्तर राष्ट्रीय व्यापार मे भारत आगे बढ सकता है। प्रायः सभी प्रमुख देशो के लिये हमारे यहाँ से सुगमता पूर्वक जहाज जाते आते रहते है। स्वेज नहर के निर्माण के बाद तो भारत यूरोपीय देशो के अधिक निकट आ गया है। स्थल मार्गों की दृष्टि से भी भारत की स्थिति ठीक है। भारत के उत्तरी भाग में हिमालय पश्चिम से पूर्व तक फैला हुआ है, जिसमे से हो कर बड़े महत्वपूर्ण व्यापारिक दर्रे (Passes) निकले हुये हैं। हम चीन, तिब्बत व अरब आदि देशो से व्यापार इन्ही दर्रों के सहारे करते हैं। स्वेज नहर के पहले तो यूरोपीय देशो से हमारा केवल स्थल मार्गो से ही संबन्ध था। परन्तु हिमालय की विशालकाय चट्टानो ने हमें अपने पड़ोसी देशो से प्रायः अलग ही रक्खा है। वायु मार्गों की दृष्टि से भी भारत ऐशिया का केन्द्र माना जाता है। हमारे देश मे होकर योरोप और अमेरिका के वायु मार्ग जाते है। इस प्रकार हमारे देश की स्थिति अन्य देशो को तुलना में आर्थिक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है। रक्षात्मक (Defence) विचार से भी हम सुरक्षित हैं। उत्तर पूर्व से हिमालय के हिमाच्छादित पहाड़ हमारी रक्षा करते हैं और तीन ओर समुद्र है ही। इतिहास इस बात का साक्षी है कि केवल उत्तरी पश्चिमी भाग से ही विदेशियों के आक्रमण हमारे देश पर हुए हैं।

भारत की सामाजिक आधार शिलायें और आर्थिक विकास
(Social & Political Impact)

भारत की आर्थिक समीक्षा मे प्राकृतिक साधनो के साथ साथ धार्मिक, सामाजिक तथा राजनैतिक विचार धाराओ का भी अमूल्य पूर्ण योग दान है। प्राचीनकाल से ही भारत धार्मिक विचारो का केन्द्र रहा है, जिसने हमे कर्तव्य परायणता के साथ साथ स्वतन्त्र विचार शीलता की शिक्षा दी है। एक बहुत लम्बे समय तक भारतीय सास्कृति (Culture) की मनोवैज्ञानिक वर्ण व्यवस्था (Caste System) हमारी आर्थिक प्रगति का आधार रही। हमारे यहा पर चार वर्ण प्रमुख है—ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र। इनमे सभी वर्णों के कार्य का पूर्ण रूपेण विभाजन है। ब्राह्मण शिक्षा के क्षेत्र मे, क्षत्रिय राजकीय व्यवस्था एवं सुरक्षा, वैश्य व्यापार व व्यवसाय की अभिवृद्धि मे लगे रहे, तथा शूद्र सेवा कार्यार्थ समाज मे स्थान बनाये रहे। व्यवस्थित तथा सुनियोजित विकास मे पूर्वकाल से ही इस जातीय व्यवस्था का योगदान रहा। धीरे धीरे इस

परिपाटी मे कठोरता माने लगी और आज यह देश के लिये अभिशाप (Curse) बन कर रह गई। संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली (Joint Family System) से भी हमारी व्यावसायिक दक्षता (Efficiency) में पर्याप्त विकास हुआ। इसी प्रणाली से हम विदेशी कुप्रभावो से अपने व्यापार की रक्षा करते रहे, और अपनी संस्कृति को जीवित बनाये रहे। यहां को स्वतन्त्र शासन व्यवस्था तथा पंचायती न्याय पद्धति ने हमको आर्थिक प्रगति को बढाने का अवसर दिया। व्यक्ति अपनी स्वतन्त्र विचार धारा का निर्माण करके देश की प्रगति मे लग गया।

भारत के प्राकृतिक विभाग (Natural Divisions)

भारत की विस्तृत भौगोलिक व्याख्या हेतु, हम भारत को अनेको प्राकृतिक विभागो मे विभक्त कर सकते हैं; प्रमुख रूप से इसके चार विभाग ही महत्व पूर्ण हैं:—

१. उत्तर के हिमालय प्रदेश.
२. गंगा सिंधु के मैदान.
३. दक्षिण के पठारी भाग.
४. समुद्र तटीय मैदान.

प्राकृतिक विभाग
( ) उत्तरी हिमालय प्रदेश
(२) गंगा सिन्धु के मैदान
(३) दक्षिणी पठार
(४) समुद्र तटीय मैदान

अब हम क्रमशः प्रत्येक का विश्लेषण करते हुये यह स्पष्ट करेंगे कि भारत की आर्थिक प्रगति मे इनका क्या योग दान रहा है।

उत्तर के हिमालय प्रदेश (Himalayan Region)

भारत के उत्तर मे विशाल हिमालय अपनी हिमाच्छादित चोटियों के के साथ फैला हुआ है। पश्चिम मे पामीर की पहाड़ियो से लेकर पूर्व में बर्मा तक इसकी लम्बाई अनुमानतः २००० मील है। उत्तर से दक्षिण तक यह १५० मील से २०० मील की चौड़ाई मे स्थित है। इसको हम तीन श्रेणियों मे विभक्त कर सकते हैं—(अ) मुख्य हिमालय (ब) हिमालय की उत्तरी पश्चिमीय शाखा (स) पूर्वी दक्षिणी शाखा।

(अ) मुख्य हिमालय:—यह प्रदेश हिमालय का सबसे चौड़ा और ऊंचा प्रदेश है। यह प्रायः तीन समानान्तर पर्वत श्रेणियो से बना हुआ है, जिनको क्रमशः लघु हिमालय, उपहिमालय और महाहिमालय से संबोधित करते हैं। पहली श्रेणी ५००० से ६००० फीट ऊंची है जो उत्तरोत्तर

दक्षिण के पठारी भाग (Southern Plateau)

गंगा और सिंधु के मैदान के दक्षिण मे विंधाचल व सतपुड़ा के पठारी भाग हैं। ये पठारी भाग दो श्रेणियों मे विभक्त हैं, पूर्वी दक्षिणी पठारी भाग और पश्चिमी दक्षिणी पठारी भाग। पूर्वी पठार २००० से ४००० फीट तक ऊँचे हैं और अनेकों छोटी छोटी पर्वत श्रेणियों से आच्छादित हैं। पश्चिमी पठार १००० फीट तक ऊँचे हैं और अत्यधिक उबड़ खाबड़ हैं। इन पठारो के समुद्री भागों की तरफ तो पर्याप्त वर्षा हो जाती है, परन्तु बीच के उबड़ खाबड़ भाग वर्षा की दृष्टि से प्रायः सूखे ही रह जाते हैं।

इन प्रदेशों मे मैदानी भाग नहीं होने के कारण उपजाऊ भूमि कम है परन्तु उत्तरी पश्चिमी पठारी भागो में ज्वाला मुखी की लावा (Lava) से काली मिट्टी अत्यधिक उपजाऊ है जो कपास के लिये सवर्था उपयुक्त है। यही कारण है कि बम्बई अहमदाबाद व सूरत जैसे प्रसिद्ध नगर यहा पर बस गये हैं।

खनिज पदार्थों की दृष्टि से ये पठार अत्यन्त धनी हैं। जलविद्युत (Hydro electricity) के विकास से इनका अधिक उपयोग किया जा सकता है। इन पठारो मे ताप्ती, गोदावरी, कृष्णा, कावेरी, महानदी आदि नदियाँ भी हैं परन्तु बरसाती होने के कारण अधिक लाभदायक नहीं हैं। यातायात परिवहन (Transportation) के लिये यहां बड़ी कठिनाई होती है।

समुद्र तटीय मैदान (Coastal Plains)

विंधाचल और सतपुड़ा के पठारो के पूर्वी और पश्चिमी भागों मे विशाल समुद्र तटीय मैदान हैं। ये मैदान उपजाऊ (Fertile) मिट्टी के बने हुये हैं। यहा पर वर्षा भी पर्याप्त मात्रा में हो जाती है। पूर्वी भाग पश्चिमी भाग की अपेक्षा अधिक चौड़ा और उन्नत है। यहां कृष्णा, कावेरी और महानदी से सिंचाई होती है। यहां की मुख्य फसलें चावल, नारियल व ईख है। अभी हाल मे पाट की खेती के लिये भी ये मैदान उपयुक्त साबित हुये हैं।

पश्चिमी मैदानो के उत्तरी भाग को कोंकण तथा दक्षिणी भाग को मलाबार तट के नाम से पुकारते हैं। यह मैदान तंग है और कहीं भी ४० मील से अधिक चौड़ा नहीं है। परन्तु यहां की मिट्टी उपजाऊ है और वर्षा १००" से भी ज्यादा हो जाती है इसलिये नारियल व पाट अधिक मात्रा में उत्पन्न होता है।

आर्थिक दृष्टि से समुद्रतटीय मैदान पिछड़े हुये नही हैं। परन्तु इनका क्षेत्रफल इतना कम है कि इनकी उपयोगिता नगण्य सी लगती है। समुद्रतट

नजदीक होने से जहाज के कारखाने तथा मछली व्यवसाय यहां प्रमुख रूप से महत्व पूर्ण हैं। यहां के निवासी सभ्यता की दृष्टि से अधिक उन्नत नहीं हैं। परन्तु हमारा समुद्री व्यापार सब इन्हीं बन्दरगाहों में होकर होता है।

भारत की जलवायु (India's Climate)

किसी देश की आर्थिक प्रगति की शृंखला में वहां की जलवायु का अधिक योग दान होता है। किसी स्थान के निवासियों की आवश्यकतायें कार्य क्षमता, वहां की पैदावार तथा उद्योग धन्धे वहां की जलवायु से ही शासित होते हैं। भारतवर्ष के विस्तार व विलक्षण स्थिति के कारण यहां प्रायः सभी प्रकार की जलवायु पाई जाती है। विषुवत रेखा (Equator) के उत्तर में ३७° अक्षांश तक फैला होने के कारण भारत उष्ण तथा शीतोष्ण कटिबन्धों में आ जाता है। कर्क रेखा भारत को दो समान जलवायु वाले भागों में विभक्त करती है। जहां उत्तर के विशाल पहाड़ी प्रदेशों ने भारत को महाद्वीपीय जलवायु का दान दिया है, तो दक्षिण समुद्र से समुद्र तटीय जलवायु भारत को उपलब्ध है।

जलवायु से अर्थ किसी स्थान पर पाये जाने वाले तापमान अर्थात वायु की ऊष्मा तथा वहां पर होने वाली वर्षा अर्थात् जल से है। अब हम दोनों ही विचारों से भारत का विश्लेषण करेंगे।

तापमान (Temperature) की दृष्टि से हम भारत को दो विभागों में विभक्त करते हैं। उत्तर के शीतोष्ण कटि बन्धीय भाग, तथा दक्षिण के उष्ण कटिबन्धीय भाग।

उत्तर में हिमालय की विशाल गगन चुम्बी श्रेणियों के ऊपर प्रायः बर्फ जमी रहती है, अतः ये प्रदेश अत्यन्त ठंडे तथा नमी वाले हैं। तराई के भागों में मिट्टी में इतनी नमी रहती है कि मनुष्य के रहने लायक तापमान भी नहीं रह पाता। वहां पर शीत काल में अत्यन्त सर्दी तथा ग्रीष्म ऋतु में साधारण गर्मी पड़ती है। इसके नीचे वाले मैदानी भाग में, जो एक लम्बी पट्टी की तरह फैला हुआ है, पश्चिम से पूर्व की ओर वर्षा की विभिन्नता के साथ साथ तापमान भी बदलता रहता है। उत्तरी पश्चिमी भाग में, जहां वर्षा की मात्रा कम होती है और अधिक तर रेतीले मैदान हैं; वहां शीतकाल में तापमान ३७° फ० तथा ग्रीष्म ऋतु में ११७° फ० तक पहुंच जाता है। अर्थात् शीत में अत्यन्त ठण्डा तथा गर्मी में अत्यन्त गर्म इस मैदान की विशेषता है। परन्तु ज्यों ज्यों पूर्व की ओर बढ़ते जाते हैं वर्षा की मात्रा बढ़ती जाती है। तापक्रम

का अन्तर भी कम होता जाता है। यहाँ तक कि आसाम में तापमान ८६° फ० से ४७° फ० के बीच में रहता है। अतः वास्तविक रूप से इन्हीं प्रदेशों को शीतोष्ण प्रदेश कहना चाहिये।

दक्षिण की प्रायः द्वीपीय जलवायु का नियंत्रण वहाँ की विषुवत व कर्क रेखायें करती हैं। विषुवत रेखा (Equator) नजदीक होने के कारण ये प्रदेश उष्ण कटि बन्धो में आते हैं। यहाँ पर गर्मी अधिक पड़ती है परन्तु जाड़े की ऋतु साधारण रहती है। वर्षा की मात्रा समुद्र तटीय मैदानों में अधिक होती है, परन्तु पूर्वी और पश्चिमी ढाल की दीवारों को लाघने बाद वायु में नमी का अंश समाप्त हो जाता है इसलिये बीच के भागों में वर्षा नगण्य रहती है। तापमान का अन्तर यहां पर ज्यादा नहीं रहता है। समुद्रतटों के मैदानी भागों में तो तापमान का अन्तर बहुत ही कम हो जाता है। यही कारण है कि बम्बई में कभी गर्मी या सर्दी नहीं पड़ती परन्तु मौसम गीला (Moist) रहता है। पठारी भागों में वैसे ही पानी सोखने की सामर्थ्य नहीं होती है, अतः नमी के स्थान पर उष्मा का ही प्रकोप रहता है।

भारत की वर्षा (Rain Fall)

समस्त भारतवर्ष में वर्षाकाल जून से अक्टूबर तक रहता है। इस समय सूर्य कर्क रेखा पर चमकता है, परिणाम स्वरूप समुद्री भागों पर वायु का दबाव स्थलीय भागों की अपेक्षा अधिक रहता है, और वहां की वायु भारत की भूमि की ओर दौड़ती है। हजारों मील की समुद्री यात्रा के कारण इन मानसूनी व्यापारी हवाओं में नमी और पानी की मात्रा अधिक होती है। ये मानसूनी हवायें अपना रुख दक्षिण पश्चिम की ओर रखती हैं। भारत में इन हवाओं को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं।

(अ) बंगाल की खाड़ी वाली शाखा, और (ब) अरब सागर वाली शाखा।

बङ्गाल की खाड़ी (Bay of Bengal) वाली शाखा

प्रशान्त महासागर के बायें भाग, बंगाल की खाड़ी पर रेंगती हुई ये व्यापारिक हवायें भारत के पूर्वी दक्षिणी तटों से भारत में प्रवेश करती हैं, और सीधी हिमालय के पूर्वी ढालों से टकरा कर आसाम में अत्यधिक वर्षा करती हैं। चेरापूञ्जी में इन्हीं हवाओं से लगभग ५००" तक वर्षा होती है। हिमालय के पूर्वी सिरे इनका रुख पूर्व की अपेक्षा पश्चिम की ओर मोड़ देते हैं, और बंगाल, बिहार, मध्य प्रदेश, तथा उत्तर प्रदेश के उत्तरी पूर्वी ढालों पर पर्याप्त वर्षा करती हुई, पंजाब तक ये हवायें पहुंच कर अरब सागर वाली शाखा में मिल जाती हैं, तथा राजस्थान व पंजाब के उत्तरी पूर्वी भागों में कुछ वर्षा करती हैं।

अरब सागरी शाखा

अरब सागर से उठने वाली हवायें पश्चिमी ढाल से आकर टकराती हैं, और पार करने के लिये ऊँची उठती हैं, परिणाम स्वरूप उनमें ठण्डापन अधिक आ जाता है, और पश्चिमी ढालो पर तथा समुद्र तटीय मैदानों मे भीषण वर्षा होती है। परन्तु ये ढाल इतने ऊँचे और सीधे हैं कि, न तो इनसे हवाओं का रुख ही मुड़ पाता है और न हवायें इनको पार करके नमी ही रख पाती हैं, इसलिये पूर्वी ढाल के पश्चिमी ढालो पर और पश्चिमी ढाल के पूर्वी ढालो पर वर्षा बिलकुल नही होती। मद्रास, मैसूर, हैदराबाद, दक्षिणी मध्यप्रदेश, उड़ीसा, आदि मे वर्षा का नितांत अभाव रहता है।

इसी मानसून की एक उप शाखा गोदावरी, नर्मदा और ताप्ती नदियों के ऊपर से गुजरती हुई थोड़ी वर्षा करती है। तथा दूसरी शाखा कच्छ की खाड़ी से उत्तरी भारत में प्रविष्ट होती है, परन्तु बीच मे कोई ऊँचा रोकने वाला पहाड़ या घनिष्ट वन नही होने से राजस्थान के ऊपर से ही ये हवायें निकल जाती हैं और हिमालय से जा टकराती हैं तथा वहाँ थोड़ी वर्षा करती हैं क्योंकि इतनी दूरी पार करने के बाद इनमें नमी की मात्रा करीब करीब समाप्त हो जाती है। उपरोक्त दोनो शाखायें ग्रीष्म कालीन वर्षा करती हैं।

शीत कालीन वर्षा

दिसम्बर माह मे सूर्य मकर रेखा पर चमकने लगता है, इसलिये समुद्री भागो मे हवा का दबाव कम तथा स्थल भागों पर अधिक हो जाता है अतः स्थल मे जल की ओर हवायें चलती हैं। भारत में पूर्व की ओर से चलने वाली हवायें जब बंगाल की खाड़ी को पार करती हैं, तो नमी की मात्रा बढ़ जाती है, अतः पूर्वी ढालों से टकरा कर गहरी वर्षा करती हैं। यही कारण है कि मद्रास ग्रीष्म काल में सूखा ही रहता है। दिसंबर में यहाँ घनघोर वर्षा होती है। ये हवायें पूर्वी ढालो को पार करके पश्चिमी ढाल के पूर्वी सिरों पर भी थोड़ी वर्षा करती हैं।

उत्तर में हिमालय की बर्फीली भूमि से टकरा कर ये हवायें कुछ नमी ग्रहण कर लेती हैं और पंजाब तथा उत्तर प्रदेश में कुछ वर्षा करती है। इसी ऋतु में हिमालय के उत्तरी पश्चिमी भागों से चलने वाले चक्रवातो से भी राजस्थान के उत्तरी भागों में कुछ वर्षा होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतवर्ष में वर्षा की दृष्टि से तीन भाग हो गये हैं—(अ) अत्याधिक वर्षा वाले भाग जहाँ १००" से ३००" वर्षा होती है।

जैसे आसाम के उत्तरी पूर्वी प्रान्त तथा पश्चिमी समुद्र तटीय मैदान। (ब) साधारण वर्षा वाले भाग, जिनमे ५०" से १००" तक वर्षा होती है। (स) कम वर्षा वाले भाग जहाँ १५" से भी कम वर्षा होती है, जिनमे राजस्थान के मरुस्थली प्रदेश मुख्य हैं।

भारतीय वर्षा का विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि यहाँ पर वर्षा अनियमित तथा सीमित समय पर होती है। साथ ही साथ वर्षा की मात्रा भी सब जगह समान नही है, इसीलिये भारतीय कृषि को मानसून का जूआ कहते हैं (Indian agriculture is a gamble in rains.)। परन्तु भारत अब केवल मात्र वर्षा पर ही आश्रित नही है। सिंचाई के साधनों का तीव्र गति से विकास हो रहा है तथा भविष्य मे भारत की प्रगति के उज्वल अनुमान दीख पड़ते हैं।

भारत के आर्थिक विकास मे यहाँ की जलवायु का प्रधान महत्व है। भारत की कृषि प्रधानता का श्रेय इसकी जलवायु को ही दिया जाना चाहिये। भारत मे क्योंकि दोनो प्रकार की जलवायु उपलब्ध है अतः सभी प्रकार की उत्पादित वस्तुयें यहाँ सुलभ हैं, जिन पर सभी उद्योगो का समुचित विकास निर्भर है। एक ओर जहाँ भारत को प्रकृति के सभी उपहार प्राप्त हैं, वहाँ दूसरी ओर इसकी गर्म जलवायु ने देश वासियों को कम कार्यशील, आलसी और आराम तलब बना दिया है। हमारे देशवासी पूर्वीय ठंडे देशो के नागरिकों की तरह कठोर परिश्रम नही कर सकते। जल्दी ही हमारी कार्य क्षमता (Efficiency) का ह्रास हो जाता है। हम को अपनी सीमित आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु अधिक परिश्रम नही करना पड़ता। परन्तु भारत की धार्मिक कर्तव्य निष्ठा ने देश वासियो को निरंतर कर्तव्य का पाठ सिखाया, और देश की प्रगति मे चार चाँद लगा दिये।

भारतीय मिट्टी (Soils)

"कृषि-प्रधान भारत में मिट्टी ही किसान का अमूल्य धन है।"

कृषि प्रधान देश के लिये जलवायु के साथ साथ भूमि पर पाई जाने वाली मिट्टी का भी बहुत महत्व है। एक अच्छी से अच्छी जलवायु वाले देश मे उपयोगी मिट्टी के अभाव से उत्पादन क्षमता नष्ट हो जाती है। अतः जलवायु के साथ साथ यह भारत की मिट्टी का ही प्रभाव है। यही कारण है कि हजारों वर्षों से भारत खेती की प्रगति मे आगे रहा और अब भी आगे बढ़ने के प्रयत्न कर रहा है। साधारणतया भारत में ५ प्रकार की मिट्टी पाई जाती है, जिनका हम क्रमशः विश्लेषण करेंगे और प्रत्येक का उपयोग समझाने का प्रयत्न करेंगे।

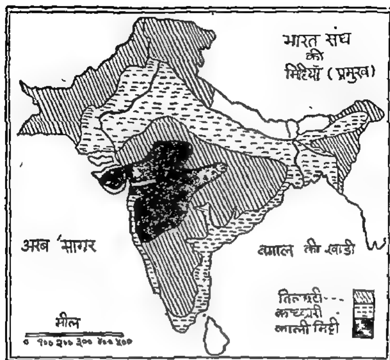
दुमट मिट्टी (Alluvial Soil)

मिट्टी के प्रकार
(१) दुमट मिट्टी
(२) लाल मिट्टी
(३) काली मिट्टी
(४) लेटराइट
(५) अन्य प्रकार

नदियों के पानी के साथ बहकर आने वाली मिट्टी को दुमट या कछारी मिट्टी कहते हैं। यह मिट्टी मुलायम गहरी व उपजाऊ होती है तथा खेती की दृष्टि से महत्वपूर्ण होती है। भारत में यह गंगा सिंधु के मैदान तथा समुद्रतटीय प्रायद्वीपों में पाई जाती है। भारत में इसका क्षेत्रफल ३ लाख वर्ग मील तक है। यह उत्तरी राजस्थान, पंजाब, दिल्ली, उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिमी बंगाल, आसाम की सुरमा घाटी, मद्रास, केरल तथा आंध्रराज्य के कृष्णा, कावेरी व गोदावरी के डेल्टाओं में फैली हुई है।

इस मिट्टी की बनावट सब जगह एक सी नहीं होती। जहाँ नदियां पहाड़ी भागों से उतरती हैं वहां पर यह मिट्टी कंकर पत्थरों से भरी होती है, परन्तु ज्यों ज्यों नदियां मैदानी भागों में बहती जाती है। यह मिट्टी बारीक तथा चिकनाहट युक्त होती जाती है और खेती के लिये लाभप्रद होती जाती है। डेल्टाओं पर तो चिकनाहट अत्यन्त गहरी रहती है तथा नमी को रोकने की ज्यादा सामर्थ्य हो जाती है, अतः पाट और जूट व गन्ने की खेती के लिये सर्वथा उपयुक्त हो जाती है।

उत्तरी भारत की नदियों की मिट्टी में नाइट्रोजन (Nitrogen) तथा ह्यूमस की कमी रहती है परन्तु पोटास, मैगनीसियम, फासफोरस तथा चूने की मात्रा यथेष्ट रहती है। इसीलिये वहां गोबर आदि नाइट्रोजन प्रधान खाद अधिक उपयोगी होते हैं। उपयुक्त सिंचाई की व्यवस्था होने पर इस मिट्टी पर रबी, तथा खरीफ दोनों ही फसलें तैयार की जा सकती हैं। यह मिट्टी गेहूं, गन्ना, तथा चावल के लिये सर्वथा उपयुक्त है।



लाल मिट्टी (Reg or Regur soil)

भारत के पठारी भागो मे जहाँ लोहे की खाने हैं, वहाँ लोहे के अंग से मिल कर मिट्टी का रंग लाल हो गया है। यह दक्षिण के प्रायद्वीपीय भाग मे तटीय मैदान तथा पथरीली भूमि को छोड़कर सर्वत्र फैली हुई है। इसका क्षेत्रफल ८ लाख वर्गमील से भी अधिक है। यह समस्त मद्रास, मैसूर, आंध्र, दक्षिणी पूर्वी महाराष्ट्र, उड़ीसा तथा छोटा नागपुर की पठारियो तक फैली हुई है। बंगाल का संथाल परगना, वीर भूमि जिला, उत्तरी प्रदेश [illegible] मिरजापुर, झांसी, हम्मीरपुर, बुंदेलखण्ड तथा मध्य भारत के भूतपूर्व राज्य व पूर्वी राजस्थान इसी से निर्मित हैं। इसकी गहराई व उर्वरा शक्ति भी सभी जगह भिन्न है। सूखे पठारी भाग पर यह कंकरीली तथा कम उपजाऊ होती है परन्तु मैदानी भागो मे जहाँ जल की प्रचुरता है इसमे चिकनाहट तथा उपजाऊपन ज्यादा होता है। इस मिट्टी में नाइट्रोजन, फासफोरस तथा ह्यूमस की कमी है परन्तु पोटास तथा चूना पर्याप्त मात्रा मे मिल जाते हैं।

काली मिट्टी (Black lava cotton soil)

दक्षिण के पठारों में प्राचीन काल मे कहते हैं कि भीषण ज्वालामुखी विस्फोट हुआ करते थे। उन्ही के अग्नि मुखों से निकला हुआ भूराख तथा लावा आज हमें इस काली मिट्टी मे मिलता है। इसी को काली कपास की मिट्टी भी बोलते हैं। इसी मिट्टी का प्रभाव है कि मध्य प्रदेश व बम्बई राज्य कपास का घर माने जाते हैं। यह वर्तमान महाराष्ट्र, गुजरात, दक्षिणी पश्चिमी मध्य प्रदेश तथा मद्रास के रामानद तथा टिनिवेली जिले तक फैली हुई है।

इस मिट्टी की प्रमुखता यह है कि यह बरसात के पानी को अधिक समय के लिये सोखे रखती है, और सूखने नहीं देती। परन्तु यह अधिक पानी को सोख नही पाती है, इसलिये अधिक लचीली और कीचड़ युक्त हो जाती है। अधिक गर्मी से इसके ऊपरी भागों में दरारें पड़ जाती हैं। इस मिट्टी में हल तभी चल सकता है जबकि एक वर्षा से यह गीली हो जाती है। परन्तु एक वर्षा के बाद इसमे एक फसल आसानी से हो जाती है।

इस मिट्टी में गंधक, पोटास तथा चूने की मात्रा पर्याप्त होती है परन्तु नाइट्रोजन, फासफोरिक ऐसिड की कमी पाई जाती है।

लेटराइट मिट्टी (Laterite Soil)

लेटराइट मिट्टी का नाम लेटिन शब्द लेटर से बना है जिसका अर्थ होता है ईंट की तरह लाल रंग। भौगोलिकों के अनुसार लेटराइट चट्टानों के अवशेषों से, जिनका रंग कुछ कालापन लिये हुये लाल होता है, बनी हुई यह मिट्टी है। इस मिट्टी की रचना बड़ी विलक्षण होती है। भारत के दक्षिणी प्रायद्वीपीय पठारी भाग में जहां नाना प्रकार के खनिजों की खानें हैं तथा जिनके अवशेष खानों के बाहर इधर उधर बिखरे रहते हैं, उन अवशेषों पर शीतकाल की विलष्ट सर्दी तथा ग्रीष्म की रूखी वायु व वर्षा की भीषण धाराओं की प्रतिक्रिया होती है। तथा चट्टानों पर इस मिट्टी का निर्माण होता है। यह मिट्टी मध्यप्रदेश के चट्टानी भागों, प्रायद्वीप के पश्चिमी व पूर्वी ढालों पर तथा आसाम की पहाड़ियों पर फैली हुई है। आसाम व बंगाल के चाय बगानों में इस मिट्टी का बड़ा महत्व होता है कारण कि इस मिट्टी मे अम्लीयता अधिक होती है जो चाय के लिये अधिक उपयोगी सिद्ध होती है। इसमें पोटाश, फासफोरिक ऐसिड तथा चूने की कमी है। तथा यही इसके भेद (?)प्रधान लक्षण है। परन्तु ह्यूमस पर्याप्त मात्रा में मिल जाता है।

अन्य मिट्टियां

(अ) हिमालय की पर्वतीय मिट्टी:—हिमालय के पठारी भागों के बीच अनेको तंग परन्तु गहरी घाटियां हैं, जिनमे भीषण वर्षा के साथ साथ गहरी नमी रहती है, उनमें मिट्टी की अर्ध परिपक्व अवस्था के कंकर इक्ट्ठे हो जाते हैं, जिनमे उपजाऊ पन तो कम होता है, परन्तु घास के मैदान तथा जंगली भाड़ियो के भुण्ड खूब होते हैं। जहां पर चूने की चट्टाने होती हैं, वहां चूना मिट्टी होती है तथा वहा गहरे टीक तथा साल व चीड़ के जंगल बहुतायत से होते हैं। तराई वाले भागो मे मिट्टी की चिकनाहट अधिक होती है, तथा कालापन लिये हुये होती है इसलिये पाट तथा चावल के लिये सर्वथा उपयुक्त होती है।

(ब) मरुस्थलीय मिट्टी (Desert Soil)—पंजाब के दक्षिणी भागो तथा राजस्थान के उत्तरी पश्चिमो भागो मे क्षार की मरुस्थली मिट्टी पाई जाती है। इसमे रेत के कण बड़े मोटे मोटे तथा पानी को जल्दी सोखने वाले होते हैं, यह मिट्टी साधारण तथा वर्षा की कमी से बाजरे के लिये उपयुक्त होती है।

भारत मे पाई जाने वाली सभी मिट्टियो का निरीक्षण करने से ज्ञात होता है कि चट्टानी लेटेराइट को छोड़ कर सभी मिट्टियो में नाइट्रोजन तथा ह्यूमस की मात्रा का अभाव ही है। अतः यदि इन तत्वों की अभिवृद्धि करने वाले खाद का उपयोग किया जाय तो भारत की उत्पादन शक्ति बढ सकती है। हमारे यहा फसलो को पलट कर बोने (Cr‹ p rotation) का रिवाज पूर्वकाल से चला आ रहा है, जिसके कारण नाइट्रोजन की कमी की पूर्ति होती रहती है। परन्तु फिर भी खाद का उपयोग आवश्यक है। दुर्भाग्य से गोबर की खाद जो भारतीय भूमि के लिये सोना है, यो ही जला कर नष्ट कर दी जाती है अतः इस ओर आवश्यक कदम उठाना नितान्त जरूरी है। भारत सरकार ने खाद के पाच बड़े कारखाने १७० हजार टन की सामर्थ्य के स्थापित किये हैं, जिनमें कृत्रिम खाद का निर्माण कार्य प्रारंभ हो गया है। अब तो आवश्यकता इन खादो को लोक प्रिय बनाने की है। साथ ही साथ सरकार को मल व कूड़े-करकट की कम्पोस्ट खाद के निर्माण के भी अधिकाधिक प्रयत्न करने चाहिये। आशा है कि निर्दिष्ट दिशा मे यदि कदम उठाये गये, तो हम अपनी कृषीगत उपज को अधिकाधिक बढ़ाने में समर्थ हो सकेंगे और इन योजनाओं के सुनहरे स्वप्नों का वास्तविक आनन्द उपलब्ध कर सकेंगे।

भारत की खनिज सम्पत्ति (Mineral Wealth of India)

अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक प्रगतिशील प्रतियोगिता के युग में राष्ट्र में पाये जाने वाले खनिजो का विशेष महत्व होता है। एक देश अपनी खनिज सम्पत्ति के बलपर धनवान या निर्धन समझा जाता है। यदि लोहा भौतिक प्रगति का आधार है तो कोयला उसको क्रियमाण रखने वाली शक्ति होती है। भारत इस दृष्टिकोण से महत्व पूर्ण देश है, हमारे यहाँ कम या ज्यादा मात्रा में संपूर्ण खनिज मिलते हैं। कोयले की मात्रा में हम आत्म निर्भर हैं। लोहा भारत मे संसार का सर्व श्रेष्ठ होता है तथा अभ्रक व मैंगनीज मे हमारा एकाधिकार है। परन्तु तांबा चाँदी सोना हमारे यहां कम होता है जो विदेशो से आयात करना पड़ता है।

भारत में पूर्व काल से ही खनिजो की खुदाई प्रारंभ हो गई थी परन्तु आधुनिक ढंग से यह कार्य १९वी शताब्दी के अन्त से शुरू हुआ था। भारत की परतन्त्रता ने इसकी प्रगति को रोक रखा था। यदि खनिज खोदे भी गये तो निर्यात करने के लिये ही। खुदाई बड़े अवैज्ञानिक तरीकों से होती थी अतः बहुत सारा धन व्यर्थ नष्ट हो जाता था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद इस ओर पर्याप्त ध्यान दिया गया तथा अनग से खनिज संपत्ति के रक्षणार्थ, संवर्धनार्थ नियमन किया गया। खनिजों के विकासार्थ "जियालोजिकल सर्वे आफ इण्डिया, (Geological Survey of India) का गठन किया गया जो पिछले १० वर्षों से हमारी सेवा कर रही है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजनाकाल मे अपनी दूसरी नवीन खनिज नीति सामने आई है जिसके अन्तर्गत खनिजो का विकास करने का दायित्व सरकार ने अपने हाथ मे ले लिया है।

भारत मे खनिज धन को तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। प्रथम वे खनिज जिनके लिये हम अधिक धनी है जैसे लोहा, अभ्रक, मैंगनीज आदि। दूसरे वे खनिज जिनमे हम आत्म निर्भर हैं जैसे, कोयला, बाक्साइट, नमक, बेरियम, जिप्सम, कीमाइट, लाइम स्टोन आदि। तीसरे वे खनिज जो बहुत कम मात्रा मे उपलब्ध हैं जैसे तांबा, रांगा, सीसा, जस्ता, सोना, चाँदी, निकल, पारा, गन्धक, कोबाल्ट व पैट्रोल आदि। इस प्रकार भारत खनिज पदार्थों की दृष्टि से न अधिक धनी है और न गरीब। आर्थिक विकास के लिये आवश्यक सभी खनिज यहाँ पर उपलब्ध हैं, भारतीय लोहा दुनियां मे सर्व श्रेष्ठ है और मैंगनीज मे भारत का तीसरा स्थान है। आणविक महत्व का खनिज क्रोमियम टिटानियम आदि महत्व पूर्ण खनिज भी देश मे प्राप्त हो जाते हैं, अभ्रक मे तो भारत का आधिपत्य ही है। केवल मात्र सोना, चादी, रांगा, तांबा आदि वस्तुयें हमे

मायात करनी पड़ती हैं। परन्तु कोई भी देश सभी वस्तुओं मे स्वावलम्बी नहीं बन सकता। अब हम देखेंगे कि ये सब खनिज भारत मे कौन से स्थान पर प्राप्त होते हैं तथा इनकी क्या स्थिति है।

कोयला (Coal)

कोयला औद्योगिक विकास का प्रमुख खनिज है। मशीनो को चलाने की शक्ति इसी काले पदार्थ से प्राप्त होती है। भारत मे कोयला उद्योग आर्थिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। करीब ३.५ लाख मजदूरो को काम देने वाली कोयले की खानें संसार मे ८ वा स्थान प्राप्त किये हुये है। भारत मे कोयला पर्याप्त मात्रा मे है परन्तु उत्तम किस्म का ऐन्थ्रसाइट कोयला कम मात्रा मे ही है।

भारत का ६८% प्रतिशत कोयला गोंडवाना चट्टानों से प्राप्त होता है जिसका अधिकांश भाग पश्चिमी बंगाल, बिहार व उडीसा प्रान्तो मे है। कोयले की प्रमुख खाने पश्चिमी बगाल मे दार्जलिंग व रानीगंज में, बिहार मे रानीगंज, झरिया, बोकारो व गिरिडिह मे, मध्य प्रदेश मे छिंदवाडा, चांदा व कोरबा प्रदेशों मे है। हैदराबाद मे सिंगरेनी व राजस्थान मे बीकानेर मे भी थोड़ा सा कोयला मिलता है।

भारत मे घटिया किस्म का कोयला लिग्नाइट मद्रास राजस्थान आसाम व कच्छ मे पाया जाता है।

इस प्रकार भारत का महान कोयला भंडार दक्षिणी पूर्वी प्रान्तो तक ही सीमित है। उत्तर और पश्चिम के भागों मे कोयले की बहुत कमी है तथा यहां पर कोयला मंगाने से बहुत मंहगा पड़ता है। यही कारण है कि बम्बई मे कोयला जहाज द्वारा दक्षिणी अफ्रीका से मगाया जाता है।

पैट्रोल (Petrol)

आज के भौतिक वादी युग में पैट्रोल औद्योगिक व सामरिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण पदार्थ है। तेल से हवाई जहाज, मोटर, रेल तथा पानी के जहाज तथा मशीने चलाई जाती हैं। भारत मे खनिज तेल की बहुत कमी है जो केवल मात्र आसाम क्षेत्र मे ही प्राप्त होता है। परन्तु सरकार इस ओर प्रयत्नशील है। गुजरात व पंजाब में इसकी खोज के अनेकों अन्वेषण किये जा चुके हैं तथा कई जगहों पर पर्याप्त सफलता भी मिली है।

आसाम के लखीमपुर जिले मे डिग्बोई तेल के लिये सदा से प्रसिद्ध रहा है। इसके अलावा नाहर कटिया क्षेत्र में भी उत्पादन बढ़ाने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। यहा से प्राप्त क्रूड आइल (Crude oil) से आसाम मे गोहाटी तथा बिहार मे बेरूनी

के तेल कारखानों को साफ करने के लिये मिलने लगेगा। ग्रभी हाल ही मे ग्रासाम की ब्रह्मपुत्र घाटियों मे भी ग्रनेकों सर्वेक्षण किये गये हैं जो काफी सफल हुए हैं। गुजरात मे खम्भात ग्रौर ग्रंकलेश्वर मे भी पर्याप्त सफलता मिली है।

ग्रब तक भारतवर्ष को ७० करोड़ रुपये के तेल या तेल की वस्तुग्रों का ग्रायात करना पड़ता है। यदि योजना काल मे तेल प्राप्त करने मे सफलता मिली तो यह रुपया ग्रन्य कार्यों के लिये उपलब्ध हो सकेगा।

लोहा (Iron)

भारतीय लोहे मे ६२% से ७०% शुद्ध लोहा प्राप्त होता है जो उत्तम प्रकार का माना जाता है। भारत लोहे मे ग्रमेरिका के बाद सबसे बड़ा उत्पादक है। कच्चा लोहा बिहार मे सिंह भूमी मे उड़ीसा के मयूरभंग जिले में तथा क्योंझर के जिलों में सर्वाधिक प्राप्त होता है। मध्य प्रदेश के चांदा दुग व बस्तर जिले में मैसूर के चिक्र माग लूर ग्रौर बिलारी जिलो में मद्रास के सलेम तथा तिरुचिरपल्ली जिलो में ग्रांध्र के ग्रनन्त पुर करनूल जिलो में पंजाब में नारनोल व उत्तर प्रदेश के ग्रल्मोड़ा जिलो में लोहा निकाला जाता है।

हमारे भूगोल विदो का ग्रनुमान है कि भारत मे कुल २१०० करोड़ टन लोहा पृथ्वी के गर्भ मे है जो संसार का चौथा हिस्सा है। इसका उत्पादन सन् १६५० मे २'६७ मिलियन टन से बढ़ कर सन् १६६१ में ११'५ मिलियन टन हो गया है। तीसरी योजना के ग्रन्त तक ३२ मिलियन टन के उत्पाद का लक्ष्य रखा गया है जिसका ग्रधिकतर भाग भारत के कारखानो मे काम ग्रायेगा।

कच्चे लोहे का उत्पादन बढ़ाने के लिये किरी बुरू ग्रौर बेलाडिला (मध्यप्रदेश) के लोहक्षेत्रों का विकास किया जारहा है जिनसे जापान को इस लोहे का निर्यात हो सकेगा। इनका लोहा दुर्गापुर के लोहे के कारखाने मे भी काम ग्रावेगा।

भारत सरकार ने लोहे का उपयोग करने के लिये रूस जर्मनी ग्रौर ब्रिटेन की सहायता से तीन बड़े कारखाने खोल दिये हैं तथा तीसरी योजना में चौथा कारखाना ग्रौर स्थापित करने की योजना है।

मैंगनीज (Manganese)

यह लोहे जैसा ही काला पदार्थ है तथा फैरो मैंगनीज के रूप मे लोहे को

कड़ा करके स्टील बनाने के काम में आता है। यह बैटरियाँ बनाने, काँच का रंग उड़ाने तथा उर्वरक बनाने में भी काम आती है। भारत में मैगनीज का उत्पादन बहुतायत से होता है।

भारत में मैगनीज मध्यप्रदेश में बेलधार भण्डारा तथा छिंदवाड़ा क्षेत्र बिहार में सिंघ भूमि उड़ीसा में बालगीर, गंगापुर बमरा बोनाई क्योंझर काला-हांडी तथा रायगढ़ा क्षेत्र, बम्बई में पंच महल उत्तरी कनारा व बेलगाँव क्षेत्र, मैसूर में सडूर शिमोगा, चित्तल दुर्ग तथा आन्ध्र में श्री काकुलम क्षेत्रों में मैगनीज बहुतायत में पाया जाता है।

रूस के बाद भारत सर्वाधिक मैगनीज उत्पन्न करता है। सन् १९६० में भारत का उत्पादन विश्व के उत्पादन का १२% था। भारत में अनुमानतः २ से २.५ करोड़ टन उत्तम प्रकार का तथा .२ करोड़ टन साधारण किस्म का मैगनीज मिलता है। भारत का मैगनीज अधिकांशतया निर्यात कर दिया जाता है।

जिप्सम (Gypsum)

सीमेन्ट बनाने में चूने के पत्थर के साथ साथ जिप्सम की भी आवश्यकता होती है। इससे खाद भी बनाई जाती है। जिप्सम से प्लास्टर आफ पेरिस तथा गंधक भी बनता है। भारत में जिप्सम राजस्थान पंजाब मध्यप्रदेश उत्तर प्रदेश, काश्मीर तथा बम्बई राज्यों में पर्याप्त मात्रा में निकाला जाता है। सन् १९६० में जिप्सम का वार्षिक उत्पादन ६ लाख टन से कुछ अधिक था। जिन प्रान्तों में जिप्सम पाया जाता है वहाँ पर सीमेन्ट के कारखाने खोले गये हैं। भारत में इस उद्योग का भविष्य सर्वाधिक उज्वल है।

अभ्रक (Mica)

यह चमकदार पार दर्शक पदार्थ होता है जो बहुत पतली परतों में विभा-जित किया जा सकता है। यह बिजली के काम में अधिक मात्रा में उपयोगी होता है। यह बिजली के पंखे हीटर कुकर तथा इस्तरियों में उपयोगी होता है। यह रोगन तथा प्लास्टिक बनाने में भी उपयोगी होता है।

भारत अभ्रक उत्पादकों में संसार का सर्व श्रेष्ठ देश है। संसार का ८०% अभ्रक भारत में ही होता है। परन्तु इतना महत्वपूर्ण खनिज देश में कम काम आता है तथा अधिकतर निर्यात कर दिया जाता है। अभ्रक बिहार राज्य में सर्वाधिक होता है। इसके अलावा राजस्थान, आन्ध्रप्रदेश, मैसूर व मध्य प्रदेश में भी अनेकों स्थानों पर यह पदार्थ उपलब्ध है। हमारे देश में कुल मिलाकर करीब ४००० वर्ग मील में अभ्रक की खानें हैं।

यह महत्वपूर्ण खनिज ज्यों ज्यों देश के उद्योग धन्धे बढ़ेंगे देश में उपयोग किया जा सकेगा। सरकार के प्रयत्न हैं कि अधिकाधिक उपयोग देश में हो तथा कम से कम अभ्रक निर्यात किया जाय।

उपरोक्त महत्वपूर्ण खनिजों के अलावा निम्नांकित खनिज भी थोड़ी बहुत मात्रा में पाये जाते हैं।

सोना (Gold)

भारत में सोना मैसूर की कोलार खानों से प्राप्त होता है। परन्तु अब यह खानें बहुत गहरी हो गई हैं अतः इनसे सोना निकालना अत्याधिक है। भारत में समस्त संसार का केवल ३% सोना निकलता है। सरकार ने १९५६ से कोलार की खानों का राष्ट्रीयकरण कर लिया है।

चांदी (Silver)

भारत में चांदी कोलार तथा अनन्तपुर की सोने की खानों के साथ साथ ही खुदाई में मिलती है जिनमें से चांदी को मशीनों से अलग किया जाता है। हमारे यहां चांदी का उत्पादन कम तथा उपयोग अधिक होता है अतः हरसाल बड़ी मात्रा में विदेशों से आयात करनी पड़ती है।

तांबा (Copper)

भारत में प्रतिवर्ष ८ हजार टन तांबा निकलता है जबकि इसकी मांग ७० हजार टन से भी ज्यादा रहती है। तांबा विशेषकर बिहार व राजस्थान में पाया जाता है। राजस्थान में झुंझुनू खेतड़ी तथा दोसा व अलवर में भी थोड़ी बहुत मात्रा में पाया जाता है। खेतड़ी तो तांबे का भण्डार कहलाता है। वहीं पर एक बड़ा प्लांट बनाने की भी योजना है।

उपरोक्त खनिजों के अलावा भारत में सीसा, जस्ता, रांगा, क्रोमियम, टिटानियम, टंग्स्टन, (Tungsten) अल्यूमिनियम, मेगनेसियम, बेरीलियम, यूरेनियम (Uranium) व थोरियम भी यत्र तत्र अन्य खनिजों के साथ साथ मिलते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत खनिजों की दृष्टि से पूर्ण स्वावलम्बी है। केवल मात्र योग्य संगठन व संरक्षण से हम संसार के आधुनिक देशों में अग्रगण्य हो सकते हैं। भारत की योजनायें देश का काया पलट कर देंगी इसमें किंचित मात्र भी संदेह नहीं है।

भारतीय वन सम्पत्ति (Forest Wealth)

प्रकृति दत्त वस्तुओं मे जंगलो का एक महत्वपूर्ण स्थान होता है, क्योंकि देश की जलवायु तथा वर्षा की मात्रा को ये जंगल ही प्रभावित करते हैं। चूंकि देश के आर्थिक विकास के लिये जंगलो का होना और भी आवश्यक है, अत वनो की समुचित रक्षा विकास, तथा सदुपयोग का प्रबन्ध करना हमारा एक परम कर्त्तव्य बन जाता है। विश्व के सभी ट्रॉपिकल (Tropical) प्रदेश जगलो से ढके हुये हैं, किन्तु दुःख का विषय है कि भारत का केवल १६ २% क्षेत्र जगलो से आच्छादित है। इस परिस्थितियों में यह आवश्यक है कि उचित जलवायु तथा वर्षा के लिये कम से कम ३३·००% भाग जंगलो से आच्छादित हो। इसके अतिरिक्त भारतीय वनो का बड़ा असमान वितरण है। किन्ही क्षेत्रो मे तो यह प्रतिशत २८% तथा ४०% है, जब कि पंजाब, उत्तर प्रदेश तथा बिहार जैसे क्षेत्रो मे यह प्रतिशत ११% तथा १६% के बीच मे है। भारतवर्ष मे जगल अधिकांशतः हिमालय की तराई, आसाम, तथा मध्य प्रदेश के इलाको मे अधिक हैं।

भारती वनों के विभिन्न प्रकार

वनों के प्रकार—
१—पर्वती वन
२—सदाबहार वन
३—पतझड़वाले वन
४—समुद्र तटीय वन
५—काँटेदार वन
६—सूखे वन

भारतवर्ष मे वनो का वितरण वर्षा के वितरण पर हुआ है। अधिक वर्षा वाले क्षेत्रो मे जङ्गलो की बहुतायत है, और कम वर्षा वाले प्रदेश जंगलो से विहीन हैं। भारतीय वनो को मुख्यतः पाच भागो मे बाटा गया है, जो निम्नलिखित है:—

(१) पर्वतीय वन (२) सदाबहार वन (३) पतझड वाले वन (४) समुद्र तटीय वन (५) काटेदार तथा (६) सूखे वन।

पर्वतीय वन (Hilly Forests)

पर्वतीय वन हिमालय पर्वत पर स्थित हैं, जिसमे कोणधारी वन, तथा चौड़ी पत्ती वाले वन ५००० फुट की ऊँचाई तक मिलते है। ५००० फुट से ९००० फुट की ऊँचाई तक पर सदाबहार वन मिलते हैं और इसके आगे नोकदार और अन्त मे अल्पाइन नामक वन मिलते हैं। इन वनो मे देवदार, पाइन, स्प्रूस, श्वेत सनोवर, चीड, लॉरेल, बलूत के वृक्षो की बहुतायत है। इन लकडियो का प्रयोग फर्नीचर बनाने, रेल के स्लीपरो के निर्माण, जहाजों और मकानो के निर्माण मे अधिक होती है। ये वन देश के औद्योगिक विकास के लिये बहुत ही मूल्यवान

तथा उपयोगी हैं। १२००० फुट से १६००० फुट तक सनोवर, बर्च, व जड़ी बूटियाँ मिलती हैं, जो औषधियों के निर्माण में काम में आती हैं।

सदाबहार वन (Evergreen Forests)

सदाबहार वन ८०" से ऊपर वर्षा वाले प्रदेशों में होता है। जहां खूब वर्षा होती हो, और जाड़ों में समान तापक्रम रहता हो, वहाँ ये वन बहुत फलते-फूलते हैं। इस प्रकार के जंगल पश्चिमी तट, कर्नाटक, उप-हिमालय-क्षेत्र, अण्डमन एवं आसाम की पहाड़ियों में बहुतायत से पाये जाते हैं। इन वनों में रबड़, आबनूस, चन्दन, बाँस, बेंत, ताड़, चीड़, प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं।

पतझड़ वाले वन (Deciduous Forests)

पतझड़ वाले जंगल कम वर्षा वाले क्षेत्रों में पाये जाते हैं, विशेषतः उन क्षेत्रों में जहाँ वर्षा का वितरण ४०" से लगाकर ८०" तक होती है। इन जंगलों का क्षेत्र पश्चिमी घाट (पूर्वीय क्षेत्र), दक्षिणी पठार, हिमालय के निचले भाग, गंगा की घाटी, तथा छोटे नागपुर के पठार तक सीमित है। वर्षा काल में ये वृक्ष बहुत बढ़ते हैं और सर्दी के बाद ये अपनी पत्तियों को गिरा देते हैं, जिसके कारण इनके पानी की नमी भाप बनकर उड़ जाती है। ये जंगल पहाड़ों तथा मैदानों में समान रूप से पाये जाते हैं। इन जंगलों में लाख, शहद, मोम कोकूम, मिलता है तथा सागवान, साल, पदूक, सागौन के वृक्ष मिलते हैं, जो फर्नीचर बनाने, रेलों के स्लीपर बनाने में काम में लाये जाते हैं।

समुद्र तटीय वन (Coastal Forests)

समुद्रतटीय वनों को डेल्टा के वनों से भी सम्बोधित किया जाता है, क्योंकि ये जंगल ज्वार भाटा वाले स्थलों में पाये जाते हैं। गंगा का डेल्टा, ब्रह्मपुत्र का डेल्टा, (सुन्दर वन), महानदी, गोदावरी, कृष्णा, के डेल्टों में ये जंगल खूब पनपते हैं। इन क्षेत्रों में सुन्दरी नामक वृक्ष, तथा नारियल बहुतायत से होता है। सुन्दरी वृक्ष के लट्ठे झोपड़ियाँ बनाने के काम में आते हैं। इनके अतिरिक्त इससे नावें बनती हैं, और लट्ठों से तार के खम्भों का भी काम लिया जाता है। अन्य वृक्षों का उपयोग केवल ईन्धन के काम के लिये किया जाता है।

काँटेदार या सूखे वन (Dry Forests)

इन वनों को रेगिस्तानी शुष्क वनों की भी संज्ञा दी गई है। ये जंगल उन इलाकों में पाये जाते हैं, जहां वर्षा सामान्यतया २०" से कम होती है। ये वन राजस्थान, पंजाब के दक्षिणी भाग, में पाये जाते हैं। इन वनों की

झीलों में पानी की बहुलता हो जाती है। जंगल पानी को सोखते हैं फलस्वरूप कुओं में पानी की सतह ऊपर उठती है, और सिंचाई के कृत्रिम साधनों को प्रोत्साहन मिलता है।

(६) व्यवसाय :—जंगलों में रहने वाले व्यक्ति अपनी आजीविका उपार्जन के लिये जंगलों में नाना प्रकार के धंधे चला लेते हैं, और इस प्रकार बहुत से व्यक्तियों को रोजगार मिल जाता है।

(७) जलवायु :—जंगल जलवायु को समान रूप से नियंत्रित किये रहते हैं, क्योंकि वनों का जलवायु पर बहुत ही अनुकूल प्रभाव पड़ता है।

(८) दृश्य अवलोकन:—जंगलों में प्रकृति उन्मुक्त रूप से मुस्कुराती है, अतः नाना प्रकार के दृश्य हमें देखने को मिलते हैं, जिनसे हमारा मनोरंजन होता है।

(९) स्वास्थ्य वृद्धि—आधुनिक जीवन के कोलाहल से ऊबकर व्यक्ति अनेक सुन्दर स्थलों में जाकर स्वास्थ्य लाभ करते हैं, जिससे उनको स्वस्थ चित्त तथा शान्ति मिलती है। शिकारी लोग शिकार खेलते हैं। कविहृदय, तथा कलाकार विशेष रूप से प्रभावित होते हुये अपनी कला का विकास करते हैं।

(१०) आक्रमणों से रक्षा—वन बाहरी आक्रमणों को रोकने में हमारी मदद करते हैं और देश में शान्ति तथा सुरक्षा की स्थापना में सहयोग देते हैं।

(११) हवा तथा तूफानों की रोक:—घने वन तेज हवा तथा तूफानों को रोक कर हमारी रक्षा करते हैं, जिसके फलस्वरूप फसल, गाँव इत्यादि बचे रहते हैं।

(१२) वनों से लाभ:—सरकारों को वनों से पर्याप्त आय प्राप्त होती है। भारतवर्ष में राज्य सरकारें लगभग ६ करोड़ रुपये से भी अधिक आय वनों से ही प्राप्त करती हैं।

वन नीति और उसकी आवश्यकता (Need for Forest Policy)

वनों का पिछड़ापन (Backwardness of Indian Forests)

अन्य देशों की तुलना में हमारे वनों की अवस्था बड़ी दयनीय एवं पिछड़ी हुई है। भारतवर्ष में लकड़ी का उपयोग प्रति व्यक्ति प्रतिवर्ष ०·६ घन फुट आंका गया है, जबकि यही उपयोग फ्रांस में १६·० घन फुट प्रति व्यक्ति है। इन सबके लिये हम यही कहेंगे कि वनों का पिछड़ापन—वन क्षेत्र के असमान वितरण, परिवहन के साधनों के अभाव, वनों का अविवेक पूर्ण काटा जाना, व्यापारिक लाभ उठाने की कामना, वन विज्ञान, तथा वन अनुसंधान शालाओं की कमी, भारतीयों की अशिक्षा, देश की गरीबी, उपयोग के तरीके, तथा

उनकी सुरक्षा एवं विकास के सम्बन्धी नीति का भली प्रकार पालन न किया जाना इत्यादि कारणों पर अधिक अवलम्बित है।

वन नीति की आवश्यकता

वन राष्ट्र की सम्पत्ति गिने गये हैं, अतः उनकी व्यवस्था राष्ट्रीय नीति के अनुसार ही होनी चाहिये। साथ ही साथ वनों का विवेक पूर्ण उपयोग किया जाये तथा उसके सामाजिक और आर्थिक दृष्टिकोणों को ध्यान में रक्खा जाये। कृषि विभाग तथा वन विभाग में पूर्ण रूपेण समायोजन स्थापित किया जाये। इन सभी प्रश्नों के फलस्वरूप देश में एक सुदृढ़ वन नीति की आवश्यकता पड़ती है।

वनों पर सरकारी नियन्त्रण सर्व प्रथम १८६४ में हुआ था, और उसी समय वनों सम्बन्धी मूल तत्वों पर विचार करके एक वन नीति का सूत्रपात किया गया। सर्व प्रथम कोई भी व्यक्ति वनों से मन चाही मात्रा में वस्तुयें ले जाता, या लकड़ी काट लेता था, अतः पहली नीति के मुताबिक यह आवश्यक हो गया कि वनों को मनमाने ढंग से काटने से बचाया जाये। इस प्रथम चरण में जंगलों के वैज्ञानिक ढंग से काटे जाने तथा आर्थिक आवश्यकतानुसार जंगल लगाये जाने की कोई चर्चा नहीं की गई। केवल इतना किया गया कि वनों को निम्नलिखित चार भागों में बाट दिया गया। (१) सुरक्षित जंगल (Reserved forest) ये वे जंगल थे, जिनका रखना जलवायु तथा भौतिक कारणों से आवश्यक था। इस प्रकार के जंगल सुरक्षित समझे जाते थे क्योंकि ये वर्षा, बाढ़, भूमि के कटाव इत्यादि को मदद करते थे। (२) दूसरी श्रेणी में वे वन आते थे जिन्हें रक्षित (Protected) वन कहा जाता था, और जिनसे बहुमूल्य लकड़ी प्राप्त होती थी। (३) तीसरे वन अरक्षित (Unclassed) थे, जो ईंधन, घास, चरागाहों का काम करते किन्तु इस के विदोहन पर थोड़ी बहुत रोक थाम थी। (४) चौथी श्रेणी में वे सभी जंगल आ जाते थे, जिस पर पशु बिना रोक थाम के चरते थे, और दुर्भिक्ष के समय ऐसे जंगलों का उपयोग किया जाया करता था।

इन सभी कामों को सम्हालने के लिये एक वन विभाग की स्थापना की गई और इसको दो काम प्रमुख रूप से सौंपे गये। प्रथमतः, जंगलों को अत्यधिक शोषण से बचाना और दूसरे जंगलों की उत्पादन शक्ति में वृद्धि करना। इस विभाग ने अपना काम ठीक ठाक ढंग से सम्हाला और १९०६ में

वैज्ञानिक अनुसंधानो के लिए एक फोरेस्ट रिसर्च इंस्टीट्यूट की स्थापना की गई और इसी समय यह खोज की गई कि सवाई, भाभर, तथा बांस से कागज का उत्पादन किया जा सकता है। इतना होते हुऐ भी वनो के विकास मे कोई आशाजनक प्रगति नही हो पाई।

आजकल वन विभाग का संचालन कृषि मंत्रालय के आधीन है। Inspector General Forests इस विभाग का सबसे ऊँचा अधिकारी है। राज्यो को वृतो (Circles) में शासन की सुविधा के लिये बांट दिया गया है। तीन या अधिक वृत वाले राज्यो में एक Chief Conservater of forests होता है, और प्रत्येक वृत को कई Divisions मे तथा Divisions को कई Ranges मे बाट दिया गया है। रेन्ज का अधिकारी Ranger कहलाता है। Ranges को Beats मे बाटा गया है, जहाँ चौकीदार होते हैं। वन विभाग का समस्त उत्तरदायित्व कृषि मन्त्री पर होता है।

सन् १९४७ मे देश मे आजादी का झण्डा लहराया और देश की विभिन्न नीतियो मे राष्ट्रीय हित को दृष्टिकोण मे रखते हुए, नई प्रकार की नीतियाँ बनाई गई। १९४७ मे एक वृक्षारोपण आन्दोलन चलाया गया, जिसमे जनता, राज्यपालों, मन्त्रियो आदि सभी ने भाग लिया। १९५० मे जब श्री. के. एम. मुशी कृषि मंत्री थे, तब उन्होने वन महोत्सव नामक आन्दोलन चलाया जो प्रतिवर्ष बड़े समारोह के साथ मनाया जाता है। १९५२ मे नई राष्ट्रीय वन सम्बन्धी नीति का सूत्रपात किया गया, जिसमे ३३'३% प्रतिशत भूमि पर वन लगाने का लक्ष्य निर्धारित किया गया। इस नीति के दो उद्देश्य—साधनो की दीर्घकालीन विकास की व्यवस्था और निकट भविष्य मे इमारती लकड़ी का समुचित विकास ताकि बढती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सके—रखते गये।

पंचवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत ऐसे वृक्षों का रोपण किया जा रहा है, जो जल्दी ही बढ सकें और देश मे औद्योगिक लकड़ी की मांग जो १९७५ मे ६'५ मिलियन टन हो जायगी, की बड़ी सीमा तक पूर्ति कर सकें। ईंधन वाली लकड़ी का भी समुचित उत्पादन करवाया जाये ताकि कृषि खाद बच सके। पहली योजना मे वनो के विकास पर ९'५ करोड़ रुपये की राशि व्यय की गई और दूसरी पंचवर्षीय योजना पर १९.३ करोड रु० व्यय किये जा चुके हैं। तृतीय योजना के अन्तर्गत ५१'० करोड़ रुपयों की राशि व्यय होगी। इसी योजना मे नये बागानो का लगाया जाना, गाँव की सामूहिक भूमि पर वृक्षो का लगाना, सुधरे औजारो की व्यवस्था, १५ हजार मील लम्बी वन सड़कों

का निर्माण होगा। साथ ही साथ १॥ लाख एकड मे चरागाहो का विकास तथा टेक्नीकल कर्मचारियो के प्रशिक्षण की व्यवस्था का भी प्रवन्ध है। देहरादून, तथा कोयमबटूर मे प्रशिक्षण सुविधाओ की वृद्धि, ज्यूलोजिकल पार्क राष्ट्रीय पार्क, वन सुरक्षा केन्द्रो को प्रोत्साहन दिया जायेगा।

सारांश (Summary)

भारत की स्थिति – भारत की स्थिति ८°४° उत्तरी अक्षांश से ३७°५° उत्तरी अक्षांश एवं पूर्व से पश्चिम तक यह ६८°७° से ९७°२५° पूर्वी देशान्तरो के मध्य है। यह एक त्रिभुजीय द्वीप है, जिसका आधार दक्षिण मे न होकर उत्तर मे है। भारत का क्षेत्र फल १२,२९,७८७ वर्ग मील है। त्रिभुजीय आकार के होने के फलस्वरूप दक्षिणी भाग क्रमशः संकुचित होता चला गया है। ठीक दक्षिण मे पहुचते पहुचते कन्या अन्तरीप तक एक लघुकोण ही बनकर समुद्र मे प्रविष्ट हो गया है। समुद्र तट सीधा तथा कम कटा फटा होने के कारण प्राकृतिक बन्दरगाहो का अभाव है। पूर्व मे विशाखापतनम तथा पश्चिम मे बम्बई ही कुदरती बन्दरगाह हैं। स्थिति महत्वपूर्ण है, क्योंकि उत्तर मे नगराज हिमालय है, जो मानसून वृष्टि के साथ कई व्यापारिक दर्रों से हमारी मदद करता है। पूर्व, पश्चिम तथा दक्षिण मे समुद्र तट भारत के पद प्रक्षालन करता है।

आधार शिलायें तथा आर्थिक विकास – भारत धर्म प्राण देश रहा है, जहाँ वर्ण व्यवस्था ने अर्थ व्यवस्था को बहुत अधिक प्रभावित किया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र जातियो ने अपने असाधारण ज्ञान, शक्ति, व्यापार तथा विभिन्न सेवाओ से देश को समृद्धिशाली बनाया है। व्यक्तियों का जीवन धर्म प्रधान है, किन्तु अर्थ भी जीवन का एक अंग बना है।

भारत के प्राकृतिक विभाग—भारत की विस्तृत व्यवस्था के लिये भारत को प्रमुख चार भागो में विभक्त किया गया है, जिनमे (१) उत्तर मे हिमालय प्रदेश (२) गंगा सिन्धु के मैदान (३) दक्षिण के पठारी भाग तथा (४) समुद्र तटीय मैदान सम्मिलित हैं: —

हिमालय प्रदेश—सदैव अपनी हिमाच्छादित चोटियो के साथ पामीर की पहाड़ियां से लेकर पूर्व मे बर्मा तक विस्तृत है। इसके तीन प्रमुख भाग – मुख्य हिमालय, हिमालय की उत्तरी पश्चिमोय शाखा, एवं पूर्वी दक्षिणी शाखा हैं। मुख्य हिमालय सबसे चौड़ा तथा ऊँचा प्रदेश है। इस प्रदेश मे सुन्दर, मनोरम घाटियां तथा घने जंगल हैं। इसी भाग मे एवरेस्ट (२९०२८') गॉडविन आस्टिन (२८,२५०') तथा कंचनचंगा (२८१४६') आदि प्रमुख चोटियाँ हैं। एवरेस्ट विश्व मे सब से ऊँची चोटी है।

उत्तरी पश्चिमी शाखा पाकिस्तान तथा अफगानिस्तान की सीमा बनाता है। इसी शाखा में एशियाई देशों में जाने के लिये कई महत्वपूर्ण दर्रे हैं। दक्षिणी पूर्वी शाखा आसाम को तिब्बत से अलग करती है। हिमालय का सुरक्षा, वर्षा, एवं मिट्टी के दृष्टिकोण से निजी महत्व है:—

गंगा सिन्धु के मैदान— ये हिमालय पर्वत से निकलने वाली सरिताओं के उपजाऊँ दोमट कणों से निर्मित है। गंगा की सहायक नदियाँ, तथा सिन्धु की सहायक नदियाँ इस मैदान को उपजाऊ बनाती हैं। यह मैदान पूर्व से पश्चिम तक २००० मील, तथा उत्तर से दक्षिण की ओर १५०० से १८०० मील तक फैला है। पूर्व में हिमालय के उत्तरी ढाल से निकली हुई ब्रह्मपुत्र नदी आसाम में बहती हुई गंगा में आकर मिलजाती है। यह भाग भी उतना ही महत्वपूर्ण है, जितना गंगा तथा सिन्धु के मैदान हैं। ये भाग आर्थिक दृष्टिकोण से बड़े महत्वपूर्ण हैं। कृषि यहाँ का प्रमुख व्यवसाय है:—

दक्षिण के पठारी भाग—गंगा तथा सिन्धु के मैदान के दक्षिण में विन्ध्याचल व सतपुडा के पठारी भाग हैं, जो दो श्रेणियों में विभक्त है। पूर्वी दक्षिणी पठारी भाग तथा पश्चिमी दक्षिणी पठारी भाग, ये दोनों ही अनेक पर्वत श्रेणियों से आच्छादित है। पश्चिमी दक्षिणी भाग पर्याप्त मात्रा में ऊबड़ खाबड़ है। इन पठारों के पश्चिमी भागों की तरफ पर्याप्त वर्षा होती है, किन्तु बीच के ऊबड़ खाबड़ भाग वर्षा की दृष्टि से प्रायः सूखे रहते हैं। उत्तरी पश्चिमी पठारी भाग ज्वाला मुखी पर्वतों के लावा से काली मिट्टी वहाँ अधिक उपजाऊ है। जल-विद्युत, खनिज सम्पत्ति, तथा कपास के उत्पादन के दृष्टिकोण से यह भाग अत्यधिक महत्वपूर्ण बन गया है:—

समुद्र तटीय मैदान—भारत के विशाल समुद्र तट पश्चिम तथा पूर्वी घाटों के नाम से सम्बोधित किये जाते हैं। पूर्वी भाग पर्याप्त रूप से चौड़ा है। यहाँ की प्रमुख फसलें नारियल, चावल व ईख है। पाट की खेती का भी उत्पादन यहा प्रारम्भ किया गया है। भारत के प्रमुख बन्दरगाह इन्हीं तटों में हैं, जो देश के समुद्री व्यापार को समुन्नत किये हुये हैं।

भारत की जलवायु:—देश की आर्थिक प्रगति की शृंखला में वहाँ की जलवायु का विशेष हाथ रहता है, क्यों कि देश के निवासियों की आवश्यकतायें कार्य क्षमता, व्यवसाय, तथा उद्योग धन्धे देश की जलवायु पर ही निर्भर है। भारत के विस्तार तथा विलक्षण स्थिति के कारण यहाँ प्राय. सभी प्रकार की जलवायु है। भारत उष्ण तथा कटिबन्धीय क्षेत्र में है, तथा कर्क रेखा भारत को दो समान जलवायु वाले भागों में विभक्त करती है। उत्तर के शीतोष्ण

कटिबन्धीय भाग तथा दक्षिण के उष्ण कटिबन्धीय भाग अपना अपना निजी महत्व रखते हैं। उत्तर में हिमालय पर्वतीय प्रदेश अत्यन्त ठण्डे तथा नमी वाले हैं। उत्तरी पश्चिमी भाग रेतीला है, जहाँ वर्षा की मात्रा बहुत कम है। दक्षिण में जलवायु का नियंत्रण वहाँ की विषुवत रेखा व कर्क रेखायें करती हैं। विषवत रेखा के समीप वाले भागों में गर्मी अधिक पड़ती है। किन्तु जाड़े की ऋतु साधारण रहती है। वर्षा की मात्रा समुद्रतटीय मैदानों में अधिक है। समुद्रतटीय मैदानों में तापमान का अन्तर बहुत ही कम रह जाता है।

भारत की वर्षा:—समस्त भारत में वर्षाकाल जून से अक्टूबर तक रहता है। इस समय सूर्य कर्क रेखा पर चमकता है, परिणाम स्वरूप समुद्री भागों पर वायु का दबाव स्थलीय भागों की अपेक्षा अधिक रहता है, और वहाँ की वायु स्थल की ओर दौड़ती है। भारत में मानसूनी हवायें वर्षा करती हैं, जो दो भागों में बटी हुई हैं। पहली शाखा बंगाल की खाड़ी वाली शाखा है, और दूसरी शाखा अरब सागर वाली शाखा है। बंगाल की खाड़ी वाली शाखा चेरापूंजी में ५००" तक वर्षा करती है, तत्पश्चात् इसका रुख पश्चिम की ओर हो जाता है जहाँ यह शाखा बंगाल, बिहार, मध्यप्रदेश तथा उत्तर प्रदेश में पर्याप्त मात्रा में वर्षा करती है। राजस्थान तथा पंजाब भी इस शाखा से लाभान्वित होता है। अरब सागर वाली शाखा पश्चिमीय ढालों तथा समुद्रतटीय मैदानों में भीषण वर्षा करती है। मद्रास, मैसूर, हैदराबाद, दक्षिणी मध्यप्रदेश, उड़ीसा में वर्षा अधिक नहीं हो पाती है। शीतकालीन वर्षा दिसम्बर में होती है। भारत में पूर्व की ओर चलने वाली हवायें जब बंगाल की खाड़ी को पार करती हैं, तो नमी की मात्रा बढ़ जाती है, अतः पूर्वी ढालों पर ये हवायें गहरी वर्षा करती हैं। उत्तर में हिमालय की बर्फीली भूमि से टकराकर ये हवायें कुछ नमी ग्रहण कर लेती हैं, और पंजाब तथा उत्तर प्रदेश में कुछ वर्षा करती है। शीतकालीन मानसून भी राजस्थान के उत्तरी भागों में कुछ वर्षा करते हैं।

भारत की मिट्टी:—कृषि प्रधान प्रदेश के लिये जलवायु के साथ साथ भूमि पर पाई जाने वाली मिट्टी का भी बहुत हाथ होता है। एक अच्छी से अच्छी जलवायु वाले देश में उपयोगी मिट्टी के अभाव से उत्पादन क्षमता नष्ट हो जाती है। भारतवर्ष इस दृष्टिकोण से बड़ा सौभाग्यशाली है। भारतवर्ष में पाँच प्रकार की मिट्टी उपलब्ध है। (१) **दुमट मिट्टी:**—नदियों द्वारा लाई हुई मिट्टी को दुमट कहते हैं। गंगा, सिन्धु, तथा ब्रह्मपुत्र के मैदान प्रायः इसी मिट्टी से निर्मित हैं। भारत में इस मिट्टी का क्षेत्रफल ३ लाख वर्ग मील तक है। यह उत्तरी राजस्थान, दिल्ली, पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिमी बंगाल

पत्तियाँ गिरा देते हैं। इन जंगलों मे लाख, शहद, मोम, पदूक, सागौन एवं सागवान जैसे बहुमूल्य लकडी मिलती है: —

(४) समुद्र तटीय वन — नदियों के डेल्टो मे स्थित जंगल होते हैं, जिनमें सुन्दरी वृक्ष, नारियल तथा अन्य वनस्पतियाँ बहुतायत से मिलती हैं: —

(५) कांटेदार या शुष्क वन — रेगिस्तानि इलाको में प्राप्य होते हैं। जहाँ लम्बी जड़ वाली, तथा कटीली झाड़ियाँ होती हैं। बबूल, कीकर, समीर, झाड़ी के पेड़ ही बहुत मात्रा मे होते हैं, जो ईंधन तथा रंगने के काम मे आते हैं।

वनों से लाभ — प्रत्यक्ष लाभ — छोटी उपज के अन्तर्गत बांस, खपड़ा, लाख, शहद, मोम, शिलाजीत, जड़ी बूटियाँ, चमडा तारपीन, चारनिदा के तेल, रंग, बबूल, महुआ, आंवला, हर्र, बहेड़ा, कत्था, कस्तूरी इत्यादि जैसी वस्तुयें मिलती है। वन्य पशु—चीता, शेर, चीतल, मृग, गैंडा, हाथी, मगर मच्छ, घड़ियाल, अजगर मिलते हैं। इनसे चमड़ा, खाल, मास की उपलब्धि होती है। बडी उपज मे व्यापारिक लकडी - सागवान, देवदार, बलूत, ऐश, शीशम, बबूल, चन्दन, सुन्दरी मिलती है, जो विभिन्न प्रकार के कामो मे ली जाती है।

अप्रत्यक्ष लाभ — जंगल वर्षा की सृष्टि करके तापक्रम तथा वायु मण्डल मे संतुलन पैदा करते हैं। विभिन्न प्रकार की खादें प्रदान कर भूमि को उपजाऊ बनाते हैं। हवा को रोक कर फसल तथा पेड़ो की रक्षा करते हैं। भूमि क्षरण तथा भूमि कटाव को रोक कर बाढ पर नियंत्रण रखते हैं। विभिन्न प्रकार के उद्योगो के लिये कच्ची सामग्री देते हैं। जल वायु को नियंत्रित करते हैं। सौन्दर्य जनक दृश्यों को प्रदान कर लोगो का मनोरंजन करते एवं स्वास्थ्य लाभ प्रदान करते हैं। बाह्य आक्रमणो से रक्षा कर सरकारो को आय प्रदान करते हैं।

वन नीति — वनो के पिछड़ेपन को वन नीति ही सुधार सकती है। सर्व प्रथम वन नीति १८६४ में घोषित की गई जिसका उद्देश्य वनो को मनमाने ढङ्ग से काटे जाने से बचाना तथा आर्थिक आवश्यकतानुसार जंगल लगाना ही था। इसके अतिरिक्त जंगलो को चार भागो मे वर्गीकृत कर दिया—(१) सुरक्षित, (२) रक्षित, (३) अरक्षित, (४) चरागाह। १६०६ मे देहरादून मे एक फोरेस्ट रिसर्च इन्स्टीट्यूट खोली गई। १६४७ में स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् नीति में परिवर्तन आया। १६५० म श्री मुन्शी के मंत्रित्व काल में वन महोत्सव आयोजित किये गये। १६५२ मे एक नई वन नीति की घोषणा हुई, जिसमें ३३.३% भूमि को वन भूमि में परिवर्तन किये जाने का लक्ष्य रक्खा गया। साधनो की दीर्घकालीन विकास की व्यवस्था, तथा इमारती लकड़ी के समुचित

विकास पर जोर दिया गया। पहली पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत ९'५ करोड़ रुपये व्यय किये गये। दूसरी पंचवर्षीय योजना मे १६'३ करोड़ रुपये व्यय किये गये और तीसरी योजना मे ५१'० करोड़ रुपये व्यय किये जायेंगे। इस योजना में वृक्षा रोपण, टेक्नीकल प्रशिक्षण पार्को का विकास, वन्य सुरक्षा केन्द्रो पर जोर दिया जायेगा।

प्रश्न

(१) किसी देश के प्राकृतिक साधनो मे क्या क्या सम्मिलित किया जाता है ? क्या भारत वर्ष प्राकृतिक साधनो मे धनी देश है ?

(२) 'भारत के प्राकृतिक साधन बहुत बड़े हैं। आवश्यकता है कि उनकी उचित सुरक्षा, विकास और उपयोग की' इस कथन की व्याख्या कीजिये।

(३) भारत के विभिन्न भौगोलिक विभागो का वर्णन कीजिये। हमारे देश के व्यापार और उत्पादन को ये भाग कहाँ तक प्रभावित करते हैं ?

(४) भारतवर्ष मे कितने प्रकार की मिट्टियाँ पाई जाती हैं ? उन मिट्टियो की विशेषताओ तथा महत्व पर प्रकाश डालिये।

(५) भारत की जलवायु का संक्षेप मे वर्णन कीजिये और बतलाइये कि देश की आर्थिक व्यवस्था पर इसका क्या प्रभाव पड़ता है।

(६) 'भारत की आर्थिक समृद्धि मौसमी हवाओ पर आश्रित है।' इस कथन की विवेचना कीजिये।

(७) भारत के मुख्य खनिज पदार्थ कौन कौन से हैं ? देश के औद्योगिक विस्तार मे उनकी उपयोगिता सिद्ध कीजिये।

(८) भारत मे किस प्रकार के जंगल पाये जाते हैं ? उनके आर्थिक लाभों तथा सरकारी वन नीति का विवेचन कीजिये।

अध्याय २

भारतीय कृषि का क्रमिक विकास
(EVOLUTION OF INDIAN AGRICULTURE)

भारत एक कृषि-प्रधान देश है। कृषि सर्वदा से ही भारतीय आर्थिक जीवन का आधार स्तम्भ रही है। कृषि हमारे लिये न केवल एक उद्योग धन्धा ही है, न केवल यह एक जीविकोपार्जन का साधन मात्र ही है, अपितु यह वास्तविक रूप में राष्ट्र का प्राण है। आज भी देश की ७० प्रतिशत जनता कृषि पर ही निर्भर है। यद्यपि कृषि का भारत में इतना अधिक प्रमुख स्थान है, फिर भी कृषि का यथोचित विकास नहीं हो सका है। यही कारण है कि भारतीय कृषि का इतिहास, भारतीय कृषक की दयनीय, दुःखद एवं दरिद्रता की रोमांचकारी एवं करुण कहानी है।

श्री डी० आर० गाडगिल ने कृषि के विकास को मुख्यतः ४ भागों में बाँटा है:—

(अ) १८६० से १८८० तक का काल

(ब) १८८० से १८९१ तक

(स) १८९१ से १९१४ तक, और

(द) १९१४ से अब तक

(अ) भारतीय कृषि का विकास—सन् १८६० से १८८० तक :—

सन् १८६० के पूर्व देश के अन्दर यातायात की सुविधाओं का बड़ा अभाव था। अतः कृषि उत्पादन किसी एक स्थान से दूसरे स्थान तक नहीं भेजा जा सकता था। परिणाम स्वरूप गांव आत्म निर्भर थे (Self sufficient) और स्वावलम्बी थे। वे एक दूसरे से पृथक थे। अतः बाजार भी सीमित थे। उस समय विनिमय अनाज के द्वारा ही होता था। दुर्भिक्ष (Famines) का अधिक प्रकोप था। सभी गांवों में एक जैसी फसल होती थी। परन्तु १८६० के बाद १८८० तक कृषि के विकास में निम्न लिखित परिवर्तन हुए :—

डा॰ बलजीतसिंह ने लिखा है कि "..........the ordinary cultivator has been obliged to grow more for commerce, unlike his forefathers, an Indian cultivator to-day is both a farmer and a dealer." सन् १८५६ से १८६४ तक इङ्गलैंड के लिये भारत की रुई का निर्यात ५,०६, ६६५ गांठो से बढ कर १३, ६६,५१४ गाँठें हो गया था।

(४) कृषि मजदूरों के वर्ग का प्रकट होना (Growth of Agricultural Labour class.)

१८६०-७० के मध्य में एक मजदूर श्रेणी का प्रादुर्भाव हुआ । इसमें अधिकतर कृषक-मजदूर थे, जो अपनी आमदनी को खेती के अलावा समय में बढ़ाना चाहते थे। उस समय मजदूरी की दर भी प्रगति से बढ़ रही थी। दक्षिण की The Committee on Riots लिखती है कि मजदूरी की दर १८६० से १८६३ में ७ रु० १२ आने से १३ रु० ८ आने हो गई थी। यही नहीं, मजदूरी की दर खाद्य सामग्री की दर के साथ २ बढ़ रही थी।

(५) कुटीर उद्योग धन्धों का ह्रास (Decline of Cottage Industries)

योरोप की औद्योगिक क्रान्ति ने भारतीय कृषि व्यवसाय को एक गहरी चोट दी। यन्त्र-निर्मित माल के आयात ने भारतीय कुटीर उद्योग-धन्धों की जड़ों को हिला दिया। फलस्वरूप कृषकों की आर्थिक दशा बिगड़ने लगी। R.C. Dutt ने भी लिखा है, "इंगलैंड में मशीन से चलने वाले करघे के अविष्कार ने भारतीय उद्योग के पतन को सम्पूर्ण कर दिया।"

(६) कृषि-भूमि का छोटे २ टुकड़ों में खण्डन एवं उपखण्डन (Sub division & fragmentation of Agricultural holdings)

भूमि पर निर्भर रहने वाली जन संख्या दिनोदिन बढ़ने लगी। एक तो इस कारण से तथा दूसरे उत्तराधिकार के नियमों के कारण भूमि का उप-विभाजन और खण्डन होने लगा। एक व्यक्ति के अधिकार में रहने वाले टुकड़े एक दूसरे से पर्याप्त दूरी पर स्थित हो गये।

(७) कृषि ऋणग्रस्तता का बढ़ना (Increase in Agricultural Indebtedness).

कृषि भूमि का छोटे २ टुकड़ों में खण्डन एवं उपखण्डन होने के कारण

कृषि एक घाटे का व्यवसाय हो गया था। प्रति एकड़ पैदावार कम होने के कारण किसानों की आर्थिक दशा खराब हो गई। इसके अतिरिक्त योरोपीय औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप कुटीर धन्धों के नष्ट हो जाने के कारण किसानों की अतिरिक्त आय समाप्त हो गई और उनकी ऋण ग्रस्तता दिन पर दिन बढ़ने लगी।

(८) कृषकों की स्वालम्बन (Economic independence) की प्रवृति की समाप्ति

यातायात के साधनों के विकास ने, कृषि के व्यापारीकरण ने कुटीर-धन्धे के ह्रास ने और मुद्रा के प्रादुर्भाव ने गावों की स्वावलम्बिता को समाप्त कर दिया। अब केवल गाव वालों की आवश्यकताओं की पूर्ति ही नहीं होने लगी वरन् किसानों का अब बाहर वालों से भी सम्पर्क हो गया। निर्धनता एवं यातायात के साधन की उपलब्धता के कारण ग्रामीण जनता अपने घरों को छोड़कर दूर स्थानों मे जीविकोपार्जन करने के लिये जाने लगी, अतः संयुक्त परिवारों के संगठन का विघटीकरण होने लगा।

(९) वस्तु विनिमय के स्थान पर मौद्रिक विनिमय का प्रारम्भ—
(Use of money in Exchange in place of Barter)

अब तक विनिमय अनाज के द्वारा होता था, परन्तु मुद्रा के प्रारम्भ होने से खेतों का लगान, श्रमिकों की मजदूरी एवं वस्तुओं का क्रय-विक्रय सभी मुद्रा में होने लगा। अर्थात् वस्तु-विनिमय का स्थान द्रव्य विनिमय ने ले लिया। आस्ट्रेलिया व कैलीफोर्निया की सोने की खानों की खोज ने द्रव्य-विनिमय को और भी अधिक प्रोत्साहित किया।

(१०) दुभिक्ष की प्रकृति में अन्तर (Change in the nature of famines)

श्री डी आर. गाडगिल कहते हैं कि दुभिक्ष प्रकृति में अन्तर ही इस समय की प्रमुख विशेषता थी। अब अकाल का मतलब खाद्य-सामग्री की कमी नहीं वरन् रोजगार की कमी होना था। १८६८ मे राजपुताने का अकाल शायद अन्तिम अकाल था जिसमे खाद्य सामग्री की कमी थी। परन्तु १८७३-७४ के बंगाल व बिहार के दुभिक्षो में २६ से ७० प्रतिशत अकालग्रस्त आबादी को रिहा (Relief) मिली। दक्षिण का १८७६-७८ का अकाल १८८० के दुर्भिक्ष आयोग के अनुसार सबसे अधिक खराब अकाल था। परन्तु अकाल अब खाद्य सामग्री के अभाव का प्रतीक न होकर, देश वासियों की क्रय शक्ति के अभाव का प्रतीक बन गया था।

१८६०-८० मे भारत सरकार ने कृषकों की दशा सुधारने के लिये कोई

सक्रिय कदम नहीं उठाया। केवल सन् १८७० में एक शाही कृषि विभाग स्थापित किया गया था, परन्तु वह भी ८ वर्ष बाद प्रान्तीय सरकारों के सहयोग के अभाव में बन्द कर दिया गया। संक्षेप में, जो १८६०-७० में कृषि की उन्नति हुई, वह १८७०-८० में नष्ट हो गई, इसका मुख्य कारण अकालों का होना व सरकार की सक्रिय नीति का न होना था।

(घ) कृषि का विकास— १८८० से ९५ तक :—

जैसा ऊपर भी बताया गया है कि गांव भारत में कृषि की ईकाई है, अतः गाव के संगठन का अध्ययन हमारे लिये अत्यन्त आवश्यक है। अतः स्पष्ट है कि कृषि का संगठन गांव के संगठन पर ही आधारित है। १८८०-९५ में रैयतवाड़ी व जमींदारी दो मुख्य भागों में गांव का संगठन बंटा हुआ था। दक्षिण में अधिकतर रैयतवाड़ी प्रथा का प्रचलन था, जबकि बंगाल में जमींदारी प्रथा का। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इस समय में कृषि का विकास इसके पूर्व वाले समय की अपेक्षा अधिक हुआ। इस समय की विशेषतायें निम्न लिखित हैं।

> १८८० से १८९५ की विशेषताएं
>
> (१) कच्चे माल के निर्यात में वृद्धि
>
> (२) तुलनात्मक प्रगतिशीलता का समय
>
> (३) कृषि उपज की बढ़ती मांग
>
> (a) कृषि भूमि क्षेत्र में वृद्धि
>
> (b) फसल उगाने की पद्धति में परिवर्तन नहीं
>
> (c) फसलों का अधिक स्थानीयकरण
>
> (d) कृषि का विकास

(१) कच्चे माल के निर्यात में बढ़ोत्तरी :—
(Increase in the export of Raw materials)

यातायात के विकास होने के कारण अब गांव आत्मनिर्भर (Self-sufficient) व स्वावलम्बी नहीं रहे थे। अब आर्थिक एकान्तवास (Economic Isolation) समाप्त हो गया था। अंग्रेजों ने भी कच्चा माल बाहर भेजना चालू किया तथा बाहर से तैयार माल यहां पर आता था। दूसरा कारण यह है कि इस समय में १८७६-७८ के समान कोई भी भयंकर अकाल नहीं पड़ा।

(२) तुलनात्मक प्रगतिशीलता का समय (A Period of comparative Prosperity)

१८६०-१८८० की अपेक्षा कृषि की इस समय में अधिक प्रगति हुई। परन्तु यह प्रगति जब कभी छोटे २ स्थानीय अन्न-कमी के कारण भंग हो गई।

उदाहरणतः १८८४-८९ में बंगाल में, १८८० में छत्तीसगढ़ मे चावलों की फसल का पूर्णतया असफल होना, १८८६ मे उड़ीसा मे, और १८९०-९५ में मद्रास व मध्य भारत मे वर्षा की अनियमितता आदि। परन्तु यह कहा जा सकता है कि साधारणतः यह प्रगति का समय था. हा यह अवश्य है कि भूमिहीन मजदूरों (Landless Labour) ऋण से दबे हुये किसानो व छोटी २ भूमि के टुकड़ों के मालिक-कृषको के लिये यह समय इतने अधिक प्रगति का नही था।

(३) भारतीय कृषि उपज की बढ़ती हुई मांग (*Growing demand for Indian Agriculture products*)

भारतीय कृषि उपज को बढ़ती हुई मांग का परिणाम यह हुआ कि औद्योगिक फसलो के मूल्य बढ़ गये। निर्यात व्यापार मे उन्नति हुई तथा आन्तरिक व्यापार में भी तीव्रता से प्रगति हुई। इसका मुख्य प्रभाव यह भी पड़ा कि इसने फसलो के विशिष्टिकरण को और दृढ़ बना दिया। इसके अतिरिक्त इसके निम्न प्रभाव और हुए।

(१) खेती योग्य भूमि क्षेत्र का बढ़ना:—

सिंचाई के साधनों के विकास के साथ साथ खेती योग्य भूमि क्षेत्र भी बढ़ रहा था। संक्षेप मे विस्तृत खेती को प्रोत्साहन मिल रहा था, कारण कि अधिकतर वह भूमि खेती योग्य बनी, जो कि बेकार और उजाड़ पड़ी हुई थी। विस्तृत खेती का यह कदम आबादी के बढ़ने के कारण लिया गया।

(२) खेती की पैदावार में परिवर्तन (Change in the Nature of the crops grown)

फसलो के उगाने की पद्धति मे कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ। अब भी खाद्य सामग्री अधिक मात्रा मे पैदा की जाती थी। हां, इतना परिवर्तन अवश्य हुआ कि अब लोग उच्च श्रेणी के अन्न का प्रयोग करने लग गये थे। गेहूं की अधिक माग ने पंजाब मे गेहूं की विस्तृत खेती को बढ़ावा दिया।

(३) फसलों का अधिक स्थानीकरण (Greater Localisation of crops)

गाँवो का आत्मनिर्भर जीवन अब बिलकुल ही समाप्त होता जा रहा था। इस समय में बरार में कपास की खेती अधिक होने लगी। यहां तक कि C.E. Low कहते हैं कि १८६७-१९१३ मे बरार मे २७% से ४५% तक कपास की खेती में विकास हुआ।

(४) कृषि में प्रगति व विकास (Agricultural Improvements)

इस समय मे कुएँ अधिक मात्रा में खोदे गये । कृषक जानवरों की नसल (Breed) सुधारने मे विनियोग करने लग गये, कई अच्छी प्रकार की फसलों का प्रारम्भ हुआ, लोग खादों का उपयोग करने लगे। संक्षेप मे कुछ स्थानों को छोड़ कर, साधारणतः कृषकों की परिस्थिति अच्छी थी।

कृषि के उत्थान के लिये सरकार की नीति :—

श्री डी० आर० गैडगिल कहते हैं, कि "Society all over India was in the melting-pot and none but Government had influence enough to start any new movement and rely on a considerable following."

कृषक अधिकतर सरकारी सहायता पर ही अवलम्बित थे, परन्तु सरकार ने कृषि की उन्नति के लिये किसी भी विशेष नीति की घोषणा नही की थी। केवल सरकारी प्रकाशनो से ही इसकी नीति के बारे मे मालूम होता है।

प्रथम—कुछ यूरोपवासियो ने भारत मे कृषि के विकास के लिये कुछ संस्थाओं की स्थापना की। सर्वप्रथम डा० कैरे ने कलकत्ते मे Agriculture Horticultural Society. का संगठन किया। सरकार इन संस्थाओं को कुछ जमीन मुफ्त मे दे देती थी।

द्वितीय—सरकार ने Botanical gardens की स्थापना की जिन्होंने चाय-उद्योग प्रोत्साहन पर अधिक जोर दिया। वा० वाट का तो यहां तक मत है कि चाय उद्योग की प्रगति का मुख्य श्रेय कलकत्ता के बोटैनिकल गार्डनस को है।

तृतीय—१८८६ मे डा० वाल्कर (Dr. Voelcker) की नियुक्ति की गई, जिसने १८९१ मे अपनी रिपोर्ट दी, जिसमे कृषि के विकास पर जोर डाला गया था।

चतुर्थ—कृषकों को तकावी ऋण (Taccavis) दिये गये। सरकार ने भूमि सुधार अधिनियम सन् १८८३ (Land Improvement Loans Act of 1883) और कृषक ऋण अधिनियम सन् १८८४ (Agriculturist's Loans Act of 1884) बनाये। संक्षेप मे सन् १८९४ तक विदेशी सरकार ने भारतीय कृषि के विकास के लिये कोई उल्लेखनीय कार्य नही किया।

(स) कृषि का विकास १८९५ से १९१४ तक

१८९५ से १९१४ तक कृषि विकास अनियमितता से हुआ। यदि हम

समय मे कृषि के विकास की जाँच की जाती है, तो इस समय को ३ विभोगों मे बाटना पडेगा, तभी ही कृषि के विकास को पूर्ण रूप से जाच की जा सकती है।

(१) १८६५—१९००

(२) १९००—१९०९

(६) १९०९—१९१४

(१) १८६५-१९०० दुर्भिक्षों का समय (A period of Severe famines)

इस थोड़े से समय मे दो भयंकर अकालो का सामना करना पड़ा।

प्रथम—१८९६-९७ का अकाल—यह लगभग सर्व देश व्यापी अकाल था। ऐसे भागो मे भी अकाल पड़ा, जो अभी तक अकाल से वंचित माने जाते थे। परन्तु इस समय सहायता कार्य १८७६-७८ के अकाल से अधिक अच्छा था।

द्वितीय—१८९९-१९०० का अकाल—यद्यपि यह अकाल सर्वव्यापी नही था, परन्तु यह १८९६-९७ के अकाल से अधिक भयंकर था। इससे पशु-हानि अधिक मात्रा मे हुई।

यद्यपि सरकार ने जंगल आदि चारे के लिये खोल कर काफी मदद की परन्तु यातायात की पूर्ण सुविधा न होने के कारण, चारा उचित स्थान पर उचित मात्रा मे नही पहुंचाया जा सका। इन दुर्भिक्षो का कृषि के विकास पर निम्न प्रभाव पड़ा—

(१) १८८० से ९५ तक कृषि मे जितनी भी प्रगति हुई थी वह इन दुर्भिक्षो ने खतम करदी।

(२) दोहरी फसलो का क्षेत्र पहले से कम हो गया।

(३) औद्योगिक फसलो के स्थान पर अब अधिकतर खाद्य सामग्री पर बल दिया गया।

(४) कृषि योग्य कुल क्षेत्र मे भी कमी हुई। विशेषकर यू० पी० व बम्बई प्रान्त मे यह कमी अधिक रूप मे थी।

(५) निर्यात व औद्योगिक फसलो का स्थान खाद्य फसलो ने लेलिया।

(६) इन दुर्भिक्षो ने किसानो को कृषि विकास के प्रति हतोत्साहित कर दिया।

(२) १९०० से १९०९ तक कृषि का विकास

इस समय मे कृषि विकास नाम मात्र का था। इस काल मे कोई ऐसी प्रगति नही हुई, जिसने कि वास्तव मे कृषि के विकास में सहयोग दिया हो।

प्रारम्भ के ७ वर्षों में फसलें अधिक अच्छी नहीं थी। १६०२-३ में मध्य भारत में, और १६०५-६ में यू० पी० व पंजाब में फसलें खराब हो गई। इस दशाब्दि (Decade) का सबसे खराब १६०७ का साल था, इस वर्ष में यू० पी० में पूर्णतया अकाल की स्थिति सी छागई थी। यू० पी० के अतिरिक्त पंजाब, बंगाल, मध्य भारत, बम्बई व उत्तरी बर्मा में भी कृषकों की दशा दयनीय थी।

(३) १६०८-१६१४ कृषि की प्रगति—(A period of mild Agricultural Prosperity)

चूंकि इस समय में कोई भी भीषण अकाल नहीं पड़ा था, अतः इस समय में कृषि में अच्छी प्रगति हुई।

(१) फसलों में सुधार (Improvement in Crops)

कृषि योग्य भूमि में कोई विशेष बढ़ोतरी नहीं हुई। स्वाद्य फसलों में कुछ प्रगति अवश्य हुई। गेहूं का निर्यात में बहुत महत्त्व था। अतः यह प्रयास किया गया कि उच्च श्रेणी का गेहूं उत्पन्न किया जावे। गेहूं की विभिन्न किस्मों के बारे में अनुसन्धान किया गया, यह मालूम किया गया कि कौन २ से भागों में किस प्रकार का गेहूं उत्पन्न किया जावे। गेहूं को संग्रह करते समय उसको सुरक्षित रखने के प्रयास भी किये गये। चावल की विभिन्न किस्मों की खेती हुई जो कई स्थानों पर सफल भी हुई। मूंगफली की पैदावार में सुधार कर उसे विदेशी बाजार के योग्य बनाया गया।

औद्योगिक फसलों (Commercial Crops)—में भी सुधार हुआ। सभी भारतीय कृषकों का ध्यान विशेषकर कपास की खेती को उन्नत करने में रहा। अच्छे बीज उपलब्ध होने के लिये बीज उत्पादन खेत (Seed farms) की स्थापना की गई। उच्च रेशे वाली कपास (Long staple cotton) के लिये बाजार उपलब्ध किये गये। अधिक भू भाग पर कपास की खेती की जाने लगी। जूट में कपास से भी अधिक उन्नति हुई। अधिक भाग में जूट की खेती होने लगी। गन्ने में कुछ प्रगति हुई।

चारे के उत्पादन में विशेष उन्नति हुई।

(२) फसलों (Crops) के अतिरिक्त कृषि में सुधार

अच्छी वस्तु के कृषि औजार बनाये गये। नकली खाद के भी प्रयोग किये गये। कृषकों की आर्थिक दशा तथा उनकी आवश्यकताओं की तरफ लोगों का ध्यान आक-

पित किया गया। पानी के लिये छोटे २ पम्प, तथा हल्के लोहे के हल बनाये गये। मद्रास मे फ्रेडरिक निक्लसन (Fredriek Nicholson) की देख रेख मे एक मछली विभाग की स्थापना की गई। १६०१ मे लार्ड कर्जन ने इन्सपेक्टर जनरल कृषि (Inspector General of Agriculture) की नियुक्ति की, जो कृषि विभाग का मुख्य अधिकारी होता था। इस समय मे प्रान्तो मे कृषि कालेज व स्कूल खोली जाने लगी।

संक्षेप मे, १८६५ से १६१४ तक कृषि मे कोई भी विशेष प्रगति नही हुई। श्री डी० आर० गेडगिल ने ठीक ही कहा है।"......But after all, the improvements effected were of no revolutionary nature........जो भी सुधार हुये वो अपने क्षेत्र मे ही सीमित थे। वे कृषको तक पूर्ण रूप से नही पहुंच पाये थे। परन्तु यह अवश्य है कि जो कुछ भी किया गया उसने कृषको की दशा सुधारने मे बहुत मदद की। इस थोडी सी सफलता का एक मुख्य कारण स्थानीय जनता का सहयोग था। कृषि साख की तरफ भी ध्यान दिया गया। १६०४ मे सहकारी साख समिति नियम (Co-operative Credit Societies Act) बनाया गया। और १६१२ मे इस नियम मे महत्व पूर्ण संशोधन किया गया। सहकारी समितियो का बहुत तेजी से विकास हुआ। १६१३-१४ में १४८८१ सहकारी समितियो थी जिन्होने ५,०४, १७,३१० रुपयो का ऋण दिया।

(द) कृषि का विकास १६१४ मे अबतक

सन् १६१४ के बाद युद्ध के कारण अनाज की कमी अनुभव की जाने लगी। युद्ध के कारण सरकार का ध्यान कृषि की तरफ नही गया। १६१८ में प्रथम महायुद्ध समाप्त हो गया था। प्रथम महायुद्ध पूर्णतया समाप्त भी नहीं हो पाया था कि भारतीय कृषि को दूसरे महायुद्ध का सामना करना पडा वह था १६१८ का दुर्भिक्ष। इस दुर्भिक्ष के कारण अनाज की कमी इतनी बढी कि सन् १६२७ तक मूल्य स्तर चढा ही रहा। यद्यपि मूल्यो को नीचा लाने के लिये बहुत प्रयास किये गये, परन्तु सभी प्रयास करीब करीब असफल रहे। अभी तक भारतीय किसान पूर्ण रूप से संभल भी नही पाया था, कि सन् १६२६ की विश्वव्यापी आर्थिक मंदी (World Economic Depression) ने स्थिति को और भी खराब कर दिया। परिणाम यह हुआ कि सन् १६२६ से १६३२ तक भारतीय कृषको को एक भीषण संकट का सामना करना पड़ा था।

१६३२ के बाद धीरे २ कृषको ने अपनी स्थिति को सुधारने का प्रयास किया। भाग्य ने भी उसका कुछ साथ दिया। सन् १६३६ मे द्वितीय महायुद्ध छिड़ गया जिसके परिणाम स्वरूप कृषि उत्पादन का मूल्य बढ़ने लगा। इससे

कृषकों की आर्थिक दशा में भी सुधार हुआ। अभी भारतीय कृषक पूर्ण रूप से संभल भी नहीं पाया था, कि उसे दूसरी विपत्ति का सामना करना पड़ा। अभी वह चैन की बंसी बजाने लगा भी न था, कि सन् १९४३-४४ के बंगाल दुर्भिक्ष ने पुनः भारतीय कृषकों पर आघात किया। खाद्य समस्या उत्पन्न हो गई। अन्न के अभाव के कारण तथा जनता की कठिनाईयों से विवश होकर "अधिक अन्न उपजाओ" आन्दोलन (Grow More Food Campaign) चलाया गया। इस आन्दोलन के अन्तर्गत बेकार भूमि का काम में लेना, सिंचाई के साधनों का विकास, उत्तम बीजों का प्रयोग, हरी खाद और रासायनिक खादों (Chemical Fertilizers) का प्रयोग तथा कृषि के यन्त्री करण (Mechanisation of Agriculture) आदि पर दिया गया, जिससे कि अन्न की समस्या हल हो सके।

१५ अगस्त १९४७ को देश स्वतन्त्र हुआ, किन्तु भारत के धार्मिक बंटवारे के कारण हमारी उर्वर (Fertile) भूमि का एक बड़ा भाग पाकिस्तान में चला गया। परन्तु चूंकि अब सरकार हमारी है अतः इसने कृषि के प्रति अधिक ध्यान दिया तथा कृषि की उन्नति के लिये यथोचित प्रयास किये गये। पंचवर्षीय योजनायें बनाई गई, जिनमें कृषि की उन्नति पर अधिक बल दिया गया।

पंचवर्षीय योजनाएं एवं कृषि

(१) प्रथम पंचवर्षीय योजना एवं कृषि—(First Five Year Plan and Agriculture)

जब जनता [illegible] राज्य, पूर्ण जनता द्वारा नहीं होता है तो प्रजातन्त्र अपना वास्तविक स्वरूप खो बैठता है। यह महसूस किया गया कि जब तक गांवों की ८०% जनता का रुख कृषि [illegible] प्रति जागरूक नहीं किया जायगा, जब तक कृषि का सर्वोन्मुखी विकास (All round Development) नहीं होगा, तब तक देश की उन्नति नहीं हो सकती। अतः प्रथम पंचवर्षीय योजना में कृषि को प्राथमिकता (Priority) दी गई। सन् १९५२-५३ में सामुदायिक विकास योजनायें (Community Development Programme) एवं राष्ट्रीय विस्तार सेवायें (National Extension Services) चालू की गई, जिससे कि गांवों का सर्वोन्मुखी विकास हो सके।

प्रथम योजना में कृषि की प्रगति वास्तव में सराहनीय है। इस योजना में कृषि की पैदावार लगभग १८% बढ़ी। खाद्यान्नों का उत्पादन १९५०-५१ में ५४० लाख टन से बढ़कर १९५५-५६० में ६५ लाख टन हो गया जो लक्ष्य से अधिक था। यह उन्नति सन् १९५३-५४ में विशेषतः हुई। १९५३-५४ में ६८८ लाख टन

अनाज उत्पन्न हुआ । १९५४,५५ भी अच्छा वर्ष था, इस वर्ष मे उत्पादन ६६६ लाख टन था । रुई जूट और तिलहन (Oil seeds) के उत्पादन मे भी काफी वृद्धि हुई ।

१९५०-५१ मे ५१·५ मिलियन एकड़ भूमि में सिंचाई हुई थी जो १९५५-५६ मे ५६·२ मिलियन एकड़ मे होने लग गई । प्रथम योजना मे सिंचाई तथा शक्ति (Irrigation & Power) पर ५६६ करोड़ रुपये खर्च हुये जो योजना के कुल खर्च के २९% है । हां, यह अवश्य है कि कृषि उत्पादन की वृद्धि मे अनुकूल प्रकृति का हाथ काफी था । तथा कृषि के क्षेत्र मे भी भूमि-सुधार, सहकारी खेती, फसल योजना, आदि की प्रगति चमत्कारिक नही रही ।

(२) द्वितीय योजना एवं कृषि (Agriculture in Second Five Year Plan.)

पहली पंच वर्षीय योजना के कृषि उत्पादन ने सरकार मे आशावादी का दृष्टिकोण उत्पन्न कर दिया । यह विचारा गया कि अब कृषि का उत्थान तो हो ही गया अतः द्वितीय योजना मे औद्योगीकरण का आधार शुरू करने पर विशेष जोर दिया गया । परिणाम यह हुआ कि कृषि उत्पादन में उल्लेखनीय वृद्धि न हो सकी । और १९५७, ५८ मे ही खाद्य की विकट समस्या ने फिर से अपना विशाल रूप धारण कर लिया । परिणाम स्वरूप योजना के लक्ष्यो (आकड़ों) मे रद्दो बदल करना पड़ा । यद्यपि यह सत्य है कि दूसरी योजना मे कृषि, सामुदायिक योजना व सिंचाई पर व्यय करने की व्यवस्था की गई थी, परन्तु योजना आयोग की यह बहुत बड़ी भूल रही कि उसने प्रथम योजना के कृषि उत्पादन पर अत्यधिक संतोष प्रकट किया ।

द्वितीय योजना मे कृषि व सामुदायिक विकास पर ५६८ करोड़ रुपये अर्थात कुल का ११·८% खर्च करने की था, जब कि पहली योजना मे ये आंकडे केवल ३५४ करोड़ रुपये अर्थात १४·९% थे । द्वितीय योजना की अवधि मे खाद्यानो का उत्पादन ६५·८ मिलियन टन से बढ़कर ७६·० मिलियन टन हो गया । वास्तविक सिंचित एकड ५६·२ मिलियन से बढ़कर ७० मिलियन हो गया । दूसरी योजना की अवधि मे नाइट्रोजन खाद का उपयोग बढा । सरकारी समितियो द्वारा किसानो को दिये जाने वाले ऋणो मे अत्यधिक वृद्धि हुई ।

संक्षेप मे १९५१ से १९६१ तक के दस वर्षों मे कृषि के क्षेत्र मे विकास की रफ्तार प्रति वर्ष लगभग ३·५% प्रतिशत मानी जा सकती है । इस अवधि मे प्रति एकड़ उपज मे भी वृद्धि हुई । १९५०-५१ में चावल की प्रति एकड़ उपज ६१४ पौंड थी जो दूसरी योजना की अवधि मे बढ़कर ८०७ पौंड हो गई । यान्त्रिक खेती (Mechanised farming) का विस्तार ५ लाख एकड भूमि में हुआ और भूमि पर सुधार १५ लाख एकड़ में हुआ । ४००० बीज के फार्म स्थापित किये गये ।

नाइट्रोजन खाद का उपयोग ५५ हजार टन से बढ़कर २३० हजार टन हो गया। २७ मिलियन एकड़ पर भूमि संरक्षण के कार्यक्रम लागू हो चुके थे। १९६१ तक सामुदायिक विकास कार्यक्रम लगभग ३ लाख ७० हजार गावों में पहुंच गया। १० वर्षों में प्राथमिक कृषि समितियों की संख्या दुगुनी हो गई।

(३) तृतीय योजना एवं कृषि विकास (Agricultural Development in Third Plan)

योजना आयोग (Planning Commission) कृषि के विकास के महत्व को अच्छी तरह से समझ गया था, क्योंकि खाद्य समस्या का खतरा डेमोक्लीज की तलवार (Sword of Damocleas) के समान लटकता हुआ स्पष्ट दिखाई दे रहा था। अतः इस विशाल राक्षस का दमन करने के लिये योजना आयोग ने तृतीय योजना में कृषि के विकास को प्राथमिकता दी। इस योजना में कृषि उत्पादन की वृद्धि को दर पहले से दुगुनी करने का लक्ष्य रखा गया है। खाद्यानों का उत्पादन ३०% बढ़ाया जायगा, जबकि अन्य फसलों का ३१% बढ़ाया जायगा। सिचाई का क्षेत्र ७० मिलियन एकड़ से बढ़कर ९० मिलियन एकड़ हो जायगा, नाइट्रोजन खाद को ५ गुना और फास्फेटिक खाद का उपभोग ६ गुना बढ़ेगा। सामुदायिक विकास कार्यक्रम १९६३ तक तमाम ग्रामीण क्षेत्रों में फैल जायगा। सरकार ने लोकतन्त्र की विकेन्द्रीकरण (Democratic Decentralisation) की योजना चालू कर दी है।

खाद्यानों की उपलब्धि १९६०–६१ में प्रतिदिन प्रति व्यक्ति १६ औंस से बढ़कर १९६५–६६ में १७.५ औंस हो जाने का अनुमान है। चावल का प्रति एकड़ उत्पादन ८०७ पौंड से बढ़कर १०१० पौंड होने का अनुमान है। सेवा समितियां, सहकारी साख, गोदाम, बिक्री, सहकारी खेती आदि का विकास किया जायगा।

उपसंहार (Conclusion):—

१८९० से अब तक कृषि के विकास का इतिहास एक रोमांचकारी कहानी है। इस समय में कई उथल-पुथल आये। एक मुख्य बात यह रही है कि कृषि का विकास अनियमित रूप से हुआ। भारत स्वतन्त्र होने से पूर्व तक विदेशी सरकार का रुख कृषि के उत्थान की तरफ अधिक नहीं था। उस समय उनका एक मुख्य उद्देश्य यही रहा, कि कच्चे माल का बाहर निर्यात करके यहां पर तैयार माल मंगवाना। परन्तु भारत स्वतन्त्र होते ही सरकार ने सबसे पहला कदम कृषि की उन्नति की तरफ बढ़ाया।

सरकार के रुख बदलने के स्वरूप कई महत्वपूर्ण परिवर्तन हुये। पंच वर्षीय योजनायें, सामुदायिक विकास योजनायें, सहकारी खेती, सहकारी संस्थाओं की स्थापना,

भूमि-सुधार, जमींदारी प्रथा का अन्त आदि योजनाऐं लागू की गई। गहरी खेती व विस्तृत खेती पर विशेष जोर दिया गया। नये २ रसायनिक खाद तैयार किये जाने लगे। कृषि उत्पादन बढ़ाने के लिये प्रतियोगितायें होने लगी। अधिक उत्पन्न करने वालों को पारितोषिक प्रदान किये जाने लगे। कृषि पंडित की उपाधी दी जाने लगी। सबसे अधिक प्रतिशत पैदा करने वाले राज्य को "राष्ट्र-क्लश" नाम की चादी की ट्राफी दी जाती है तथा सब से अधिक प्रतिशत करने वाले जिले को "राज्य क्लश" नामक ५०००० रुपये की इनाम दी जाती है। १९६२ की जनवरी के अखिल भारतीय कांग्रेस अधिवेशन में भी कृषि उत्पादन पर अधिक जोर दिया गया।

सारांश (Summary)

भारत कृषि प्रधान प्रदेश है जहां कृषि केवल व्यवसाय ही नहीं किन्तु राष्ट्र की अर्थ व्यवस्था का प्राण है। आज भी देश के ८०% प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष तरीके से इस उद्योग पर प्रवलम्बित हैं। किन्तु दुःख इस बात का है कि प्रमुख उद्योग होते हुये भी इसका सुन्दर, एवं सुव्यवस्थित विकास नहीं हो पाया है। भारतीय कृषि का इतिहास एक करुण कहानी मात्र है। भारतीय कृषि के विकास को Dr. Gadgil ने चार भागों में बांटा है। प्रथम काल १८६०-१८८०, द्वितीय काल १८८०-१८९५, तृतीय काल १८९५ से १९१४, और चतुर्थ काल १९१४ से आगे।

प्रथम काल—इस काल में यातायात की सुविधाओं का नितान्त अभाव था। कृषि उत्पादन स्थिर अवस्था में था और ग्राम्य जीवन स्वालम्बीय एवं आत्म निर्भर था। बाजारों का अभाव था तथा समय समय पर दुर्भिक्ष के प्रकोप होते थे। १८६२ से कृषि ने नया मोड़ लिया, क्योंकि अमेरिकन गृहयुद्ध ने १८६४ में कृषि का व्यवसायी करण कर दिया। १८६६ में स्वेज नहर का निर्माण हुआ और भारत यूरोपीय देशों के निकट आ गया। देश में कृषि कुछ समुन्नत हुई। दूसरा महत्व पूर्ण मोड़ कृषि में विशिष्टी करण का प्रारम्भ था। इसके साथ ही साथ कृषि में व्यापारी करण शुरू हुआ और देश के यातायात के साधनों का भी विकास हुआ। भारत इस समय कृषि वस्तुओं का प्रमुख निर्यातक बन गया। इसी समय कृषि-मजदूर जैसे एक नये वर्ग का जन्म होता दिखाई दिया। कुटीर व्यवसाय का ह्रास हुआ और भूमि पर दबाव बढ़ा। फलस्वरूप खेतों का उपखण्डन हुआ एवं ऋण ग्रस्तता बढ़ी। कृषकों की स्वालम्बन जैसी प्रवृति समाप्त होने लगी और विनिमय मौद्रिक हुआ। यातायात के साधनों ने दुर्भिक्ष के प्रकोप को कम कर दिया।

द्वितीय काल—इस समय में कच्चे माल के निर्यात में आशातीत वृद्धि हुई और एक तुलनात्मक प्रगति शीलता को जन्म मिला। कृषि वस्तुओं की विश्वव्यापी मांग ने कृषि उत्पादन को प्रोत्साहन प्रदान किया। जिसका अवश्यम्भावी परिणाम कृषियोग्य

भूमि-क्षेत्र में वृद्धि हुई। साथ ही साथ फसलों का अधिक स्थायी करण हुआ और कृषि के विकास मे एक नया जीवन आया। इसी समय सरकार को अपनी कृषि नीति का निर्धारण करना पड़ा। कलकत्ते में Agriculture Horticultural Institute की स्थापना हुई, चाय के बागानो की संस्थापना हुई और कृषि उद्योग पर रिपोर्ट माँगी गई। डा० वाल्कर ने कृषि पर अपनी रिपोर्ट दी। कृषकों को तकावी ऋण देने की प्रथा का सूत्रपात हुआ। १८८३, १८८४ में भूमि सुधार अधिनियम और कृषक ऋण अधिनियम बनाये गये

तृतीय काल – इस काल मे ऐसा लगा कि कृषि का अब तक का विकास अनियमित ही हुआ। १८९५ से लगाकर १९०० तक भारत मे दुर्भिक्ष पड़े। औद्योगिक फसलों की जगह खाद्य-फसलों के उत्पादन पर अधिक जोर दिया गया। १९०९ से लगाकर १९१४ का समय कुछ ठीक समय रहा। इस अवधि मे खाद्य फसलों मे सुधार हुआ, तथा औद्योगिक फसलो मे भी वृद्धि हुई। अच्छी किस्म की रुई का उत्पादन बढ़ा। जूट ने पर्याप्त रूप से उन्नति की। साथ ही साथ पशुओं के लिये चरागाह भूमि का भी क्षेत्रफल बढ़ाया गया। लार्ड कर्जन के प्रयत्नो के फलस्वरूप एक Agriculture के लिये Inspector General की नियुक्ति की गई। इसी समय कृषको की स्थिति को सुधारने के लिये सहकारिता का बीजारोपण किया गया और विभिन्न प्रकार की सहकारी समितियों का जन्म हुआ।

चतुर्थ काल – चतुर्थ काल में युद्ध प्रारम्भ एवं समाप्ति हुई। युद्ध एवं १९१८ के दुर्भिक्ष के कारण अनाज की कमी बढ़ी। १९१७ मे मूल्य स्तर गिरे और १९२९ में विश्वव्यापी मंदी काल (World Economic Depression) आया, जिसने कृषि उद्योग की कमर तोड़ दी। १९३२ के बाद भारतीय कृषि की दशा मे सुधार हुआ और १९३९ मे द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ होते ही वस्तुओं के मूल्य ऊँचे उठे और कृषकों का भाग्य पलटा, १९४३-४४ मे बंगाल मे भीषण अकाल पड़ा और एक नई समस्या–खाद्य समस्या का जन्म हुआ। 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन प्रारम्भ किया गया और अच्छे बीजों की व्यवस्था, सिंचाई के साधनो का विकास, बेकार भूमि का काम मे लेना, खाद की व्यवस्था पर जोर दिया गया। १५ अगस्त १९४७ को देश का बटवारा (Division) हुआ और एक बार फिर कृषि पर संकट आया। पंजाब तथा बंगाल के क्षेत्रों के बटवारे के कारण गेहूं, व जूट तथा चावल के क्षेत्र बुरी तरह से प्रभावित हुये।

पंचवर्षीय योजनाएं एवं कृषि: – पहली पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत कृषि को प्राथमिकता दी गई। सामुदायिक विकास योजनाओं राष्ट्रीय विस्तार सेवाओं के द्वारा कृषि एवं ग्रामीण क्षेत्र मे एक परिवर्तन लाया गया ताकि ग्रामों का सर्वतो मुखी विकास हो सके। पहली योजना अवधि मे कृषि की प्रगति सराहनीय रही

भौर कृषि पैदावार १८% बढी। खाद्यान्नों का उत्पादन १९५०-५१ मे ५४ मिलियन टन से बढ़कर १९५५-५६ मे ६५ मिलियन टन हो गया। रुई, जूट, तिलहन, के उत्पादन मे बहुत वृद्धि हुई। इस भवधि मे ५१-५ मिलियन एकड भूमि की सिंचाई हुई। भौर इस योजना काल में सिंचाई, शक्ति पर ५६६ करोड रुपये खर्च हुये। भूमि सुधार, सहकारी कृषि, की भी प्रगति भच्छी रही।

द्वितीय योजना — की भवधि मे सरकार ने उद्योगों को प्राथमिकता दी, परिणाम यह हुआ कि कृषि उत्पादन मे उल्लेखनीय वृद्धि नही हो सकी। इस भवधि मे ५६८ करोडे रुपये भर्थात् कुल राशि का ११'८ कृषि पर खर्च हुये। खाद्यानो का उत्पादन ६५.८ मिलियन टन से बढ़कर ७६'० मिलियन टन हो गया। रसायनिक खादो का प्रयोग बढा भौर सहकारिता कृषि-क्षेत्र मे रम गई।

तीसरी योजना — योजना कमीशन के सम्मुख पिछले दस वर्षों का कटु भनुभव रक्खा हुआ था, भतः इस योजना मे एक बार फिर से कृषि के विकास को प्राथमिकता दी गई है। कृषि उत्पादन का लक्ष्य पहले से दूना रक्खा गया। कृषि उत्पादन के लिये सचित भूमि का क्षेत्रफल ७० मिलियन एकड से बढ़ाकर ९० मिलियन एकड़ रक्खा गया है। खाद्यान्नो की उपलब्धि का लक्ष्य १७'५ भौंस प्रति व्यक्ति के हिसाब से रक्खी गई है। साथ ही साथ प्रशिक्षण, सहकारिता, गोदाम, विक्रय समितियो भादि के विकास को भी समुचित स्थान दिया गया है।

प्रश्न

१. भारतीय कृषि के क्रमिक विकास का उल्लेख कीजिये।
२ भारतीय कृषि के महत्व पर प्रकाश डालते हुये योजनाओं के भन्तर्गत कृषि कार्यक्रमो का वर्णन कीजिये।
३ तीसरे कृषिकाल को कृषि समृद्धि का भच्छा युग क्यो कहा गया है?



अध्याय ३

भारतीय कृषि की कुछ विशिष्ट समस्यायें
(SOME IMPORTANT PROBLEMS OF INDIAN AGRICULTURE)

"भारत में पिछड़े वर्ग हैं और पिछड़े उद्योग भी; दुर्भाग्य से कृषि भी इनमें से एक है।" —डा० बलाखसदन

भूमिका:—पिछले कुछ वर्षों से अन्य उद्योग-धन्धों के विकास के कारण कृषि पर जनसंख्या का भार (Pressure of Population) अवश्य हो गया है, परन्तु फिर भी अधिकांश व्यक्ति अपनी जीविका के लिये कृषि पर ही मुख्यतः निर्भर है। अतः आज भी हमारी आर्थिक अवस्था का स्थायित्व कृषि पर ही निर्भर करता है। कृषि की उन्नति और विकास से ही हमारे देश का उत्थान हो सकता है, किन्तु दुःख है कि भारतीय कृषि अत्यन्त पिछड़ी हुई एवं हीन अवस्था में आज भी है।

(१) कृषि का पिछड़ापन (Backwardness of Agriculture)

"भारत एक सम्पन्न देश है जिसमे निर्धनता वास करती है" (India is a rich Country inhabited by poor people)। भारत की भूमि उपजाऊ है, और जलवायु खेती के लिये अनुकूल है, फिर भी भारतीय कृषि-उद्योग की दशा अच्छी नहीं है। कृषि की तमाम मुख्य फसलों का उत्पादन अन्य देशों की अपेक्षा बहुत कम है जैसा कि निम्नलिखित आंकड़ों से स्पष्ट है :—

उपज (पौण्ड (Lbs.) में)

	गेहूं	चावल	गन्ना	मकई	कपास	तम्बाकू
अमेरिका	८१२	२१८५	४७५३४	१५७६	२६६	८८२
जर्मनी	२०१७	—	७०३०२	२८२८	—	२१२७
इटली	१३८३	४५६८	—	२०५६	१७१	११४६
मिश्र	१६१८	२६६८	—	१८६१	५२५	—
जावा	—	—	४३२७०	—	—	—
जापान	१७१३	३४४४	—	१३२६	१५६	१६६५
चीन	९८६	२४३३	११६७०	१२८४	२०४	१२८८
भारत	६६०	२२४०	१४५८८	८०३	८६	९०७

भारतीय कृषि की अच्छी स्थिति न होने का कारण कृषक की मूर्खता न होकर वे कठिनाइयाँ हैं जिनके कारण भारतीय कृषि-उद्योग अविकसित रहा है तथा प्रति एकड़ उपज कम रही है। भारतीय कृषि बहुत पिछड़ी हुई है जिसके मुख्य कारण निम्नलिखित हैं—

(१) कृषि भूमि की अपेक्षा जन संख्या अत्यधिक होना:—फलतः भूमि पर अधिक भार (Pressure) पड़ता है क्योंकि भूमि को लगातार, बिना विश्राम दिये, खाद्यान्न प्राप्त करने के लिये जोतना पड़ता है। खाद (Manure) भी भूमि को पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलती है, परिणामस्वरूप प्रति एकड़ उपज भी कम होती है।

कृषि की पिछड़ी दशा के कारण

(१) अधिक जनसंख्या
(२) छोटे २ खेत
(३) वर्षा की अनिश्चितता
(४) गहरी खेती नहीं
(५) निर्बल पशु
(६) निकृष्ट बीज
(७) पुराने तरीके
(८) पूंजी का अभाव
(९) सहायक धन्धों का अभाव
(१०) बिक्री की अव्यवस्था
(११) प्राकृतिक कारण

(२) अधिकांश भारतीय जनता खेती पर ही निर्भर है, क्योंकि यहाँ अधिकांश उद्योग-धन्धों की उन्नति नहीं हो पाई है। गलत उत्तराधिकार के नियम (Laws of Inheritance) के परिणामस्वरूप प्रत्येक किसान की भूमि बँटते-बँटते बहुत कम रह गई है। जोत (Holding) छोटी होने के साथ २ बिखरती भी गई है। इसलिए ऐसी भूमि को जोतने से लाभ नहीं होता है, और उत्पत्ति कम होती जाती है। भारत में औसत खेत ४ एकड़ का है, जबकि संयुक्त राज्य अमेरिका (U. S. A) में १४५ एकड़, डेनमार्क में ४० एकड़, इंगलैंड में ६२ एकड़ और जर्मनी में २१ एकड़ है।

"जनसंख्या में वृद्धि, किन्तु उद्योग-धन्धों में उसी अनुपात में वृद्धि न होना, संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली (*Joint Family System*) का अन्त और मनुष्यों में व्यक्तिक (Individualism) विचारों की प्रधानता का होना तथा पिता की मृत्यु के बाद जमीन का उसके वारिसों (Heirs) में विभाजन आदि सभी इस स्थिति के लिए जिम्मेवार हैं।"

छोटे २ खेतों में मशीनें काम में नहीं लाई जा सकतीं। खेतों के दूर दूर होने के कारण किसान को एक खेत से दूसरे खेत तक जाने के लिये समय नष्ट करना पड़ता है। खेतों पर अधिक खर्च के कारण कुएं आदि भी नहीं बनाये जा सकते। इन्हीं कारणों से किसान अपने खेतों से अच्छी फसल के रूप में पूरा फायदा नहीं उठा सकते। अतः खेतों की फसल कम हो जाती है।

(३) भारतीय कृषि का वर्षा पर निर्भर होना:—कृत्रिम सिंचाई के साधनों की कमी के कारण कृषि अधिकतर वर्षा पर निर्भर करती है। अतिवृष्टि व अनावृष्टि से फसलों को क्षति पहुँचने का भय रहता है। जिस वर्ष मानसून ठीक समय पर नहीं आते, उस वर्ष कृषि का धन्धा बिल्कुल रुक जाता है और कभी २ तो अकाल पड़ जाता है। वर्षा की दृष्टि से प्रति पाँच वर्ष में एक अच्छा, एक बुरा और तीन बिल्कुल अनिश्चित होते हैं। अतः भारतीय कृषि को वर्षा का जुआ कहते हैं। (Indian agriculture is a gamble in rains)

(४) कृषक का साधारणतः विस्तृत खेती (Extensive Cultivation) करना:—गहरी कृषि (Intensive) तो नहीं के समान है। फलतः प्रति एकड़ उपज बहुत कम होती है। भारत एक घना आबाद देश है, इसमें विस्तृत खेती लाभकारी सिद्ध नहीं हो सकती है। गहरी कृषि को अपनाकर कृषि का पिछड़ापन कुछ सीमा तक दूर किया जा सकता है।

(५) पशुओं की शोचनीय दशा.—यद्यपि भारतीय कृषि में पशुधन का बहुत महत्व है किन्तु हमारे यहाँ पशुओं की दशा अच्छी नहीं है। भारतीय पशुधन बहुत निर्बल और घटिया नस्ल का है। पशुओं की खराब दशा का मुख्य कारण चारागाहों (Pastures) की लापरवाही व किसानों की निर्धनता एवं अशिक्षा है। इस कारण पशु खेती के कार्यों (Cultivation) के लिये पूर्ण रूप से लाभदायक सिद्ध नहीं होते।

(६) हल्की किस्म के बीजों (Seeds) का प्रयोग:—भारतीय कृषक घटिया प्रकार के बीजों का खेती में प्रयोग करता है, फलतः उपज कम होती है। वह गांव के बनिये या महाजन से बीज लेता है, जो अच्छा नहीं होता यद्यपि अच्छी उपज के लिए अच्छा और स्वस्थ बीज आवश्यक है। परन्तु भारत के कुछ ही राज्यों में प्रगतिशील बीजों का प्रयोग १५% से अधिक नहीं है।

तृतीय योजना के अन्तर्गत १४८० लाख एकड़ खाद्यान्न के अतिरिक्त क्षेत्र में उन्नत बीजों का प्रयोग किया जायेगा।

(७) पुराने अवैज्ञानिक ढंग से कृषि:—किसान परम्परागत ढंग (Traditional Method) से खेती करता है, कृषि में मशीनों का प्रयोग कम होता है। नये तरीकों को वह निर्धनता, अज्ञानता के कारण ग्रहण नहीं करता। नये यन्त्रों के प्रयोग से कार्य-कुशलता बढ़ सकती है।

(८) पूंजी (Capital) का अभाव:—भारतीय कृषक के पास पूंजी का भी अभाव है। पूंजी के अभाव के कारण खाद पर्याप्त मात्रा में नहीं डाल सकता है और न ही विभिन्न प्रकार के सुधार कर पाता है। ऋण (Loan) के लिये कृषक को

साहूकार या महाजन (Money lender) पर निर्भर रहना पड़ता है साहूकार अधिक ब्याज लेते हैं और ऋण के साथ कड़ी शर्तें जोड़ देते हैं। किसान ऋण (Debt) के बोझ से दबे रहते हैं महाजन उनका पूर्ण रूप से शोषण करते हैं। सन् १९२६ के शाही कृषि कमीशन के शब्दों में "भारतीय किसान ऋण में जन्म लेता है ऋण में जीवन बिताता है और ऋण में ही मरता है तथा ऋण को भावी पीढ़ियों के लिये छोड़ जाता है यह ऋण पीढ़ी दर पीढ़ी बढ़ता ही रहता है।" गरीबी और ऋण ग्रस्तता (Indebtedness) के कारण किसान अपने खेतों की भली-भाँति देखभाल नहीं कर सकता।

(९) *सहायक और गौण धन्धों (Subsidiary Occupations) का अभाव:—* कृषक को अपने बेकार समय में कोई काम नहीं मिलता। कृषक वर्ग के अधिकांश भाग में बेकार रहना है। इसका कृषक की कुशलता पर बुरा प्रभाव पड़ता है। डा० राधाकमल मुकर्जी के अनुसार "उत्तरी भारत में केवल २०० दिन के लिए खेतों में काम मिलता है।" रॉयल कृषि कमीशन (१९३८) के अनुसार किसानों को साल भर में ४ महीने तक कोई काम नहीं रहता। वे इस समय को व्यर्थ ही शादियों, झगड़ों और आलस में गँवा देते हैं, अतः भूमि पर और भी अधिक भार बढ़ जाता है।

(१०) कृषि उपज की दोषपूर्ण बिक्री व्यवस्था—खेती की उत्पत्ति की बिक्री (Marketing) के लिए उचित प्रबन्ध नहीं है फलस्वरूप खेती की वस्तुओं के लिये जो कीमत उपभोक्ता (Consumer) देते हैं और जो कीमत कृषक को मिलती है उसमें अत्यधिक अन्तर रहता है। किसान को इस बात का ज्ञान नहीं होता कि अच्छे ढंग से और सुचारुरूप से विशेष लाभ के लिए किस प्रकार उत्पादन किया जाए और न वे *अपनी दरिद्रता के कारण खेती सम्बन्धी वैज्ञानिक तरीकों, सूचनाओं तथा वस्तुओं के* भाव-भाव सम्बन्धी बातों से ही परिचित होते हैं। फलतः किसान के अज्ञान का लाभ व्यापारी उठाते हैं।

सुझाव (Remedies)

अत: देश की औद्योगिक प्रगति के लिये यह आवश्यक है कि खेती की उपज को बढ़ाया जाए तथा कृषि के पिछड़ेपन के कारणों को दूर किया जाए। इस परिस्थिति का सामना तीन प्रकार से किया जा सकता है—

(१) कृषि के अन्तर्गत भूमि का क्षेत्रफल बढ़ाकर।

(२) भूमि का प्रति इकाई उत्पादन बढ़ाकर।

(३) वर्तमान कृषि योग्य भूमि को अनुत्पादक होने से बचा कर।

कृषि के अन्तर्गत भूमि में वृद्धि करने का अर्थ यह होगा कि बेकार और कृषि-योग्य भूमि पर कृषि की जाए। इस प्रकार की भूमि पर खेती करने से पहिले यह मालूम

करना होगा कि वह किन कारणों से बेकार थी। बेकार भूमि का पूरा विवरण उन व्यक्तियों को दिया जाना आवश्यक है, जो उस पर खेती कर सकें या वहां जल्दी उगने वाले वृक्षों को लगा कर बढ़ती हुई ईंधन की समस्या को हल कर सकें। केन्द्रीय सरकार की ट्रैक्टर व्यवस्था कमेटी ने इस सम्बन्ध में काफी सराहनीय कार्य किया है।

भारत में गहन खेती को लिये काफी गुंजाइश है। जनसंख्या अधिक होने के कारण गहन खेती के अपनाया जाना आवश्यक है। भारत में प्रति व्यक्ति के हिसाब से एक एकड़ का केवल ⅔ भाग ही जोता जाता है परन्तु जापान में ⅙ भाग जोता जाता है। ऐसा होने हुए भी जापान की उत्पादन शक्ति हमारे देश के मुकाबले में अधिक है। भारत में प्रति एकड़ चावल की उपज ८५० पौंड ही होती है जबकि जापान में यह २१५० पौंड है। इसका एक मुख्य कारण जापान में गहरी खेती का अपनाया जाना है।

भारत में सभी प्रान्तों में सिंचाई के पर्याप्त साधन नहीं हैं अतः जिन जिन भागों में वर्षा कम होती है वहां सिंचाई के साधन प्रचुर मात्रा में विकसित किए जायें। वर्षा की कमी सूखी खेती की प्रणाली (*Dry Farming*) को अपनाकर भी दूर कर सकते हैं। इस प्रणाली से सूखे वर्षों में भी कुछ उत्पत्ति की जा सकती है।

<u>इस प्रकार प्रति एकड़ उपज को निम्नलिखित तरीकों से बढ़ाया जा सकता है:—</u>

(१) फसलों को अच्छी तरह से हेरफेर करना (Rotation of Crops) तथा वर्ष में दो फसलें बोना।

(२) सुधरे हुए बीज बोकर तथा बीजों की खेती, बीज से उगाए जाने वाले वृक्षों तथा पौधे उगाने पर अधिक ध्यान देकर।

(३) अच्छे तथा रासायनिक खादों (Chemical fertilizers) का उपयोग करके।

(४) जहां पहिले सिंचाई की सुविधा नहीं थी वहां सिंचाई द्वारा खेती करके, और

(५) रोग, महामारियों तथा जंगली पशुओं को दूर करके।

कृषि कार्यक्रम के लिए तीसरी योजना में कुल १२८१ करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई है, जबकि दूसरी योजना में ६६७ करोड़ रुपये निर्धारित किये गए थे:—

	(करोड़ रु०)	
	दूसरी योजना	तीसरी योजना
कृषि उत्पादन	९८·१०	२२६·०७
छोटी सिंचाई	९४·९४	१७६·७६
भूमि संरक्षण	१७·६१	७२·७३
सहकारिता	३३·८३	८०·१०
सामुदायिक विकास (कृषि कार्यक्रम)	५०·००	१२६·००
बड़ी और मध्यम सिंचाई	३७२·१७	५९९·३४
	कुल योग ६६६ ९५	१२८१·००

इसके अतिरिक्त सहकारी एजेन्सियों से ५३० करोड़ रुपये के अल्पकालीन और मध्यकालीन ऋण तथा १५० करोड़ रुपये के (बकाया रकम) दीर्घकालीन ऋणों की आशा है।

तृतीय योजना में कृषि के लिए विभिन्न विकास-कार्यक्रमों के अधीन निम्न मुख्य लक्ष्य है :—

कार्यक्रम	एकड़	लक्ष्य
(१) सिंचाई	लाख एकड़	३८४
(२) भूमि संरक्षण, भूमि सुधार आदि	,, ,,	३६८
(३) उन्नत बीजों-खाद्यान्न का अतिरिक्त क्षेत्र	,, ,,	१४८०
(४) रसायनिक उर्वरकों की खपत	हजार टन	१६००
(५) कार्बनिक और हरी खाद	लाख टन	१५५०
(६) वनस्पति संरक्षण	लाख एकड़	५००

यह अनुमान है कि इस समय लगभग २० करोड़ एकड़ क्षेत्र भू-रक्षण (Soil Erosion) से प्रसित है। भूमि संरक्षण और भूमि में नमी को बनाये रखने की व्यापक योजना बनाने और उससे लाभ उठाने के लिये प्रभावशाली कदम उठाने की जरूरत है। प्रथम योजना में ७ लाख एकड़ खेती की जमीन में मेंड बनाने और उत्थान का काम शुरू किया गया। भूमि और जल-संरक्षण की समस्याओं के अध्ययन के लिए ८ प्रादेशिक अनुसन्धान एवं प्रदर्शन केन्द्र स्थापित किए गए। दूसरी योजना में मेड़बन्दी और भूमि उत्तलन के कार्य में अच्छी प्रगति हुई और २० लाख एकड़ का लक्ष्य पूरा हो गया। भूमि संरक्षण और भूमि के उपयोग के सम्बन्ध में एक अखिल भारतीय एकीकृत सर्वेक्षण शुरू किया गया। लगभग १ करोड़ २० लाख एकड़ भूमि का सर्वेक्षण किया जा चुका है। तृतीय योजना में १ करोड़ ५० लाख एकड़ से भी अधिक क्षेत्र के सर्वेक्षण का प्रस्ताव है।

सिंचाई के प्रसाधनों का प्रबन्ध।—

भूमि, बीज और खाद भले ही सभी अच्छे हों, औजार और पशु भी अच्छे हों किन्तु उचित परिमाण में नियमित रूप से पानी मिले बिना खेती अनिश्चित होती है जहाँ कहीं भी वर्षा समय पर तथा पर्याप्त नहीं होती, वहाँ कृषि कार्यों से लिए सिंचाई अनिवार्य है। कृषि के लिये पानी उतना ही अनिवार्य है जितना उद्योग के लिये शक्ति। भारत में जलवृष्टि बहुत अनिश्चित है। कभी वर्षा अधिक हो जाती है और कभी बहुत कम होती है। अनेक बार वर्षा बहुत कुसमय पर होती है। इसका कृषि पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। इसलिये यदि हम कृषि की उपज को बढ़ाना चाहते

हैं और कृषि को अधिक निश्चित और सफल बनाना है तो हमें सिंचाई (Irrigation) के उचित साधन कृषकों को उपलब्ध कराने चाहिए। गहरी खेती और दो फसल के लिए भी सिंचाई की आवश्यकता है। रबी की उपज तो बिना सिंचाई के हो ही नहीं सकती।

भारत में सिंचाई के मुख्य साधन ये हैं:—

(१) कुएं (Wells), (२) तालाब, (Tanks) और (३) नहरें (Canals)



ये साधन देश के विभिन्न भागों में भिन्न २ प्राकृतिक दशाओं में काम में लाए जाते हैं जैसे उत्तरी भारत में विशेषकर नहरों और कुओं से तथा दक्षिण के पठारों में तालाबों से सिंचाई की जाती है।

(१) कुएं (Wells):—कुल सिंचित भूमि का ३० प्रतिशत भाग कुओं से सींचा जाता है। उत्तर-प्रदेश के पूर्वी भाग, बम्बई और मद्रास राज्य के दक्षिणी जिलों तथा बिहार, बंगाल की काली मिट्टी वाले खेतों में सिंचाई का मुख्य साधन कुएं ही हैं। गरीब किसानों के लिए कुएं ही सिंचाई के उपयुक्त साधन होते हैं क्योंकि उनके खेत छोटे २ और बिखरे हुए होते हैं, कुएं आसानी से खोदे जा सकते हैं और कुओं की सिंचाई से उपज नहरों की सिंचाई की अपेक्षा अधिक होती है।

> **सिंचाई के साधन**
>
> १. कुएं
> २. तालाब
> ३. नहरें
>   (a) बरसाती
>   (b) स्थायी
>   (c) गोदामी

कुएं दो प्रकार के होते हैं—साधारण खुले कुएं और बिजली से चलने वाले नल कूप (Tube-wells)। साधारण कुएं कच्चे व पक्के हो सकते हैं। नल-कूप की योजना चालू करने का सबसे

पहिला प्रयास श्री विलियम स्टैम्प ने किया था। नल-कूपों द्वारा सबसे अधिक सिंचित क्षेत्र उत्तर प्रदेश में पाया जाता है जहां पर २,३०० नलकूप हैं। बिहार, पंजाब व राजस्थान में भी नल-कूपों से सिंचाई की जाती है। सिंचाई के छोटे साधनों में नल-कूपों का स्थान सर्वोच्च है।

(२) तालाब (Tanks):—तालाब भी एक महत्वपूर्ण सिंचाई का साधन है। देश के उन भागों में जहां भूमि अधिक सख्त होती है, जिसके परिणामस्वरूप कुएं बनाना सम्भव नहीं होता या नदियों में साल भर पानी न होने के कारण नहरों से सिंचाई करना सम्भव नहीं होता वहां तालाबों द्वारा सिंचाई करना सुविधाजनक रहता है।

सिंचित भूमि का लगभग १९% भाग तालाबों द्वारा सींचा जाता है। तालाब अधिकतर मद्रास में ही पाए जाते हैं। तालाबों की सिंचाई में कठिनाई यह है कि इनमें वर्षा का पानी एकत्र होता है इसलिए जिस साल वर्षा कम होती है उसी साल इनमें पानी कम आता है। इनमें मिट्टी भी जम जाती है।

(३) नहरें (Canals):—संसार में सबसे अधिक नहरें भारत में पाई जाती हैं जिनकी लम्बाई ७५,००० मील से अधिक है। कुल सींची हुई भूमि का ४१ प्रतिशत क्षेत्र नहरों से सींचा जाता है।

नहरें तीन प्रकार की होती हैं:—(१) बरसाती नहरें (Inundation Canals) ऐसी नहरों में पानी केवल उस समय ही मिलता है जब नदियों में बाढ़ आती है। आजकल इन नहरों का प्रचार नहीं है।

(२) स्थायी नहरें (Perennial Canals)—स्थायी नहरें नदी के आरपार एक प्रकार का बांध डालकर बनाई जाती हैं जो वर्ष भर बहती रहती हैं। ऐसी नहरें पंजाब, उत्तर प्रदेश और मद्रास में पाई जाती हैं।

(३) गोदामी नहरें (Storage Canals)—गोदामी नहरें, किसी घाटी के आरपार एक बांध बनाकर मानसून का पानी एकत्रित करके, बनाई जाती हैं। बांधों में इस प्रकार पानी एकत्रित करके नहरों द्वारा भूमि की सिंचाई के लिये दिया जाता है। ऐसी नहरें दक्षिण, मध्य प्रदेश और बुन्देलखण्ड में पाई जाती हैं।

विभाजन के पश्चात् भारत सरकार ने सिंचाई के साधन बढ़ाने पर ध्यान शुरू किया। विभाजन के बाद भारत के हिस्से में ४६० लाख एकड़ सिंचित भूमि थी जो प्रथम योजना के शुरू में ५१५ लाख एकड़ हो गई। प्रथम और द्वितीय योजना के अन्त तक सिंचाई में हुई प्रगति और तृतीय योजना के लक्ष्य इस प्रकार हैं:—

वास्तविक क्षेत्र (लाख एकड़ में)

	१९५०-५१	१९५५-५६	१९६०-६१	१९६५-६६
बड़ी और मध्यम सिंचाई	२२०	२४६	३१०	४२५
छोटी सिंचाई	२९५	३१३	३९०	४७५
जोड़	५१५	५६२	७००	९००

पहली और दूसरी योजनाओं में शामिल की गई बड़ी और मध्यम सिंचाई-योजनाओं की समस्त अनुमानित लागत १४०० करोड़ रु० है और इन योजनाओं के पूर्णतः विकसित होने पर लगभग ३८० लाख एकड़ भूमि की सिंचाई होने की आशा है। दूसरी योजना के अन्त तक सिंचाई पर लगभग ८०० करोड़ रु० खर्च किए जा चुके थे। इसमें बाढ़-नियन्त्रण का काम भी शामिल था।

तीसरी योजना में निम्नलिखित कार्यक्रमों पर जोर दिया गया है:—

(१) दूसरी योजना से जो काम होते चले आ रहे हैं उनको पूरा करके किसानों के खेतों तक पानी पहुँचाया जाए यानी खेतों तक नालियाँ बनाने का काम पूरा होना चाहिए,

(२) जल-निकासी की और जल-प्लावन (Floods) रोकने की योजनाएँ, और

(३) मध्यम सिंचाई-परियोजनाएँ।

भूमि का उपविभाजन एवं अपखण्डन (Sub-division and Fragmentation)—भारत में कृषि की पिछड़ी हुई अवस्था और किसानों की निर्धनता के जो अनेक कारण हैं, उनमें से एक मुख्य कारण भूमि का उपविभाजन और अपखण्डन है। जिस समय पैतृक सम्पत्ति का विभाजन होता है तो भूमि उत्तराधिकारियों में बराबर बराबर बाँट दी जाती है। क्षेत्र विभाजन के फलस्वरूप भूमि छोटे २ टुकड़ों में बँट जाती है। पैतृक भूमि बराबर २ हिस्सों में ही विभाजित नहीं होती बल्कि प्रत्येक खेत इस प्रकार बाँटते हैं जिससे प्रत्येक उत्तराधिकारी (Heir) का भाग प्रत्येक खेत में हो। इसका परिणाम यह हुआ है कि खेती की जोत बहुत छोटी हो गई है और साथ साथ दूर दूर बिखर गई है।

कारण:—भूमि के क्षेत्र विभाजन और अपखण्डन के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं:—

(१) जन-संख्या की वृद्धि—१६४१-५१ मे जन-संख्या में १३% और १६५१-६१ मे २१% वृद्धि हुई है। प्रत्येक परिवार में पैतृक सम्पत्ति के उत्तराधिकारियों की संख्या बढ़ती जा रही है, परिणामस्वरूप भूमि टुकड़ों मे बँटती जाती है।

कारण
१. जनसंख्या की वृद्धि
२. उत्तराधिकार के नियम
३. कुटीर उद्योगो की अवनति
४. व्यक्तिवाद का विकास
५. भूमि प्रेम

(२) उत्तराधिकार के नियम (Laws of Inheritance and Succession):—इंगलैंड के उत्तराधिकारी के नियमानुसार भूमि का विभाजन (Division of land) नहीं होता है। ज्येष्ठ पुत्र ही भूमि का उत्तराधिकारी हो सकता है। परन्तु भारत में पिता की मृत्यु के बाद भू-सम्पत्ति उत्तराधिकारियों मे समान रूप से विभाजित की जाती है, फलस्वरूप भूमि के क्षेत्र-विभाजन और अपखण्डन (Sub-division) को प्रोत्साहन मिलता है।

(३) कुटीर उद्योगों की अवनति—मशीन के बने माल की प्रतियोगिता के कारण भूमि पर दबाव बढ गया है। अन्य धन्धों के अभाव में भारतीय अधिकतर खेतीहर ही बनते गए हैं।

(४) व्यक्तिवाद का विकास (Rise of Individualism)—संयुक्त परिवार प्रणाली प्राय: नष्ट हो चुकी है। परिवार के सदस्य पारिवारिक हित से व्यक्तिगत हित को अधिक महत्व देते हैं और पारिवारिक सम्पत्ति का विभाजन करके अपने भाग की सम्पत्ति अलग रखना पसन्द करते हैं।

(५) अचल सम्पत्ति (Immovable property) से प्रेम—भारत मे भूमि को सम्मान का साधन समझा जाता है और मालिक उसे सुगमता से नही बेचता। प्रत्येक व्यक्ति भूमि का स्वामी होना चाहता है और उसे अलाभकारी होने पर भी बेचना पसन्द नही करता।

भूमि विभाजन से लाभ तो अवश्य हैं किन्तु भूमि खण्डों से होने वाली वाली बुराई उससे होने वाले किसी भी लाभ से बड़ी है।

गुण (Merits):—जलवृष्टि मे अनिश्चितता पाई जाती है। जब खेत बिखरे हुए होते हैं तो इस अनिश्चितता से कृषक की रक्षा होती है। फसलो के हेर फेर (Rotation of Crops) में भी आसानी रहती है। भूमि के विभाजन से भू-स्वामियों के वर्ग की स्थापना होती है, यह वर्ग स्वतन्त्रता और स्थिरता का पोषक होता है।

दोष (Demerits) :—किन्तु भूमि के उपविभाजन और अपखडन से सम्पूर्ण कृषि व्यवसाय अलाभकर हो गया है। मुख्य दोष निम्नलिखित हैं।—

(१) खेतों के छोटे होने से उत्पादन व्यय बढ़ता है। बैलों और औजारों को

पूरा काम नही मिलता, किन्तु बैल और औजार रखने के व्यय में कमी नही आती, अत: प्रति एकड़ उत्पादन व्यय अधिक होता है।

(२) प्रत्येक खेत की सीमा स्थिर करनी पड़ती है, जिसके लिये कुछ भू-भाग छोड़ना पड़ता है। इसलिए काफी भूमि का अपव्यय (Waste) होता है।

(३) कृषि में स्थायी सुधार (Permanent Improvements) नहीं किये जा सकते। भूमि के छोटे छोटे टुकड़ो पर मशीनों को प्रयुक्त नहीं किया जा सकता है और न आधुनिक वैज्ञानिक सुधारो का प्रयोग किया जा सकता है।

(४) छोटे छोटे खेतों में अलग अलग कुएं नही बनाए जा सकते हैं, इसलिए इन खेतो मे सिंचाई का उपयुक्त प्रबन्ध नही होता है।

(५) खेतो के बिखरे हुए होने से सीमा, बाड़, मार्ग एवं जल-सम्बन्धी अनेक झगड़े और मुकदमे चलते रहते हैं।

(६) खेतों की उचित देख-भाल व निगरानी भी नहीं हो पाती।

(७) उपज कम होती है, इसलिए कृषक को प्रोत्साहन नहीं मिलता।

भूमि के विभाजन व उपखण्डन को दूर करने के लिए विभिन्न सुझाव दिये गये हैं:—

(१) जोत की चकबन्दी (Consolidation of Holdings)—बिखरे हुए समान मूल्य वाले खेतों को आपस के समझौते द्वारा मिलाकर एक बड़ा खेत बनाने की क्रिया को जोत की चकबन्दी कहते हैं। सर्वप्रथम खेतो की चकबन्दी का प्रयोग पंजाब में किया गया था। करीब २ करोड़ ३० लाख एकड़ जमीन की चकबन्दी १९५९-६० के अन्त तक की जा चुकी थी और करीब १ करोड़ ३० लाख एकड़ जमीन की चकबन्दी का काम हाथ में था। तीसरी योजना में करीब ३ करोड़ एकड़ जमीन की चकबन्दी का काम हाथ में लिया जायगा। चकबन्दी के काम में प्रगति मुख्यतः पंजाब, उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र, गुजरात तथा मध्य प्रदेश में हुई है।

सुझाव
१. जोत की चकबन्दी
२. क्षेत्र-विभाजन का अंत
३. सामूहिक कृषि
४. सहकारी कृषि
५. संयुक्त ग्राम व्यवस्था

(२) क्षेत्र विभाजन का अन्त—देश की बढ़ती हुई जन-संख्या के लिए अन्य उद्योग चालू करने चाहिए। साथ साथ जन-संख्या वृद्धि को भी रोका जाना चाहिए।

हिन्दुओं के उत्तराधिकार के नियमों का संशोधन करके भी क्षेत्र विभाजन को रोका जा सकता है किन्तु भारतीय कृषक अप्रगतिशील विचारों के हैं इसलिए इस सुझाव को व्यावहारिक रूप देना कठिन है।

(३) सामूहिक कृषि (Collective farming)—कुछ व्यक्तियों का कहना है कि भूमि के व्यक्तिगत स्वामित्व को समाप्त कर समस्त भूमि का राष्ट्रीयकरण (Nationalisation) कर देना चाहिए। तत्पश्चात् भूमि को बड़े २ टुकड़ोंमें विभाजित करके आधुनिक विज्ञान की सहायता से उन पर खेती की जाए। इसमें काम करने वाले व्यक्तियों को उनकी आवश्यकता के अनुसार आय का भाग देना चाहिये किन्तु इस प्रकार की व्यवस्था मे प्रजातन्त्रात्मक भावना नही है और व्यक्तिगत विकास की सम्भावना कम है।

(४) सहकारी कृषि (Co-operative farming):—छोटे २ और बिखरे हुए खेतो के दोषों को दूर करने के लिये सहकारी खेती भी अपनाई जाती है। इस प्रकार की खेती में कृषक अपने छोटे २ खेतो को एक बड़ी इकाई मे मिला देते हैं और वे अपनी भूमि, पूंजी तथा पशुओं को एकत्रित करके इन बड़ी इकाइयो पर सहकारी प्रणाली द्वारा खेती करते हैं।

दूसरी योजना में यह लक्ष्य रखा गया था कि ऐसे आवश्यक कदम उठाये जायेंगे जिनसे सहकारी खेती के विकास के लिए सुदृढ़ आधार प्राप्त होंगे। १०-१५ वर्षों की अवधि मे अधिकांश कृषि-भूमि में सहकारी आधार पर खेती होने लगेगी। सहकारी खेती के कार्यक्रम को लागू करने के लिए केन्द्रीय सामुदायिक विकास व सहकारिता मंत्रालय ने राष्ट्रीय सहकारी कृषि सलाहकार बोर्ड का निर्माण किया है।

तृतीय योजना में ३२०० सहकारी कृषि समितियाँ बनाने का लक्ष्य रखा गया है। प्रत्येक जिले मे १० समितियाँ बनेंगी। प्रथम वर्ष मे ६५ जिलो में ६५० समितियाँ स्थापित की जायेंगी।

देश के विभिन्न भागो मे सहकारी कृषि के प्रयोग किये जा रहे हैं। हमारे देश की कृषि सहकारिता के आधार पर ही आर्थिक उत्थान की ओर अग्रसित हो सकती है।

(५) संयुक्त ग्राम व्यवस्था (Joint Village Management):—इस व्यवस्था के अनुसार प्रत्येक भूमिस्वामी के भूमि के स्वामित्व सम्बन्धी अधिकार को माना जाता है, परन्तु प्रबन्ध के लिए भू-स्वामी अपनी अपनी भूमि को देते हैं और इस सम्मिलित भूमि पर गाँव वाले आपस में मिलकर खेती करते हैं। भूमि से प्राप्त होने वाली आय को दो भागों मे विभाजित किया जाता है। एक तो, वह आय जो कामकरने के कारण होती है और दूसरी, जो भूमि स्वामित्व के कारण होती है। इस व्यवस्था को अपनाने से पूर्व सरकार और कृषक के बीच में सम्पर्क स्थापित करने वाले समस्त मध्यस्थों का अन्त होना जरूरी है।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने कई बार घोषणा की है कि वह सरकार और भूमि को जोतने वाले के बीच सभी प्रकार के मध्यस्थो (Middlemen) के अधिकारों को समाप्त कर देने के पक्ष मे है। भूमि-सुधार का सामाजिक परिवर्तन व आर्थिक विकास

से गहरा सम्बन्ध है। भूमि-सुधार से पूर्व भारत में तीन प्रकार की भूमि पट्टे की प्रणालियाँ (Land Tenures) पाई जाती थी—(१) जमींदारी प्रथा (२) महलवारी प्रथा, तथा (३) रैयतवारी भूमि पट्टा प्रथा।

भूमि-सुधार के कार्यक्रमो के, जिन्हें योजनाओं में विशेष महत्व दिया गया है, दो विशिष्ट उद्देश्य हैं। एक तो यह कि पुराने जमाने से विरासत में मिले खेती-बाड़ी के ढाँचे के कारण खेती की पैदावार बढ़ाने में आने वाली रुकावटों को हटा दिया जाए। दूसरा उद्देश्य यह है कि कृषि-व्यवस्था में से सामाजिक शोषण (Exploitation) तथा अन्याय को निकाल दिया जाए। ये उद्देश्य पूरा करने के लिये प्रथम व द्वितीय योजनाओं में प्रधानतया ये उपाय किए गए थे—(१) मध्यस्थों की समाप्ति (२) जमीन के कानूनों में संशोधन, जिनमें लगान को नियमित करना व कम करना, काश्त की सुरक्षा तथा अन्त में किसानों को भूमि की मालिकी देना शामिल है, और (३) जोत अधिकतम सीमा (Maximum limit) निर्धारित करना।

कृषि उत्पादन के बिक्री की दोषपूर्ण व्यवस्था:—
(Defective System of Agricultural Marketing)

उपर्युक्त समस्याओं के अतिरिक्त भारतीय कृषि की एक अत्यन्त प्रमुख समस्या है—कृषि उत्पादन की बिक्री की। कृषक की आर्थिक दशा उन्नत करने के लिए आवश्यक है कि कृषि उपज के बिक्री की समुचित व्यवस्था द्वारा कृषक को उपज का समुचित मूल्य मिले। रायल कृषि कमीशन के अनुसार "जब तक कृषि उपज की बिक्री की समस्या को पूर्णतया हल नहीं किया जाता, तब तक कृषि की समस्या का हल अधूरा ही रहेगा।" आजकल कृषि उपज की बिक्री की निम्न पद्धतियाँ हैं:—

बिक्री की पद्धतियाँ
(१) गाँव में बिक्री
(२) मंडी में बिक्री
(३) खुदरा बाजार

(१) **गाँव में बिक्री:**—कृषक अपनी उपज को गाँव के महाजन या बनिए को बेच देता है। महाजन और बनिए ऋण देते समय यह शर्त रख देते हैं कि कृषक अपनी फसल निश्चित भाव पर उसे बेच देगा। यह निश्चित भाव बाजार भाव से काफी नीचा होता है। औसत (Average) कृषक एक छोटा उत्पादक है। वह अपनी उपज का अधिक भाग अपने उपयोग में लाता है और शेष उपज, जो बहुत थोड़ी है और जिसे दूर ले जाना लाभदायक नहीं होता, साहूकार जमींदार या बनिए को बेच देता है।

(२) **मंडी में बिक्री.**—कृषक अपनी उपज को कच्चा आढ़तिया (Commission Agents) या बेचने वाले दलाल के पास ले जाता है जो बेचने के लिए उनको प्रदर्शित करता है और ग्राहकों से मिलता है। साधारणतः खरीदने वाले पक्के आढ़तिये होते हैं या थोक व्यापारी (Wholesale Dealers) होते हैं जो अन्य मंडियों के व्यापारियों

के लिये दलालो का काम करते हैं। मंडियो का प्रचार उत्तर प्रदेश में अधिक है। भारत मे इनकी संख्या १,७०० से भी अधिक है।

(३) खुदरा बाजार (Retail Market):— खुदरा बाजार शहर के विभिन्न भागो में फैले हुए होते हैं जिनमें खुदरा व्यापारी विभिन्न वस्तुएं बेचते हैं। इन पर म्युनिसिपैलटियो का नियन्त्रण होता है।

भारत मे बिक्री की पद्धतियो मे अनेक दोष पाए जाते हैं, जिनमें मुख्य ये हैं:—

(१) मध्यस्थों (Middlemen) की अधिकता.—कृषक और उपभोक्ताओं के बीच अनेक मध्यस्थ होते हैं जैसे थोक और फुटकर बेचने वाले, व्यापारी, कच्चा आढ़तिया, दलाल, पक्का आढ़तिया आदि। यह लोग कृषक की अज्ञानता, अशिक्षा और निर्धनता से लाभ उठाते हैं और कृषक को उसकी उपज का पूरा मूल्य प्राप्त नही होने देते हैं। केन्द्रीय सरकार द्वारा की गई जाँचो से स्पष्ट होता है कि गेहू की बिक्री मे एक रुपये के मूल्य मे से कृषक को केवल ८½ आने और चावल की बिक्री मे केवल ६½ आने मिलते हैं। यह शोचनीय अवस्था मुख्यतः बंगाल, बिहार और उत्तर प्रदेश में पाई जाती है।

बिक्री पद्धति के दोष
(१) मध्यस्थो की अधिकता
(२) उत्पादन किस्म उत्तम न होना
(३) भावों की अज्ञानता
(४) तौल व बांटों की विभिन्नता
(५) गोदामो का अभाव
(६) मूल्य सूचनाओं का अभाव
(७) श्रेणी विभाजन का अभाव
(८) यातायात के साधनो का अभाव

(२) उत्पादन में उत्तमता का अभाव:—भारत मे कृषक द्वारा जो फसल पैदा की जाती है उनकी किस्म अच्छी नही होती है क्योकि भारतीय कृषक घटिया प्रकार के बीज प्रयोग में लाता है। साथ २ फसलो को प्राचीन पद्धति के आधार पर काटा जाता है जिससे फसलों के काटने से उपज मे मिट्टी इत्यादि मिल जाती है। ग्रामो में उपज को अच्छी तरह रखने के लिये उचित गोदामो की व्यवस्था नहीं है। अच्छे गोदामों के अभाव के कारण वर्षा में अनाज नष्ट हो जाता है। कृषक और आढ़तिये भी अनाज में अनेक प्रकार की मिलावट कर देते हैं।

(३) भावों की अज्ञानता:—हमारे कृषक अशिक्षित और निरक्षर हैं। उनको मंडियों के भावो में मन्दी और तेजी का भी ज्ञान नही होता। इसलिए उनको उपज का उचित मूल्य (Fair price) नही मिलता है।

(४) तौल व बांटों (Weights and measures) की विभिन्नता.—भारत मे तौल और बांटो की बहुत अधिक विभिन्नता पाई जाती है। बांटो के गलत होने के साथ साथ यह भी पाया जाता है कि व्यापारी खरीदने और बेचने के लिए अलग अलग बांटों का प्रयोग करते हैं इससे कृषकों को काफी हानि उठानी पड़ती है।

(५) गोदामों का अभाव—कृषक प्रायः अपनी उपज को फसल काटने के एक-दो महीने के अन्दर ही बेच देता है। केवल उतनी उपज अपने पास रखता है जितनी उसको उपयोग के लिए चाहिए। फसल को संग्रह करने की सुविधाएँ अपर्याप्त एवं अवैज्ञानिक हैं। इस कार्य के लिए या तो भूमि में गड्ढे होते हैं या खत्तियां होती हैं। खत्तियां मिट्टी की (कच्ची) होती हैं इसलिए सीलन तथा कीड़े-मकोड़ों द्वारा बहुत सा अनाज नष्ट हो जाता है।

(६) मूल्य सम्बन्धी सूचनाओं का अभाव:—कृषकों को भिन्न भिन्न वस्तुओं के भावों की दरें पूर्णतया ज्ञात नहीं रहतीं और उन्हें महाजनों द्वारा बताई गई दरों पर विश्वास करना पड़ता है। कई बार वास्तविक भाव मालूम पड़ जाने पर भी भिन्न भिन्न बाजारों की तुलना नहीं की जा सकती, क्योंकि सभी क्षेत्रों में कृषि उपज के लिए कोई एक निश्चित श्रेणी नियत नहीं है।

(७) श्रेणी-विभाजन (Grading) का अभाव:—भारतीय मंडियों में फसल बोने से लेकर बेचने तक फसल की शुद्धता और श्रेणी-विभाजन का बिल्कुल ध्यान नहीं रखा जाता। अच्छी और बुरी दोनों फसलों को मिलाकर बेचा जाता है।

(८) यातायात के साधनों (Means of Transport) का अभाव:—अन्य देशों की अपेक्षा भारत रेलों और सड़कों आदि की दृष्टि से पिछड़ा हुआ है। गांव से फसल को मंडी तक ले जाने के लिये उत्तम सड़कें नहीं पाई जाती। अतः कृषि उत्पादन के यातायात में बहुत सी असुविधाएं होती हैं।

इन दोषों के अतिरिक्त कृषकों से, जब वह मंडी में अपनी उपज बेचते हैं तो विभिन्न प्रकार के उनसे शुल्क लिये जाते हैं जैसे गाड़ी ठहराने का शुल्क, तुलाई आदि का शुल्क।

भारतीय कृषक को फसल का उचित मूल्य दिलवाने के लिए अनेक सुझाव दिये गए हैं, जिनमें से प्रमुख निम्न हैं:—

(१) नियन्त्रित मण्डियां (Regulated Markets):—यदि नियन्त्रित और सुव्यवस्थित मंडियों की स्थापना कर दी जाए तो वर्तमान बिक्री पद्धति के लगभग सभी दोषों का अन्त हो सकता है। नियंत्रित मण्डियों का उद्देश्य कृषि-पदार्थों की बिक्री को नियमित और कुशल बनाना है ताकि बाजार में प्रचलित अनुचित रीतियां समाप्त हो जाएं। नियन्त्रित बाजारों की स्थापना सर्वप्रथम सन् १८६७ में बरार में की गई थी।

सुझाव
१. नियंत्रित मण्डियां
२. सहकारी बिक्री समितियां
३. कीमतों का स्थायीकरण
४. श्रेणीकरण तथा बांटों में सुधार
५. अन्य उपाय

हैदराबाद, मद्रास, मैसूर, पंजाब आदि में भी नियन्त्रित बाजारों की स्थापना

का प्रयत्न किया गया किन्तु अभी तक भारत मे नियन्त्रित मण्डियों से पूरा-पूरा लाभ प्राप्त नहीं हो सका है, क्योंकि जहाँ जहाँ से मण्डियों के नियमन करने का प्रयत्न किया गया वहाँ बडे बडे व्यापारियो और मध्यस्थो ने प्रतिस्पर्धा द्वारा अनेक कठिनाइयां उपस्थित करने के प्रयत्न किए। इसके अतिरिक्त राज्य और जनता ने भी अभी तक नियन्त्रित मण्डियो की आवश्यकता और उपयोगिता को नहीं समझा है।

(२) सहकारी बिक्री समितियां (Co-operative Marketing Societies)–आजकल वस्तुओं की बिक्री का सहकारिता के सिद्धान्तो के आधार पर प्रबन्ध किया जा रहा है। इससे बिक्री मे वृद्धि होने की आशा है। बिक्री सहकारी समितियां कृषक की स्थिति को मजबूत बनाकर उसे उसकी उपज का उचित मूल्य दिलाने में सहायता करती हैं। विक्रय समितियां अपने उद्देश्य के अनुसार चार भागो में बाँटी जा सकती हैं।—

(१) कृषि उपज को खरीदने और बेचने वाली समितियां।

(२) कृषि उत्पादन और विक्रय समितियां।

(३) कृषि के अतिरिक्त अन्य प्रकार के उत्पादन और विक्रय की समितियां।

(४) कृषि उपज करने वाली समितियाँ।

सहकारी समितियाँ अपने सदस्यों के उत्पादन को चालू कीमत पर खरीद सकती हैं और फिर बाजार में अन्य व्यापारियों की तरह बेच सकती हैं। परन्तु कीमतो की अनिश्चितता की हानियां ऐसी स्थिति में सहकारी समिति को उठानी पड़ती है।

दूसरी योजना की अवधि में १८६६ प्रारम्भिक क्रय-विक्रय समितियों की सहायता की गई। तीसरी योजना में ६०० और प्रारम्भिक क्रय-विक्रय समितियों की स्थापना हो जाने के बाद देश की २५०० मण्डियो में से प्रत्येक में अथवा प्रत्येक के पास एक क्रय-विक्रय समिति हो जाएगी। क्रय-विक्रय के कार्यक्रम के साथ गोदामो के कार्यक्रम का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। दूसरी योजना के अन्त तक मण्डी केन्द्रों में लगभग १६७० और ग्रामीण क्षेत्रों में ४,१०० गोदाम स्थापित किए जा चुके थे। तीसरी योजना में ६६० अतिरिक्त गोदाम मण्डियो मे और ६,२०० गोदाम ग्रामीण क्षेत्र मे स्थापित किए जायेंगे।

(३) कृषि की उपज की कीमतों का स्थायीकरण (Stabilisation of Agricultural Prices) करने का भी सुझाव दिया जाता है। जब कीमतें गिरने लगती हैं तो कृषक को हानि उठानी पड़ती है। कृषकों में कृषि के सुधार करने की भावना को प्रबल करने के लिये उनमे यह विश्वास पैदा करना आवश्यक है कि उनकी उपज का अच्छा और उचित मूल्य मिलता रहेगा।

(४) उपरोक्त सुझावो के अतिरिक्त कृषि उत्पादन के श्रेणीकरण, तौल और बांटो मे सुधार, यातायात के साधनों के पर्याप्त विकास आदि को भी कृषि उपज की विक्रय प्रणाली मे सुधार के लिए पर्याप्त महत्व दिया जाता है। गोदाम (Warehouses) बनाने आवश्यक हैं।

उक्त बातों के अतिरिक्त देश की पंचवर्षीय योजनाओं में कृषि-उद्योग के विकास एवं सुधार को पर्याप्त स्थान दिया गया है। फलस्वरूप कृषि उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि हुई है। तृतीय योजना में भी कृषि नीति का लक्ष्य यही है कि बढ़ती हुई जन-संख्या को पर्याप्त खाद्यान्न उपलब्ध हो सके तथा विकसित औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था के लिए आवश्यक कच्चा माल उपलब्ध होकर कृषि-पदार्थों का विदेशों को निर्यात भी हो सके। कृषि आधार को मजबूत बनाकर उत्पादन वृद्धि के लिए कृषि-उद्योग को नया तान्त्रिक मोड़ दिया जा रहा है, जिससे निश्चय ही कृषि-उद्योग की समस्याओं का निवारण होकर कृषि-उद्योग का सन्तुलित विकास हो सकेगा।

सारांश (Summary)

भूमिका:—पिछले कुछ वर्षों से औद्योगिक विकास के फलस्वरूप जमीन पर से बोझ अवश्य कम हुआ है, किन्तु जनसाधारण आजीविका के लिये खेतों पर आज भी अधिकांश प्रतिशत में अवलम्बित है। देश में सम्पन्नता के बीच गरीबी है। अन्य देशों की तुलना में देश में आज उपज प्रति एकड़ कम है।

भारतीय कृषि के पिछड़ेपन के कारण

(१) जनसंख्या में वृद्धि एवं भूमि पर दबाव। (२) उत्तराधिकार के दोषपूर्ण नियम। (३) सहायक एवं गौण उद्योग-धन्धों का अभाव। (४) खेतों का छोटा तथा छितरा होना। (५) व्यक्तिक विचारों की प्रधानता। (६) अलाभकारी इकाइयाँ। (७) भारतीय कृषि वर्षा में जुआ है। (८) कृषि प्रणाली—विशेषतः गहरी खेती के प्रति अनुत्साह। (९) निर्बल पशुधन (१०) कृषक वर्ग की अशिक्षा (११) खराब बीजों द्वारा कृषि। (१२) कृषि उत्पादन के औजार पुराने। (१३) पूंजी का अभाव। (१४) कृषि बिक्री की अव्यवस्था।

इस परिस्थिति का सामना (१) भूमि का क्षेत्रफल बढ़ाकर (२) प्रति इकाई उत्पादन बढ़ाकर, एवं (३) वर्तमान कृषि योग्य भूमि को अनुत्पादक होने से बचाकर— कर सकते हैं।

कृषि कार्यक्रम के अन्तर्गत कुल १२८१ करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई है। सहकारी एजेन्सियों से ५३० करोड़ रुपये की अल्पकालीन और मध्यकालीन ऋण तथा १५० करोड़ रुपये के (बकाया रकम) दीर्घकालीन ऋणों की आशा है। योजनाओं के अन्तर्गत सिंचाई, भूमिसुधार, उत्तम बीजों की व्यवस्था, रसायनिक उर्वरकों की खपत, वनस्पति संरक्षण जैसे कार्यों पर महत्व दिया गया है। प्रशिक्षण, अनुसंधान के कार्य सभी इसी दिशा में महत्वपूर्ण कदम हैं।

सिंचाई की समुचित व्यवस्था, कुएं, तालाब, नहरों द्वारा की जा रही है। कुओं से सिंचित भूमि का ३०%, तालाबों से १९%, एवं ४१% क्षेत्र नहरों से सींचा जाता है। पहली एवं दूसरी पंचवर्षीय योजनाओं में १४०० करोड़ रुपये का

व्यय किया गया, जिनसे ३८० लाख एकड़ भूमि की सिंचाई की आशा है। तीसरी योजना में भी सिंचाई व्यवस्था का समुचित ध्यान रक्खा गया है।

भूमि का उपविभाजन तथा अपखण्डन :—

कारण—भूमि के उपखण्डन ने भी समस्या पैदा की है जिसके मुख्य कारण निम्नलिखित हैं.—(१) जन-संख्या में वृद्धि (२) उत्तराधिकार के नियम दोषपूर्ण (३) कुटीर की अवनति (४) व्यक्तिवाद का विकास, (५) किसान को अपनी अचल सम्पत्ति से अत्यन्त उद्योगों प्रेम। उपखण्डन के द्वारा लाभ की अपेक्षा हानियां अधिक हैं।

हानियां :—(१) उत्पादन व्यय में वृद्धि, (२) सीमा निर्धारण में कठिनाइयां (३) स्थायी सुधारों में रुकावट (४) सिंचाई का अनुपयुक्त प्रबन्ध (५) झगड़ों की अधिकता (६) देखभाल एवं निगरानी की कमी। (७) कम उपज।

भूमि के उपखण्डन को दूर करने के प्रयत्न—(१) चकबन्दी की व्यवस्था करना। २ करोड़ १० लाख एकड़ भूमि की चकबन्दी पहली तथा दूसरी पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत हुई। तीसरी योजना में तीन करोड़ एकड़ जमीन पर चकबन्दी हो सकेगी, क्षेत्र विभाजन का अन्त भी हो सकेगा। (२) उत्तराधिकार के नियमों में संशोधन। (३) सामूहिक कृषि को प्रोत्साहन दिया जाय। (४) सहकारी कृषि की व्यवस्था की जाये। (५) संयुक्त ग्राम व्यवस्था का सूत्रपात किया जाये। (६) भूमि पट्टे प्रणाली में सुधार किया जावे। (७) कृषि उत्पादन की बिक्री का समुचित प्रबन्ध किया जाय ताकि कृषक की आर्थिक दशा उन्नत हो सके। सहकारिता को कृषि जीवन में पूर्णतया उतार कर कृषि-बिक्री की ठीक व्यवस्था की जाय।

प्रश्न

१. भारतीय कृषि की मुख्य समस्यायें क्या हैं? उनमें सुधार किस प्रकार किया जा सकता है?

२. भारतीय कृषि की उत्पादनशीलता कम क्यों है? इसे बढ़ाने में कौन कौन से प्रयत्न किये गये हैं?

३. भूमि के उपविभाजन तथा अपखंडन के कारण, व आर्थिक प्रभाव बताइये। इनके निवारण के लिये सुझाव दीजिये।

४. भारत में कृषि उपज की बिक्री के कौन कौन से प्रमुख दोष हैं? सुधार के सुझाव दीजिये।

—

अध्याय ४

भूमि सुधार
(LAND REFORMS)

"जब खेती फलती फूलती है, तब सब धन्धे पनपते हैं परन्तु जब भूमि को बंजर छोड़ दिया जाता है तो अन्य धन्धे भी शीघ्र नष्ट हो जाते हैं।" —सुकरात

भूमि व्यवस्था (Land Tenure System) से हमारा आशय उस व्यवस्था से है, जिसमे कृषकों के भूमि सम्बन्धी अधिकारों एवं उत्तरदायित्वों का निर्धारण होता है कारण कि 'टेन्योर' (Tenure) अर्थात् 'व्यवस्था' शब्द की उत्पत्ति लेटिन शब्द Teno से हुई है। Teno का अर्थ है "अधिकार" अर्थात् कृषक के भूमि सम्बन्ध मे क्या क्या अधिकार हैं। क्योंकि श्री आर्थर यंग (Arthur Young) ने ठीक ही कहा है कि "अधिकार का जादू रेत को भी सोने में परिणित कर सकता है"। (The magic of property turns sand into gold)। अतः जैसा डेनियल थोर्नर (Danial Thorner) भी कहते हैं कि भूमि सुधार का सामाजिक परिवर्तन व आर्थिक विकास से गहरा सम्बन्ध है।

भूमि सुधारों का महत्व
(Importance of Land Reforms)

आर्थिक नियोजन में भूमि-सुधार के महत्व के बारे में जितना कहा जावे वह थोड़ा है। संयुक्त राष्ट्र संघ (U. N. O) का "भूमि सुधार" रिपोर्ट में बताया गया है कि भूमि व्यवस्था प्रणाली ने लगान की ऊंची दर बढ़ा कर कृषकों के जीवन स्तर को गिरा दिया है, उसके आगे बढ़ने की वृति को इसने कम कर दी है और इसने भूमि मे विनियोग होने को भी रोका है। तथा इसने (Intensive Farming) भूमि को इतनी अधिक छोटे छोटे भागो में बांट दिया है कि 'गहरी खेती' होना मुश्किल हो गया है। डा० सी० बी० मैमोरिया ने भी भूमि सुधार के तीन महत्व बताये हैं, प्रथम एक के लिये महत्व, उत्पादकता, तथा सामाजिक संगठन के रूप में। परन्तु डा० मुकर्जी ने अपनी पुस्तक "भारत में भूमि-सुधार" में बताया कि भूमि-सुधार का अधिक महत्व कृषक के जीवन स्तर को ऊंचा उठाने में है। जब कि डा० वायलकर (Dr. Voelcker) कहते हैं कि इसका महत्व भूमि के उत्पादन को अधिक बढाने में है। परन्तु प्रथम योजना ने इसके दो महत्व बताये, प्रथम, सामाजिक न्याय व द्वितीय आर्थिक प्रगति के लिये।

डा० दांतवाला के अनुसार इसका महत्व अधिकतर 'सामाजिक न्याय' (Social Justice) के लिये है। परन्तु कुछ भी हो प्रत्येक आदमी इससे सहमत है कि "भूमि सुधार" का आर्थिक आयोजन में बहुत अधिक महत्व है। अतः भूमि व्यवस्था के इतिहास की तरफ संक्षेप में दृष्टिपात करना अनुपयुक्त नहीं होगा।

भूमि व्यवस्था का आरम्भिक इतिहास

प्राचीन काल में हिन्दू काल में राज्य का भाग महर्षि मनु (Manu) के अनुसार $\frac{1}{6}$ और विपत्तिकाल में $\frac{1}{4}$ तक होता था। मुगल-काल में भूमि-समस्या शेरशाह व टोडरमल के द्वारा हल की गई। उस समय लगान द्रव्य या अनाज के रूप में (in kind) देने की सुविधा थी। तदोपरान्त लार्ड कार्नवालिस ने स्थायी बन्दोबस्त की प्रथा चालू की। बैडन पावल (Baden Powell) ने अंग्रेजी काल में भूमि-व्यवस्था को चार भागों में बांटा है। स्वतन्त्रता के बाद भारतीय कांग्रेस ने भी कुछ कुछ चीन सरकार की नीति अपनाई। भारतीय कांग्रेस का नारा था, "जमीन किसकी" "किसान की" (Land of the tillers) स्वतन्त्र भारत में भूमि व्यवस्था को तीन मुख्य भागों में बांटा जा सकता है:—

(१) रैयतवाड़ी प्रथा (Ryotwari System)

यह प्रथा पहले बम्बई, दक्षिणी मद्रास, अधिकांश आसाम व बिहार के कुछ भागों में प्रचलित थी। इस प्रथा में किसान मालगुजारी सीधी सरकार को चुकाता है। कृषक व सरकार में सीधा सम्पर्क रहता है। यद्यपि इस प्रथा में कोई मध्यस्थ वर्ग (Middle man) नहीं था, परन्तु निरन्तर काल में इस प्रथा में भी काश्तकार व उप-काश्तकार पैदा हो गये। यह प्रथा कैप्टिन रैड व थोमस मुनरो द्वारा १७६२ में चालू की गई थी।

भारत में भूमि व्यवस्था के तीन मुख्य प्रकार
(१) रैयतवाड़ी प्रथा
(२) महलवाड़ी प्रथा
(३) जमींदारी प्रथा

(b) महलवाड़ी प्रथा (Mahalwari System):—यह प्रथा पंजाब, उत्तर प्रदेश के कुछ भागों व मध्य प्रदेश में पाई जाती है। इस प्रथा का जन्म १८३३ में रेगूलेटिंग एक्ट (Regulating Act) के अन्तर्गत आगरा व अवध में हुआ। इस प्रथा में सरकार भूमि ग्राम के कुछ व्यक्तियों को सामुदायिक रूप में देती है। इस दल का मुखिया भूमि को कृषकों के मध्य विभक्त कर देता है। मुखिया लगान को एक निश्चित मात्रा में रखकर शेष सरकार को दे देता है। अगर कुछ व्यक्ति मुखिया के स्थान पर होते हैं तो वे मिलकर भी अलग अलग सरकार को मालगुजारी चुकाने के लिये जिम्मेदार होते हैं।

(c) जमींदारी प्रथा (Zamindari - System):—इस प्रथा में एक व्यक्ति जिसे जमींदार कहते थे, कई गाव, एक गाव या गांव के एक भाग का मालिक माना जाता था। वह सरकार को मालगुजारी देने का जिम्मेदार होता था। जमीदार खुद खेती करके भूमि को लगान पर कृषक को दे देता था। उस लगान में से कुछ अपने पास रखकर बाकी सरकार को मालगुजारी भी दे देता था। अर्थात् यहाँ पर जमीदार मध्यस्थ वर्ग का काम करता था।

जमीदारी प्रथा से लाभ यह था कि सरकार को प्रत्येक किसान से लगान वसूल करने में अधिक कठिनाइयो का सामना नहीं करना पड़ता था। यह प्रथा सरल थी एवं इसमें सरकार व किसानो के मध्य झगड़ों की सम्भावना नहीं थी। यद्यपि समय के साथ जमीदारी प्रथा मे अनेक बुराइयां पैदा हो गई जिनके कारण समस्त ग्रामीण जीवन दूषित हो गया। इसके मुख्य दोष इस प्रकार हैं:—

(१) कृषकों का शोषण (Exploitation):—जमींदार शीघ्र ही अनुपस्थित परान्नभोगी (Absentee Landlords) बन गये। किसानो से अत्यधिक लगान लेकर भी उनसे भूमि छीन ली जाती थी। गरीब कृषक-मजदूरो से बेगार ली जाती थी।

(२) कृषि उत्पादन में कमी:—लगातार शोषण एवं अत्याचार के कारण कृषको में निर्विकारता (Indifference) का भाव पैदा हो गया और उत्पादन मे कमी होती गयी। जमीदार भूमि व कृषि व्यवस्था के सुधार में बिल्कुल रुचि नहीं लेते थे। जैसा कि बंगाल के तत्कालीन कर-प्रवीक्षक ने कहा था "जमींदार भूमि के संसाधनों के विकास के लिये कोई प्रभावशाली साधन प्रदान करने में असफल हुआ"।

(३) कृषक की ऋणग्रस्तता:—कम पैदावार, भारी कर एवं जमींदार के अत्याचारों के कारण कृषको की आर्थिक दशा अत्यन्त शोचनीय होती गयी। फलतः कृषक ऋण मे फंसता गया और ग्रामीण-ऋण की समस्या अपने आप में एक बहुत बड़ा अभिशाप हो गयी।

(४) विषाक्त सामाजिक वातावरण:—आर्थिक विषमताओं तथा असमानताओं के कारण भारतीय ग्रामीण जीवन बहुत दुखमय एवं विषाक्त हो गया। सामाजिक सम्बन्ध बिगड़ गये एवं अनेक कुरीतियां, दोषपूर्ण सामाजिक रीति-रिवाज एवं अंधविश्वासो का जन्म हुआ।

इन्ही अनेक दोषों के कारण स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त सब ओरो से जमीदारी उन्मूलन की आवाज उठाई गयी।

भारत में भूमि सुधार का कार्यक्रम और उसकी प्रगति

(Programme and Inplementation of Land Reforms in India)

(a) जमींदारी प्रथा व मध्यस्थ वर्ग की समाप्तिः—

जमींदारी प्रथा के अन्तर्गत जमींदार धनवान होते चले गये, मध्यस्थ वर्ग भी उन्नतिशील होता रहा। सरकार को बढ़े हुये लगान का बहुत कम हिस्सा ही मिलता था। परिणाम यह हुआ कि कृषक को मुखमरी (Hand to mouth) में जीवन व्यतीत करना पड़ता था। श्री कारवर (Carver) ने ठीक ही कहा है—"युद्ध, महामारी और अकाल के बाद ग्रामीण जनता के लिये सबसे बुरी वस्तु है तो वह है अनुपस्थित भूमि *स्वामित्व* (Absentee Landlordism)।

अतः जमींदारी प्रथा की भयंकर बुराइयों ने सरकार को कानून बनाने के लिये बाध्य किया। यह अन्दाज लगाया गया कि वे देश के ४०% क्षेत्र में फैले हुये हैं तथा ६७५ करोड रुपयों का मुआवजा इनको दिया जावेगा ६७० करोड़ में (५२० करोड रु० मुआवजा और १५० करोड़ रु० ब्याज) अब तक १६४ करोड़ रु० का मुआवजा बोण्ड के रूप में दिया जा चुका है। इस जमींदारी प्रथा उन्मूलन की निम्न विशेषतायें हैं—

(i) मध्यस्थ वर्ग के अधिकार को समाप्त करके, जमींदारों को मुआवजा दिया गया। यह मुआवजा कुछ स्थानों पर 'गुणक प्रथा' (Multiple system) के आधार पर, जैसे—राजस्थान में ७ गुना, यू० पी० में ८ गुना, और कुछ स्थानों पर (Sliding scale system) के आधार पर जैसे—*आसाम व उड़ीसा में चुकाया गया।*

भूमि सुधार का कार्यक्रम
१. जमींदारी प्रथा एवं मध्यस्थ वर्ग की समाप्ति
२. काश्तकारी सुधार
३. भूमि पर सीमा निर्धारण
४. कृषि का पुनर्संगठन
५. अन्य सुझाव

(ii) मुआवजों (Compensation) का भुगतान कुछ नकद रूप में व बोन्ड के रूप में किया गया। अधिक मुआवजे की रकम बोन्ड में चुकायी गई जिस पर २.५% *ब्याज था।*

(iii) जमींदारों को खुद काश्त के लिये कुछ भूमि अपने पास रखने की इजाजत दे दी गई।

(iv) जमींदारी उन्मूलन के बाद कृषक सीधा सरकार का लगान चुकावेगा।

इस प्रथा के कई प्रभाव पड़े। प्रथम, सरकार के लिये भूमि चकबन्दी करना आसान हो गया। द्वितीय, 'सह सरकारी खेती' (Co-operative Farming) प्रथा को

चालू करना भी सम्भव हो गया। तृतीय, बेकार जमींदारों के लिये कार्य ढूंढने की समस्या उत्पन्न हो गई। चतुर्थ—मुआवजे के भुगतान से मुद्रा स्फीति (Inflation) का डर हो गया। अन्त में यही कहा जा सकता है कि वास्तव में कुछ अंशों में एक क्रांतिकारी कदम (Revolutionary Step) था।

(b) काश्तकारी सुधार:—

एक अर्द्ध विकसित देश में, जहाँ भूमि पर आबादी का भार अधिक हो, जहाँ जमींदारों द्वारा शोषण होता हो, वहां काश्तकारी सुधार सामाजिक न्याय की दृष्टि से किसानों के लिये बहुत ही लाभकारी व सहायक है। अतः सरकार ने निम्न कानून बनाये:—

(i) लगान नियम (Regulation of Rent)—इस नियम के अनुसार जो पहले आधा लगान लिया जाता था उसमें कमी कर दी गई। प्रथम योजना में गुजरात, महाराष्ट्र व राजस्थान मे $\frac{1}{6}$ भाग, दिल्ली में $\frac{1}{5}$, और उड़ीसा में $\frac{1}{4}$ भाग लगान के रूप में लिया जाने लगा। तृतीय योजना में यह सुझाव दिया गया है कि काश्तकार को लगान की रसीद दी जावेगी तथा काश्तकार लगान की रकम रेवेन्यु आफीसर के पास जमा करा दें एवं भू-स्वामियों को सूचित कर दें।

(ii) काश्तकारों की भूमि व्यवस्था की सुरक्षा:—करीब २ प्रत्येक राज्य में इसके लिये कानून बन चुके हैं, या बनने जा रहे हैं। द्वितीय योजना की अवधि में ऐच्छिक परित्याग (Voluntary surrender) के मामलों की रजिस्ट्री करवाने पर बल दिया गया है। जमींदार "खुद काश्त" (Khudkasht-Self Cultivation) के लिये भूमि रख सकते हैं। खुद काश्त की परिभाषा द्वितीय योजना में दी हुई है।

(iii) काश्तकारी का पुनर्ग्रहण (Resumption of Tenancies):—इसके अनुसार राज्यों को ४ भागों में बाटा गया है।

(a) उत्तर प्रदेश, दिल्ली, पश्चिमी बंगाल में भू-स्वामियों को पुनर्ग्रहण की इजाजत नहीं मिली।

(b) बिहार, गुजरात, केरल, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, मैसूर और राजस्थान आदि स्थानों पर जमींदारों को खुद काश्त के लिये एक न्यूनतम क्षेत्र या जोत (Mimmum Size) का एक हिस्सा दिया गया है।

(c) पंजाब व आसाम में राज्य द्वारा काश्तकार को एक निर्धारित सीमा तक अन्यत्र भूमि प्रदान की जाय।

(d) आन्ध्र प्रदेश व मद्रास में कोई भी न्यूनतम सीमा नहीं रखी गई है परन्तु भूमि सीमा निर्धारित स्तर तक ही दी जावेगी।

(c) काश्तकारों के लिये मालिकाना अधिकार

वो स्थान जिन्हें पुनर्ग्रहण नहीं किया गया, वहाँ काश्तकारों को मालिक बना दिया जावे।

तृतीय योजना में काश्तकारों को मालिक बनाने का कार्य और भी अधिक शीघ्रता से किया जावेगा।

(d) सीमा-निर्धारण (Ceilings on Land Holdings)

भारत जैसे भूखे देश मे जहाँ पर भूमि की भूख अधिक बढ़ी हुई है, जहाँ आर्थिक असमानता (Economic inequalities) अधिक रूप मे पाई जाती है, जहाँ पर अधिकतर कृषक भूखे ही रहते हैं, वहां पर सीमा निर्धारण का बहुत ही अधिक महत्व है।

सीमा के निर्धारण के दो महत्व हैं। प्रथम-भावी जोतों पर सीमा (Ceilings on future Holdings) अर्थात् इसमें यह निश्चय किया जाता है कि भविष्य में एक व्यक्ति ज्यादा से ज्यादा कितनी भूमि प्राप्त कर सकेगा। द्वितीय-वर्तमान जोतों पर सीमा Ceilings on present Holdings)। द्वितीय-योजना में इस प्रश्न को ठीक ढंग से हल नहीं किया। द्वितीय योजना के प्रो० महोल नोबिस मोडल के अनुसार एक परिवार जिसकी आमदनी १२०० रु० वार्षिक हो, भूमि-सीमा निर्धारित की गई। परन्तु इसमे परिवार की परिभाषा ठीक रूप से नहीं दी गई। भूमि सुधार की सीमा समिति की आमदनी के आधार पर सीमा निर्धारण करने के पक्ष मे थी। परन्तु फिर भी हम देखते हैं कि उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, पश्चिमी बंगाल में 'निश्चित क्षेत्र' (Allotment of Areas) प्रणाली अपनाई गई। "संविधान के चतुर्थ संशोधन द्वारा कानूनी मुसीबत, सीमा-निर्धारण मे समाप्त हो गई। सन् १९५७ के नागपुर अधिवेशन में बताया गया कि सीमा-निर्धारण का कार्य १९५९ तक समाप्त हो जाना चाहिये।

यह एक ध्यान देने योग्य बात है कि आन्ध्र में (कुल आमदनी ५०० रु० सालाना) और बम्बई मे (३६०० रु० सालाना) थी, प्रणाली अपनाई गई। जबकि उत्तर प्रदेश में ४० एकड, मध्यप्रदेश मे ४२ स्टेन्डर्ड एकड़ और राजस्थान में ३० स्टैंडर्ड एकड़ की प्रणाली अपनाई गई। यद्यपि भारतीय कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन (Nagpur Session of the Congress) में बताया गया था कि बची हुई भूमि पंचायत के अधिकार में रख दी जायेगी परन्तु व्यवहार में बची हुई भूमि राज्य के अधिकार में रही। क्या इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि पंचायतो में विश्वास कम है ?

(e) कृषि का पुर्नसंगठन (Re-organisation of Agriculture)

जमींदारी प्रथा के उन्मूलन से तथा काश्तकारी सुधारो से अब कृषि का पुर्नसंगठन संभव हो गया है।

(1) भूमि के सम्बन्ध में सुधार (Land Reforms)—पहली व दूसरी दोनों योजनाओं मे भूमि के कुशल प्रबन्ध के ऊपर जोर दिया गया। इसके अन्तर्गत बजर भूमि का उपयोग व सुधरे हुए बीजों का प्रयोग आदि हैं। सुधरे हुये बीजो के

लिये Seed farms की स्थापना की जा रही है। भूमि हानिकारक कीटाणु व बिमारियों पर रोक के कार्यक्रम भी इसी में आते हैं।

(ii) सहकारी खेती (Co-operative Farming)—भूमि पर सहकारी ढंग से खेती करने पर गत कुछ वर्षों से काफी जोर दिया जा रहा है। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि दबाव दिया जाना चाहिये या नही। निजलंगप्पा रिपोर्ट (Nijlangappa Report) ने बताया कि सहकारी खेती का आधार (Basis) दबाव (Compulsion) नही होना चाहिये। तृतीय योजना में इस समिति के अनुसार ३२०० सहकारी कृषि समितियां स्थापित की जायेंगी।

परन्तु पूर्णतया ऐच्छिक (Voluntary) दृष्टि से सहकारी खेती को करना अत्यन्त कठिन है। अत: नागपुर अधिवेशन १९५७ में सहकारी सेवा समितियों (Service Co-operatives) पर जोर डाला गया जो कि कृषकों को खाद, बीज एवं व औजार खरीदने आदि की सुविधायें देती है। यहां पर यह कहा जा सकता है कि सहकारी सेवा समितियों द्वारा अप्रत्यक्ष दबाव डाला सकता है।

(iii) भूदान आन्दोलन (Bhoodan Movement)—सन्त विनोबा भावे द्वारा चलाया हुआ यह आन्दोलन बहुत कुछ सफल रहा है। अब तक करीब ५० लाख एकड़ भूमि एकत्र की जा चुकी है। यह भूमि, भूमिहीन मजदूरों को बाँट दी जाती है, जो अपने २ टुकड़े पर जा करके बस जाते हैं। भू-दान के साथ ग्रामदान की भी प्रथा चालू की गई हैं। ये भूमि सुधार के लिये और सहकारी ग्राम प्रबन्ध के लिये अनुकूल वातावरण तैयार करते हैं।

(iv) भूमि की चकबन्दी (Consolidation of Holdings)—मध्यप्रदेश, बम्बई, पंजाब, उत्तर प्रदेश व दिल्ली राज्यों में भूमि के बिखरे हुये टुकड़ों को एकत्र करने में अच्छी सफलता मिली है। तृतीय योजना में ३ करोड़ एकड़ भूमि पर चकबन्दी की जायेगी। बहुत से राज्यों में भूमि के हस्तान्तरण (Transfer) व टुकड़े करने पर रोक लगादी गई है। हिन्दुओं के उत्तराधिकारी नियम (Laws of Succession and Inheritance) के अनुसार अब भूमि का फिर आगे विभाजन नहीं हो सकेगा।

(v) अन्य सुझाव—द्वितीय योजना मे सहकारी ग्राम प्रबन्ध (Co-operative Village Management) के बारे में जोर दिया गया। इसके अनुसार प्रत्येक गाँव अपनी विकास योजना बनावेगा। तदुपरान्त वह ग्राम पंचायत के द्वारा भूमि का प्रबन्ध करेगा। परन्तु यह योजना सफल नहीं हो सकी इसी कारण तृतीय योजना में इसके बारे मे एक शब्द भी नहीं लिखा गया है।

प्रारम्भिक इतिहासः— भारत में प्राचीन काल से ही मनु के मतानुसार उपज का ⅙ और विपत्ति काल में ¼ तक भाग आय के रूप मे लिया जाता था। मुगलकाल में भूमि समस्या, शेरशाह तथा राजा टोडरमल के द्वारा हल की गई। तदुपरान्त लॉर्ड कॉर्नवालिस ने स्थायी बन्दोबस्त की प्रथा का सूत्रपात किया। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् कांग्रेस सरकार ने अपनी नीति स्पष्ट की। इस व्यवस्था को तीन भागो में बांट सकते है—रैय्यत वाड़ी प्रथा, महलवारी प्रथा, एवं जमीदारी प्रथा।

तीनों भाग

(१) **रैय्यत वाड़ी प्रथाः—** सर्व प्रथम बम्बई, दक्षिणी मद्रास एवं आसाम तथा बिहार के कुछ भागो मे प्रचलित थी। मालगुजारी, इस प्रथा मे किसान सीधी सरकार को ही जमा कराया करता था और किसान तथा सरकार में सीधा सम्पर्क बना रहता था। आगे चलकर सीधा सम्पर्क समाप्त हुआ और काश्तकार तथा उप-काश्तकारों का जन्म हुआ। यह प्रथा कैप्टेन रैड व थॉमस मुनरो द्वारा प्रारम्भ की गई थी।

(२) **महल वाड़ी प्रथा—** यह प्रथा पजाब, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, आदि प्रान्तों मे पाई जाती थी। सर्व प्रथम इसका जन्म १८३३ के रेगुलेशन एक्ट के अन्तर्गत आगरा व अवध में हुआ। भूमि ग्राम के कुछ व्यक्तियो को सामूहिक रूप से दी जाती है, जिसे दल का मुखिया सदस्यों को बाट देता है, और यही मुखिया जो महलवार कहलाता मालगुजारी सदस्यो से वसूलकर सरकार को दे देता है। एक से अधिक महलवार मिलकर, या अलग अलग माल गुजारी चुकाने के लिये उत्तरदायी होते हैं।

(३) **जमीदारी प्रथाः—** जमीदार एक या एक से अधिक गांव की जमीन का मालिक होता था, और वही सरकार को मालगुजारी चुकाने का उत्तरदायी होता था। यह व्यक्ति स्वयं खेती न करके भूमि को ऊंचे लगान पर किसानो को दे देते थे, और उस लगान मे से बहुत बड़ा हिस्सा अपने पास रखकर बाकी सरकार को चुका देते थे।

भारत में भूमि सुधार की प्रगतिः— जमीदारी प्रथा ने जमीदारो को धनवान एवं कृषकों को निर्धन बनाया। परिणामस्वरूप किसानों का मुक्त रूप से शोषण किया गया। इस शोषण ने सरकार को मजबूर किया कि भूमि सुधार किया जाये। अन्दाज यह लगाया गया कि इस प्रथा के उन्मूलन के लिये लगभग ६७५ करोड़ रुपये [redacted] मुआवजा सरकार जमीदारो को देगी। इस दिशा में प्रगति अवश्य हुई है और अब तक १६४ करोड़ रुपये का मुआवजा मुख्यतया बॉण्ड के रूप में दिया जा चुका है। इस प्रथा के उन्मूलन के समय मध्यस्थ वर्ग के अधिकारो को समाप्ति, भुगतान बॉड के रूप मे, जमीदारों को खुद काश्त के लिये भूमि की अनुमति दी गई। फलस्वरूप सरकार का सीधा सम्पर्क किसान के साथ स्थापित हुआ तथा चकबन्दी का काम आसान हुआ। मुआवजे से मुद्रा स्फीति की समस्या का डर समाप्त हो गया। काश्तकारी

सुधारों के अन्तर्गत लगान नियम बनाये गये, तथा भूमि व्यवस्था की सुरक्षा, काश्तकारी का पुनंग्रहण, एवं मालिकाना अधिकार, सीमा निर्धारण, कृषि का पुर्नसंगठन, सहकारी खेती जैसे काम सम्भव हो सके। साथ ही साथ आचार्य विनोबा भावे के द्वारा चलाये हुये भूदान आन्दोलन ने सरकार के काम को सफल बनाने मे सहायता दी। 'सहकारी ग्राम प्रबन्ध' जैसी व्यवस्था भी इन्ही सुधारो के द्वारा ही सम्भव हो सकी है।

प्रश्न

१. भारत के विभिन्न भागो मे जो भूमि सुधार किये गये, उनका उल्लेख करते हुये बतलाइये कि इन सुधारो का कृषि की उत्पादनशीलता पर क्या प्रभाव पड़ा ?

२. जमीदारी प्रथा के उन्मूलन का भारतीय कृषक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा ?

३ भूमि सुधार से आपका क्या आशय है ? भारत में भूमि सुधारो की प्राप्ति पर अपने विचार व्यक्त कीजिये।

अध्याय ५

ग्रामीण ऋण एवं वित्त
(RURAL INDEBTEDNESS AND RURAL FINANCE)

"भारतीय किसान ऋण में जन्म लेता है, ऋण में रहता है और ऋण में ही मरता है।" —शाही कृषि आयोग।

भारत की आर्थिक प्रगति ग्रामीण जीवन की प्रगति से सम्बन्धित है और उसकी आशा उसी समय की जा सकती है, जबकि उसके आधारभूत व्यवसाय, कृषि की उन्नति हो। भारतीय ग्रामीण ऋण कृषि की महत्वपूर्ण समस्याओं में से एक है। कृषक का ऋणग्रस्त होना और उचित साख—साधनों (Sources of Credit) का उपलब्ध न होना कृषकों को हीन दशा में पहुँचाने का उत्तरदायित्व रखते हैं। ऋण कृषक को अनुत्पादक बना देते हैं, जिसका भार पीढ़ी दर पीढ़ी बढ़ता चला जाता है। श्री वुल्फ (Wolf) के अनुसार, "देश महाजनों के चंगुल में है, इसलिए कृषि की असफलता का कारण हो है।"

भारत में कृषकों की ऋणग्रस्तता की समस्या का अध्ययन करने के लिए इसे तीन भागों में विभाजित किया सकता है:—

१. ग्रामीण ऋण का परिमाण (Extent)।
२. ऋणग्रस्तता के कारण (Causes) और उसका परिणाम।
३. अपनाये गये उपाय (Remedies) और भावी कार्यक्रम।

ऋण का परिमाण (Magnitude of Indebtedness)—भारत में ग्रामीणों के ऋण की मात्रा मापने के लिये विभिन्न प्रयत्न किये गये हैं। सर्व प्रथम सन् १८७५ में दक्षिण रैयत कमीशन ने अहमदाबाद जिले के कुछ गावों की स्थिति का विश्लेषण करके बताया कि १/३ मौरूसी (Ancestral) काश्तकार ऋणग्रस्त है जिनका औसत ऋण ३७१ रु० है। सन् १८८० में दुर्भिक्ष कमीशन (Famine Commission) के अनुसार कम से कम १/३ कृषक ऋणग्रस्त थे और उनकी भूमि तेजी से महाजनों के पास जा रही थी। डा० मैन (Dr. Mann) के अनुसार सन् १६०१ में बम्बई प्रान्त में प्रत्येक कृषक पर औसत रूप से ऋण १३० रु० था। सर मैकलेगन (Sir. E. Maclagan) ने १६११ में लिखा कि समस्त ग्रामीण ऋण ३०० करोड़ रु० के लगभग है। भारत में भिन्न २

समय पर किसानों के ऋण-भार के अनुमान को इस प्रकार संक्षिप्त में प्रस्तुत किया जा सकता है:—

वर्ष	अनुमानकर्ता	कुल ऋण (रु० में)
१८७५	दक्षिण रैयत कमीशन	३७१ प्रति काश्तकार
१९११	सर मैकलेगन	३०० (करोड़)
१९२१	एम. एल. डार्लिंग	६०० ,,
१९२९	केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति	९०० ,,
१९३३	पी. जे. थॉमस	२,२०० ,,
१९३५	डा० राधाकमल मुकर्जी	१,२०० ,,
१९३७	रिजर्व बैंक का कृषि-साख विभाग	१,८०० ,,

किन्तु ऋण—भार जानने के लिये यह जानना आवश्यक है कि ऋण किन कार्यों के लिये लिया जाता है। साधारणतः कृषकों को तीन प्रकार के ऋण की आवश्यकता पड़ती है।

(१) दीर्घकालीन (Long term).—कुओं, तालाबों, नहरें बनाने, भूमि के उपादेयकरण आदि के लिये।

(२) मध्यकालीन (Medium term):—इमारत बनाने, पशु व औजार आदि खरीदने के लिये।

(३) अल्पकालीन (Short term).—खाद, बीज आदि दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अल्पकालीन ऋण की आवश्यकता होती है।

उत्पादक (Productive) कार्यों के लिये ऋण लेना लाभदायक होता है, क्योंकि यह कृषक की आय में से वापस दे दिया जाता है। किन्तु भारतीय कृषकों के ऋण का अधिकतर भाग उपभोग (Consumption) के लिये लिया जाता है, इसलिए यह अनुत्पादक (Unproductive) है और ऋण का वास्तविक भार (Real burden) बहुत अधिक है।

ऋण ग्रस्तता के कारण व परिणाम शाही कृषि आयोग (Royal Commission on Indian Agriculture) के अनुसार "भारतीय कृषक ऋण में पैदा होता है, ऋण के अन्दर ही अपना जीवन व्यतीत करता है और ऋण का बोझ अपने सिर पर लिये मर जाता है।" ग्रामीण ऋण के मुख्य कारण ये हैं:—

(१) पैतृक ऋण (Ancestral Debt):—ऋणग्रस्तता का मुख्य कारण पैतृक ऋण है। भारत मे ऋण पिता से पुत्र और पुत्र से दर पुश्त चलता रहता है। पूर्वजो का ऋण उन्हें विरासत में मिलता है। संयुक्त परिवार प्रणाली (Joint Family System) होने के कारण ऋण-भार व्यक्तिगत न होकर परिवार के अन्य सदस्यो पर भी होता है।

ग्रामीण ऋण के मुख्य कारण
१. पैतृक ऋण
२. भूमि पर जन-भार में वृद्धि
३. उत्तराधिकार के नियमो में दोष
४. फसलों की अनिश्चितता
५. कृषकों की अस्वस्थता
६. अभियोग वाद से प्रेम
७. अज्ञान अदूरदर्शिता एवं अमितव्ययता
८. महाजन और उसका गहरा चंगुल
९. सहायक धन्धो का आभाव
१०. बाढ़, अकाल और रोग
११. पशुधन की हानि
१२. भूमि और सिंचाई के भारी कर
१३. निम्न जीवन स्तर

(२) भूमि पर जन-भार की वृद्धि.—जनसंख्या की वृद्धि के साथ-साथ खेतों के छोटे-छोटे टुकड़े हो गये हैं और वे दूर-दूर बिखर भी गये हैं। परिणामस्वरूप भारतीय कृषकों की अधिकांश जोत अनार्थिक (Uneconomic) हो गई है। जिससे कृषकों को कम आय प्राप्त होती है और उन्हें ऋण लेना पड़ता है।

(३) खेतों के बिखरे हुये टुकड़े:—उत्तराधिकार के नियमों (Laws of Inheritence) के कारण खेतों का विभाजन व उपखंडन (Sub-division and Fragmentation of holdings) हो जाता है। परिणामस्वरूप या तो किसान ऋणी हो जाता है या कठोर परिश्रमी या फिर वह अपनी आय का कोई और प्रबन्ध करता है। M. L. Darling के अनुसार "कुछ एकड़ भूमि द्वारा अपने परिवार को चलाने और ऋणी न होने के लिए कुशलता के प्रति प्रेम, उद्योग और मितव्ययता की आवश्यकता है, जो एक गर्म देश में कदाचित् ही प्राप्त होते हैं। निस्सन्देह यह ठीक उसी प्रकार होगा जैसे एक छोटी खेई जाने वाली नाव अटलान्टिक सागर के तूफान का सामना करे, लेकिन इसके लिये अच्छे खेने वाले और अच्छे बनाने वाले दोनो ही जरूरी हैं, नही तो वह निश्चय ही डूब जायेगी। भारत में कभी खेत एक का रहता है तो कभी दूसरे का और प्रकृति भी भूमि पर उतनी ही नाशकारी सिद्ध हो सकती है जितनी समुद्र पर।"

(४) फसलों की अनिश्चितता (Uncertainity of Crops)—भारतीय कृषि वर्षा का जुआ है। भारतीय कृषि वर्षा पर निर्भर करती है क्योंकि कृत्रिम सिंचाई के पर्याप्त साधन उपलब्ध नही हैं। इसलिए भारतीय कृषि अनिश्चित है क्योंकि कभी वर्षा अधिक हो जाती है तो कभी कम और कभी उपयुक्त समय पर और कभी कुसमय पर।

कृषि के प्रति पाँच वर्षों में से एक वर्ष अच्छा, एक बुरा और तीन मध्यम होते हैं। इसके अतिरिक्त टिड्डी-दल, (Locusts) कीटाणु और फसलों के रोग भी कृषि की उत्पत्ति मे कमी करते हैं जिससे कृषक को ऋण लेना अनिवार्य हो जाता है।

(५) कृषकों की अस्वस्थता.—साधारणतः जिस समय अधिक कार्य करने की आवश्यकता होती है उस समय कृषक अस्वस्थ हो जाते हैं, जिससे उनकी कार्यक्षमता कम हो जाती है। परिणामस्वरूप कम आय प्राप्त होती है और वे ऋण लेने को बाध्य हो जाते हैं। कृषक अत्यन्त निर्धनता से अपना जीवन व्यतीत करते हैं। शारीरिक निर्बलता के कारण वे आसानी से बीमार हो जाते हैं।

(६) अभियोगवाद (Litigation) से प्रेम —मुकदमे लड़ने के कारण भी कृषक को ऋण लेना पड़ता है। मुकदमे लड़ना भारतीय कृषक की आदत बन गई है। श्री त्रिलोक सिंह ने सन् १९३८ में पंजाब के होशियारपुर जिले में जाँच करके यह पता लगाया था कि प्रत्येक सात परिवारों में से दो सीधे तौर से मुकदमेबाजी में लगे थे। कृषकों में झगड़े होने के कारण उनको मुकदमों पर अधिक व्यय करना पड़ता है। श्री कालवर्ट (Calvert) के अनुसार २३ लाख व्यक्ति प्रतिवर्ष अदालत में या तो गवाही देने के लिए या वादी-प्रतिवादी बन कर आते हैं।

(७) कृषकों का अज्ञान, अदूरदर्शिता और अमितव्ययता (Ignorance, Waste and Extravagance):—अज्ञानता के कारण कृषक महाजन के चंगुल में आसानी से फँस जाते हैं। कृषक सामाजिक रीति-रिवाजों (Social customs) का पालन करते समय अमितव्ययता करते हैं। विवाह, मृत्यु-भोज आदि पर वे अपनी सामर्थ्य के बाहर खर्च कर देते हैं, फलस्वरूप ऋण लेना पड़ता है। दुर्भिक्ष कमीशन के अनुसार "एक अच्छे साल में कृषक अपनी अज्ञानता के कारण शादी और अन्य उत्सवों पर अपनी सारी बचत खर्च कर देता है और अपनी फिजूलखर्ची के कारण उसे अन्य वर्षों में महाजन के पास जाना पड़ता है। अपने बच्चों की शादी या जन्म उत्सवों में किसी भी कृषक की प्रकृति अपने साथियों से अधिक खर्च करने से रोकने की नहीं होती।"

(८) महाजन और अत्यधिक ब्याज लेने की प्रथा (Village Money lender and High rates of Interest) —अपनी अशिक्षा के कारण किसान एक बार महाजन के पंजे में फँस जाने के बाद मुश्किल से ही निकल पाता है। कभी कभी महाजन बहुत ही ऊँची ब्याज की दर लेते हैं और ब्याज के बहाने प्रतिवर्ष फसल का एक निश्चित भाग ले लेते हैं। प्रान्तीय बैंकिंग समितियों की जाँच के अनुसार अनेक प्रान्तों में महाजन १२ से ३७½% दर पर ऋण देते हैं। अखिल भारतीय ग्राम साख सर्वेक्षण (All India Rural Credit Survey Report) के अनुसार कृषक

७०% ऋण महाजन व साहूकारों द्वारा प्राप्त करते हैं। महाजन कई बार रकम ज्यादा लिख लेते हैं तथा रसीद भी नहीं देते हैं।

(९) सहायक धन्धों का अभाव (Lack of Subsidiary Occupations):—ग्रामों में मशीनों से बनी हुई वस्तुओं के पहुँचने से कुटीर उद्योग धन्धो (Cottage Industries) का नाश हो गया है। सहायक व्यवसायो का देहातों में अभाव है। फलस्वरूप आय कम होने के कारण उन्हें ऋण लेने को बाध्य होना पड़ता है।

(१०) बाढ़, अकाल और रोगों के कारण पशुधन की हानि:—कृषकों के पशु चर्म तथा हड्डी के अवशेष मात्र हैं। उनके लिये पर्याप्त चारा नहीं है। वे सूखा तथा अन्य रोगों के कारण मरते जाते हैं। किसान की सबसे मूल्यवान पूँजी पशु है। अन्य साधन न होने के कारण नये पशु खरीदने के लिये ऋण लेना पड़ता है।

(११) भूमि और सिंचाई के भारी कर (Heavy taxes):—सरकार की भूमि कर नीति (Land Revenue Policy) का उद्देश्य केवल अत्यधिक आय प्राप्त करना है। श्री रमेशचन्द्र दत्त (R. C. Dutt) आदि अनेक व्यक्तियों के अनुसार कृषकों को ऋणी बनाने के लिए सरकार की लगान नीति भी दोषी है। कृषि की दशा खराब होने पर भी भूमि कर बड़ी कठोरता के साथ कृषकों से लिया जाता है, भूमि-कर चुकाने के लिये भी कृषकों को ऋण लेना पड़ता है। सन् १९०१ के दुर्भिक्ष कमीशन के अनुसार "लगान प्रबन्ध की कठोरता किसानों को उधार लेने को बाध्य करती है और उनकी कीमती सम्पत्ति उन्हें उधार लेने में सहायता देती है।" अनेक दुर्भिक्षों में भी लगान में छूट नहीं दी गई, लगान चुकाना एक बोझा मालूम देता है और उन्हें ऋण लेने को बाध्य होना पड़ता है।

उत्पादक कार्यों के लिये उधार दिये गए द्रव्य के फलस्वरूप अधिक समृद्धि होती है किन्तु अनुत्पादक उद्देश्यों में लगाया हुआ ऋण सदा बढ़ते जाने वाला भार बना रहता है।

कृषकों का रहन-सहन का निम्न स्तर और गरीबी का कारण उनकी ऋणग्रस्तता ही है। केन्द्रीय बैङ्किङ्ग जांच समिति (Central Banking Enquiry Committee) के अनुसार "अच्छी फसल के दिनों में भी ऋण निम्न जीवन स्तर तथा कृषकों की उन्नति में बाधा डालने वाले कारणों में प्रमुख है। यह कम आय और गरीबी, खेतों में काफी पूँजी लगाने में बाधा डालती है और किसानों के नैतिक स्तर को गिराने के प्रमुख कारणों में से है। यह कृषकों को शारीरिक व मानसिक रूप से निर्बल करती है। ये सब कारण कृषि में अयोग्यता उत्पन्न करते हैं और ऋण इन कारणों के मूल में रहकर इन्हें बढ़ाता है।"

ऋण [redacted] कारण कृषि की उत्पादकता कम हो जाती है क्योंकि महाजन अनुपस्थित भू-स्वामी (Absentee Landlord) बन जाते हैं। जो कृषक भूमि अपने पास रखते हैं वे उदासीन रहते हैं क्योंकि वह ऋण उतारने में असमर्थ रहते हैं और हमेशा भयभीत रहते हैं कि कहीं उनके ऋण न चुकाने से भूमि छिन न जाए। जब किसान यह देखता है कि उसके प्रयत्नों का लाभ केवल उसके ऋणदाता को ही मिलता है तब वह अपनी स्थिति को सुधारने में दिलचस्पी लेना बन्द कर देता है।

ऋणों को ऋणदाता के लिये अनेक बार छोटे से छोटे काम करने पड़ते हैं। कृषक को महाजन की गुलामी करनी पड़ती है। कृषक अपनी सम्पत्ति और आर्थिक स्वतंत्रता खो बैठता है। देश में असन्तुष्ट और भूमिहीन श्रमिकों की संख्या बढ़ने से सामाजिक क्रान्ति व राजनैतिक आन्दोलन का भय रहता है।

कृषि की उत्पादित वस्तुओं के ठीक २ विक्रय (Sale) में भी ऋण बाधा डालता है। ऋणी कृषक को अपनी सब फसल महाजन को बेचनी पड़ती है जो बाजार-भाव से कम मूल्य चुकाता है। इस प्रकार कृषक को पैदावार का उचित मूल्य प्राप्त नहीं होता है।

ऋण से छुटकारे के उपाय (Remedies)

भारत में राष्ट्र की आर्थिक व्यवस्था की सुदृढ़ आधारशिला भारतीय कृषक ही कहे जा सकते हैं। यह आवश्यक है कि कृषक ऋण से मुक्त हो और उनके लिये साख (Credit) उपलब्ध होने के ऐसे साधन (Means) प्रस्तुत किये जायें जिनसे उन्हें उचित ब्याज दर पर ऋण मिल सके। पिछली शताब्दी के अन्तिम वर्षों में ही सरकार का ध्यान कृषकों की ऋणग्रस्तता की समस्या की ओर आकर्षित हो गया था। कृषक को महाजनों के चंगुल से बचाने के लिये सरकार ने तकावी ऋणों (Taccavi Loans) की व्यवस्था की। ये ऋण अधिक लोकप्रिय नहीं हो सके क्योंकि ये विशेष कामों के लिये ही दिये जाते हैं और इनको एकत्रित करने में कठोरता प्रयोग में लाई जाती है। सन् १८८३ में भूमि सुधार ऋण विधान पास किया गया जिसके अनुसार दीर्घकालीन स्थायी सुधार के लिये ऋण दिये जाने लगे। परन्तु इसका मुख्य दोष

ऋण से छुटकारे के उपाय

१ ऋण-दात्री संस्थाओं की स्थापना
२. तकावी जैसे ऋणों की समुचित व्यवस्था
३. भूमि सुधार
४. पुराने ऋणों का निपटारा
५. नये ऋणों पर प्रतिबन्ध
६. विधान द्वारा ऋण समझौता
७. भविष्य के लिये ब्याज दर निश्चित करना
८. भूमि बदलाव कानून
९. महाजनों के लिये लाइसेंस व रजिस्ट्री
१०. सहकारिता का प्रसार

यह था कि ऋण पुराने ऋणों को उतारने और खेतों की चकबन्दियों (Consolidation of holdings) के लिये नहीं दिया जाता था। सन् १८८४ में कृषक ऋण विधान पास किया गया था जिसके अनुसार अल्पकाल के लिये कृषि की चालू आवश्यकताओं (Current needs) की पूर्ति के लिये ऋण दिया जाता था। सरकार ने अन्य उपाय भी अपनाये जैसे मितव्ययता की भावना को प्रोत्साहन देना, सहकारी संस्थाओं का विकास आदि। परन्तु इन सब उपायों से कृषक की दशा को नहीं सुधारा जा सकता जब तक ग्राम की विभिन्न समस्याओं को एक साथ हल न किया जाए।

ऋणग्रस्तता की समस्या को दो प्रकार से हल किया जा सकता है—

१. पुराने ऋणों के निपटारे द्वारा (Liquidation of old debts)
२. नये ऋणों पर प्रतिबन्ध (Restrictions) द्वारा।

पुराने ऋणों का निपटारा—जब तक पुराने ऋणों का भार कम न किया जाएगा किसान की उन्नति की आशा नहीं की जा सकती। जहां कहीं ऋणी की सम्पत्ति उसके ऋण को चुकाने के लिये पर्याप्त न हो उसे दिवालिया (Bankrupt) घोषित कर देना चाहिये। कृषि कमीशन (Agriculture Commission) ने लिखा है कि "कोई भी पूरी तरह से दिवालिया बनना नहीं चाहता, न कोई ऐसी प्रणाली को देखते रहना चाहता है जिससे आधीन मनुष्य ऋण में जन्म ले, ऋण में ही जीवन बिताये और इस प्रकार ऋणी बना रहकर मरे कि अपने ऋण को अपने उत्तराधिकारियों को दे जाए।" कुछ राज्यों में कुछ विशेष परिस्थितियों में दिवालिया घोषित करने की अनुमति देने के कानून बने हैं। अन्य राज्यों में ऋणों की अदायगी स्थगित किये जाने और ऋणों में कमी करने तथा ऋणों को समझौते से समाप्त करने के कानून बनाये गए हैं।

ऋणों की अदायगी के स्थगित किये जाने का अभिप्राय अदालत में ऋण चुकाये जाने की कार्यवाही को रोक दिया जाना है। मंदी (Depression) के समय किसानों की रक्षा करने के लिये यह व्यवस्था बहुत पहिले की गई थी। इसका अभिप्राय यह था कि डिग्री (Decree) को एक दम निष्पादन (execute) न कराया जा सके। ऋणियों पर डिग्रियों के निष्पादन को रोकने तथा उनको बेदखली को रोकने के कानून उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश तथा बम्बई में बनाये गये थे। अन्य राज्यों में भी ऋण सहायता अधिनियम पास करके न्यायालयों में कार्यवाही को रोकने की व्यवस्था की गई।

सन् १९३० की मन्दी के बाद इस विचार ने अधिक महत्व ग्रहण कर लिया कि उन पैतृक ऋणों (Ancestral Debts) को कम किया जाए जो अनुत्पादक हैं। इसलिये अनेक प्रान्तीय सरकारों ने कानून बनाए जिनके अन्तर्गत ऋण समझौता समिति (Debt Conciliation Boards) की स्थापना की गई जिनके सदस्य सरकारी

अधिकारी ऋण व ऋणदाताओं के प्रतिनिधि थे। ऋण समझौता विधान का अभिप्राय यह था कि ऋणी तथा ऋणदाता दोनों समझौता बोर्डों की सहायता से ऋण के बारे में आपस में समझौता करलें। बोर्ड को फैसला देने की शक्ति नहीं है परन्तु वह दोनो पक्षो को समझौता करने के लिये आग्रह करता है। प्रान्त का कोई भी ऋणी या ऋणदाता बोर्ड को अर्जी देकर ऋण सम्बन्धी झगडे तय करवा सकता है। बोर्ड आपसी स्वीकृति से ऋण की रकम घटाने (Scaling down of Debts) में मदद करता था, करवा सकता है। जब समझौता हो जाता है तो बोर्ड उस पर हस्ताक्षर कर देता है और उसकी रजिस्ट्री हो जाती है। तब उसके बाद ऋणी की आर्थिक स्थिति का ध्यान रखते हुए १५ से २० वर्ष तक की किश्तें (Instalments) कर दी जाती हैं। ऋण समझौता बोर्डों को मध्य प्रदेश, बंगाल, मद्रास व पंजाब मे पर्याप्त सफलता मिली है। बोर्डों द्वारा मध्य प्रदेश और बरार तथा बंगाल में कुल ऋण की मात्रा क्रमश ५०% और ६४% कम हो गई।

ऋण को अनिवार्य रूप से कम करने और समाप्त करने के लिए बंगाल, मद्रास में १६३८ मे और मध्य प्रदेश, बरार, उत्तर प्रदेश व बम्बई मे १६३६ मे ऋण परिशोध विधान *(Debt Relief Act)* पास किये गये। इन अधिनियमो के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं:—

(१) बकाया ऋणो की रकम को इस प्रकार कम करना कि वह ऋणदाता द्वारा वसूल की हुई सब रकमो को मिलाकर मूलधन के दुगने से न बढने पाये,

(२) ब्याज की बकाया रकम को कम करना, और

(३) भविष्य के लिए ब्याज की दर निश्चित करना।

मद्रास कृषक परिशोधन विधान ने अनिवार्य रूप से ऋणों को कम कर दिया है। विधान के अनुसार ऋण दो भागों में बाँटे गए हैं:—(१) जो मन्दी से पहिले के हैं और (२) जो मन्दी के बाद लिये गये हैं। जो ऋण मन्दी से पहिले लिये गए थे उनके ब्याज, अगर देने बाकी रहे थे, समाप्त कर दिये गए और जो ऋण मन्दी के बाद लिये गये हैं उनका ब्याज ५% निश्चित कर दिया गया।

नये ऋण लेने पर नियन्त्रण:—नये ऋणों के लेने पर नियन्त्रण (Control) करके भी ऋणग्रस्तता की समस्या को काफी हल किया जा सकता है। कृषकों को अनुत्पादक कार्यों के लिए ऋण लेने को अनुत्साहित किया जाना चाहिए। प्रचार कार्य तथा शिक्षा द्वारा दूरदर्शिता उत्पन्न की जानी चाहिए। कृषकों के साख लेने की शक्ति को कम करना चाहिए। भूमि की कीमत बढ जाने से ऋण अधिक लिये जाते हैं अतः भूमि के हस्तान्तरण (Transfer of holdings) को सीमित कर देने से ऋण लेना कम हो सकता है।

इस विचार से कि कृषकों से भूमि न छीनी जाए भूमि बदलाव कानून (Land Alienation Act) बने। ये कानून भूमि के हस्तांतरित (Transfer) करने पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए बने थे। पंजाब का भूमि बदलाव कानून सन् १६०० में और बुंदेलखंड का सन् १६१६ मे इस प्रवृत्ति से लागू किये गये ताकि कृषकों से भूमि छीनी न जाए।

कृषकों को महाजन के चंगुल से बचाने के लिए महाजन पर नियंत्रण करना आवश्यक है। सन् १६३० की मन्दी के पूर्व महाजनो पर नियन्त्रण के सम्बन्ध में सरकार द्वारा उठाये गये कदम प्रभावशाली नही थे क्योंकि यह भय था कि अधिक नियन्त्रण लगाने से कृषक का ऋण-प्राप्ति का साधन कहीं कम न हो जाये। किन्तु मन्दी के पश्चात् महाजनो के नियन्त्रण के लिये कठोर उपाय अपनाये गये हैं। अधिकांश प्रान्तीय सरकारों ने 'महाजन-विधान' (Money-Lenders Act) पास किये। इन विधानों की मुख्य बातें निम्न हैं :—

(१) महाजन को रजिस्ट्री और उसका लाइसेंस लेना अनिवार्य कर दिया गया है। बेइमानी करने पर लाइसेंस रद्द किया जा सकता है और लाइसेंस न लेने वाले ऋणदाता पर जुर्माना किया जा सकता है।

(२) हिसाब-किताब को नियमित रूप से रखना जरुरी हो गया है। प्रति छः मास बाद महाजन अपने ऋणी को लिखित ब्योरा भेजता है। इन नियमों का उल्लंघन करने पर महाजन दण्ड का भागी होता है।

(३) ब्याज की दरों का नियन्त्रण कर दिया गया है। ब्याज की अधिकतम दर, जो ली जा सकती है उसको कानून द्वारा तय कर दिया गया है। सुरक्षित तथा असुरक्षित ऋणों में अन्तर कर दिया गया है। बंगाल, बिहार, आसाम आदि के विधानों के अनुसार कुल ब्याज मूलधन (Captial) से दुगना नहीं लिया जा सकता।

किन्तु विधानों का प्रभाव अधिक नही पड़ा है। इन नियमों की अवहेलना की जाती है। ब्याज की दरें कम नही हुई हैं। कानूनों से बचने के लिये महाजन ऐसे ही किसानो को ऋण देता है जो पुराने और विश्वसनीय हैं। ऋण कम करने में भी विशेष सफलता नहीं मिली है क्योंकि घटी हुई रकम के चुकाने के साधन भी कृषक के पास न थे। सहकारी साख आन्दोलन ने भी बहुत कम प्रगति की है। अखिल भारतीय ग्राम साख सर्वेक्षण की रिपोर्ट के अनुसार सहकारी समितियों ने सिर्फ ३.१% ऋण प्रदान किया है।

भारत मे ग्रामीण ऋणग्रस्तता की समस्या का हल अभी नहीं हुआ है। यह समस्या कानून बनाकर हल नहीं हो सकती। इसके लिये कृषि को एक लाभकारी व्यवसाय बनाया जाना चाहिए। कृषि को लाभकारी व्यवसाय उत्पत्ति बढ़ाकर, लागत

कम करके और कीमतों का स्थायीकरण (Stabilisation of prices) करके बनाया जा सकता है। ग्रामीण ऋण की समस्या को हल करने के लिये गैडगिल समिति (Gadgil Committee) ने ये सुझाव दिये थे:—

(१) कृषि उत्पादन में लगे हुए कृषकों का ऋण अनिवार्य रूप से पुनः निर्धारित किया जाये। लगान का बकाया भी ऋण समझा जाए।

(२) ऋणी द्वारा देय ऋण की मात्रा इस प्रकार निश्चित होनी चाहिये कि वह उसे २० वर्ष में ४ प्रतिशत सूद की दर से अथवा अपनी अचल सम्पत्ति के सामान्य मूल्य के ५० प्रतिशत द्वारा अदा करने में समर्थ हो सके बशर्ते कि—

(अ) सुरक्षित कर्ज की रकम जिस जायदाद के आधार पर दी गई है, ५० प्रतिशत से कम नहीं करना चाहिए,

(ब) सुरक्षित कर्ज (Secured Loan) का अनुपात असुरक्षित कर्ज के अनुपात से बढ़ाना न चाहिये।

(३) ऋण देने वालों अर्थात् महाजनों को अपने रजिस्टर्ड करवाना चाहिए तथा अपनी पूंजी आदि का विवरण निश्चित् समय में सरकार के सम्मुख प्रस्तुत करना चाहिए।

(४) निश्चित की गई कर्ज-राशि भूमि-बंधक बैंक (Land Mortgage Banks) से या इसी प्रकार की अन्य एजेन्सी से लेकर चुका देनी चाहिए।

(५) बैंक अथवा अन्य एजेन्सी इस रकम को कृषक से २० किश्तों में वसूल करें।

कांग्रेस कृषि सुधार समिति (Congress Agrarian Reforms Committee) (१९४५) ने भी ऋण के पुनः निर्धारित सम्बन्धी सुझाव का समर्थन किया है।

अन्य देशों की तुलना में भारत के रिजर्व बैंक (Reserve Bank of India) की यह विशेषता रही है कि इसने ग्रामीण वित्त में महत्वपूर्ण भाग लिया है। प्रारम्भ से ही रिजर्व बैंक अधिनियम में एक कृषि साख विभाग (Agricultural Credit Department) स्थापित करने की व्यवस्था की गई। अगस्त १९५१ में अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण के लिये एक निर्देशक कमेटी (Committee of Direction) नियुक्त की गई। उसने १९५४ में अपनी रिपोर्ट दी। इसमें सहकारी आन्दोलन को सबल बनाने की आवश्यकता पर जोर दिया गया। ग्रामीण साख की एकीकृत योजना (Integrated System of Rural Credit) का सुझाव दिया गया जिसमें सहकारी समितियों में राज्य की साझेदारी साख व गैर-साख दोनों क्षेत्रों में सहकारी विकास एवं कर्मचारियों के प्रशिक्षण पर जोर दिया गया। कमेटी के सुझाव के अनुसार भारत के इम्पीरियल बैंक (Imperial Bank) को सन् १९५५ में स्टेट बैंक (State Bank of India) के रूप में बदल दिया गया। स्टेट बैंक की प्रगति संतोष जनक रही है। पिछले वर्षों में बैंक ने ४५० से भी अधिक शाखायें खोली हैं।

कमेटी के प्रस्ताव के अनुसार रिजर्व बैंक के आधीन दो कोष बना दिये गए हैं:—

(१) राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन) कोष दस करोड़ की आरम्भिक पूंजी से, और

(२) राष्ट्रीय कृषि साख (स्थिरीकरण) कोष। इसमें ३० जून १९५६ से प्रत्येक ५ वर्ष के समय में बैंक प्रतिवर्ष १ करोड़ रुपये से कम न देगा।

पहला कोष सहकारी साख संस्थाओं को शेयर पूंजी (Share Capital) में धन लगाने के लिये तथा भूमि रेहन बैंकों को उधार तथा उपजाऊ धन देने के लिये है। दूसरा कोष राजकीय सहकारी बैंकों को मध्यमकालीन ऋण तथा अग्रिम धन (Advance Loans) देने के लिये है जिससे वह जहाँ कहीं आवश्यक हो अल्प-कालिक ऋणों को माध्यमिक ऋणों में बदल सके।

इस प्रकार रिजर्व बैंक ग्रामीण वित्त व्यवस्था में महत्वपूर्ण भाग ले रही है। किन्तु ग्रामीण ऋणग्रस्तता की समस्या का स्थायी हल तभी हो सकेगा जब कि कृषक की समस्त सामाजिक व आर्थिक परिस्थितियों में आमूल परिवर्तन कर दिया जाए। कृषक की ऋणग्रस्तता उसके आर्थिक विकास की समस्या से सम्बन्धित है। गरीबी, अशिक्षा, मूल्यों की अस्थिरता, कम उत्पादन ही कृषक की अवनत अवस्था के कारण है, अतः एक सर्वांगीण (Alround) दृष्टिकोण को लेकर किसी योजना के कार्यान्वित करने की आवश्यकता है। ग्रामीण वित्त व्यवस्था को सुधारने का सबसे बड़ा तरीका है सहकारी आन्दोलन। सहकारी आन्दोलन की सफलता पर कृषि विकास व ग्रामोत्थान निर्भर है। यह ठीक है कि सहकारी आन्दोलन अब तक अधिक सफल नहीं हो सका है, परन्तु हमें इसे सफल बनाना होगा। ग्रामीण साख सर्वेक्षण रिपोर्ट के अनुसार "सहकारी आन्दोलन (भारत में) असफल हुआ है, परन्तु सहकारी आन्दोलन को अवश्य ही सफल होना चाहिये।" इसमें ग्रामीण जनता का हित निहित है।

सारांश (Summary)

भारत की आर्थिक प्रगति ग्रामीण जीवन की प्रगति से सम्बन्धित है, और इसकी आशा उसी समय की जा सकती है जब कि उसके आधारभूत व्यवसाय कृषि की उन्नति हो। ऋण कृषक पर अपना भार पीढ़ियों तक चलाते हैं। भारतीय कृषक की ऋणग्रस्तता को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं—(१) ग्रामीण ऋण का परिमाण, (२) ऋणग्रस्तता के कारण, और (३) उनका परिणाम, और अपनाये गये उपाय और भावी कार्यक्रम।

ऋण का परिमाण

ऋण की तीव्रता तथा परिमाणों को नापने के लिये भारत मे कई प्रयत्न किये गये हैं। सर्वप्रथम प्रयत्न १८७५ मे दक्षिण रैय्यत कमीशन ने किया, जिसने बतलाया कि १/३ मौसमी काश्तकार ऋणग्रस्त हैं। इनका औसत ऋण ३७१ रु० है। १८८० मे दुर्भिक्ष कमीशन के अनुसार कम से कम ३/४ कृषक ऋण ग्रस्त थे। डा० मैन के मतानुसार १९०१ मे बम्बई प्रान्त का प्रत्येक किसान १३० रु० से ऋणी था। १९११ में मेकलैगन महोदय ने समस्त ग्रामीण ऋण ३०० करोड़ रुपये आंका था। फिर यह ऋण १९२१ मे ६०० करोड़, १९२९ में ९०० करोड़, १९३५ मे १२,०० करोड रुपये तथा १९३७ में रिजर्व बैंक के कृषि विभाग के मतानुसार यह ऋण १८०० करोड़ रु० तक पहुंच गया। ये ऋण तीन प्रकार के थे—दीर्घकालीन, मध्य-कालीन एवं अल्पकालीन। ये ऋण अधिकांशतः अनुत्पादक कार्यों के लिये लिये गये थे।

ऋणग्रस्तता के कारण और उनका परिणाम

(१) पैतृक ऋण, (२) भूमि पर जन-भार में वृद्धि, (३) उत्तराधिकार के नियमो मे दोष, (४) फसलो की अनिश्चितता, (५) कृषकों की अस्वस्थता, (६) अभियोगवाद से प्रेम, (७) कृषकों का अज्ञान, अदूरदर्शिता और अमितव्ययता, (८) महाजन और उसका गहरा चंगुल, (९) सहायक धन्धों का अभाव, (१०) बाढ़, अकाल और रोग, (११) पशु, धन की हानि, (१२) भूमि और सिंचाई के भारी कर, और (१३) निम्न जीवन-स्तर।

परिणाम

(१) कृषि उत्पादन मे कमी, (२) अनुपस्थित भूस्वामी प्रथा का जन्म, (३) बेगारी प्रथा को प्रोत्साहन, (४) विक्रय एवं गोदाम व्यवस्था दोषपूर्ण, (५) असंतुष्ट कृषक सामाजिक एवं आर्थिक क्रान्ति को जन्म देते हैं।

छुटकारे के उपाय

(१) उचित तरीके पर ऋण-दात्री संस्थाओं की स्थापना, (२) तकावी जैसे ऋणों की समुचित व्यवस्था, (३) भूमि सुधार, (४) पुराने ऋणों का निपटारा, (५) नये ऋणों पर प्रतिबन्ध, (६) विधान द्वारा ऋण समझौता एवं बकाया का कम करना, (७) भविष्य के लिये ब्याज की दर निश्चित करना, (८) भूमि बदलाव कानून, (९) महाजनो की रजिस्ट्री और लाइसेंस प्रथा तथा हिसाब किताब तथा जाँच का प्रबन्ध, (१०) सहकारिता का प्रसार।

सरकारी प्रयत्न

(१) कृषक परिशोधन विधानो का पास किया जाना, (२) भूमि बदलाव कानून का लागू किया जाना, (३) महाजनो पर नियंत्रण, (४) ब्याज की दरों का नियंत्रण, (५) सहकारी साख समितियों का निर्माण।

गेडगिल कमेटी के प्रस्ताव—(१) ऋण को पुनः निर्धारित किया जाये, (२) ऋणी एवं देयऋण की मात्रा सुविधापूर्वक निश्चित की जाये, (३) भूमि बंधक बैंको का स्थान, (४) अन्य प्रकार की एजेन्सियों की स्थापना।

(i) रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा किये गये कार्य, (ii) ग्रामीण साख सर्वेक्षण कमेटी (iii) ग्रामीण साख की एकीकृत योजना।

कोषों की स्थापना

(अ) राष्ट्रीय कृषि साख कोष, (आ) राष्ट्रीय कृषि साख (स्थिरीकरण) कोष के द्वारा किये गये कार्य।

प्रश्न

(१) ग्रामीण ऋणग्रस्तता से आप क्या समझते हैं ?

(२) भारतवर्ष में ग्रामीण ऋण-ग्रस्तता के क्षेत्र में क्या क्या प्रयत्न किये गये हैं।

(३) ग्रामीण ऋण ग्रस्तता की समस्या पर अपने विचार व्यक्त कीजिये।

———

अध्याय ६

भारत में सहकारिता
(विशेषतः कृषि एवं ग्रामीण क्षेत्र में)
CO-OPERATIVE MOVEMENT IN INDIA
(Particularly in our rural areas)

"यदि सहकारिता सफल हो जाय, तो ग्रामीण भारत की सबसे बड़ी आशा समाप्त हो जायगी।" —शाही कृषि आयोग

अभिप्रायः—सहकारिता आर्थिक दृष्टि से दुर्बल व्यक्तियों के उस संगठन का नाम है, जो स्वेच्छा से आर्थिक हितों की पूर्ति के लिये बनाया जाता है। मैकलेगन समिति के अनुसार "सहकारिता का सिद्धान्त बहुत संक्षेप में यह है कि एक अकेला व शक्तिहीन व्यक्ति दूसरों के योग एवं नैतिक विकास तथा पारस्परिक सहायता से अपनी सामर्थ्य के अनुसार वे भौतिक लाभ प्राप्त कर सके जो धनी व शक्तिशाली व्यक्तियों को मिले हुए हैं, और इस प्रकार अपने सहज गुणों का पूर्ण रूप से विकास कर सके।" श्री स्ट्रिकलैण्ड (Strickland) के अनुसार एक सहकारी समिति की अपनी विशेषताएँ होती हैं : (१) यह स्वेच्छापूर्ण (Voluntary) होती है, (२) यह जनतांत्रिक (Democratic) होती है, तथा (३) इसके उद्देश्यों में नैतिक (Moral) तत्व भौतिक तत्व के समान ही महत्वपूर्ण होता है। सहकारिता में सहयोग करने वाले अधिकांश रूप से गरीब लोग होते हैं। इस पद्धति का विकास सर्वप्रथम जर्मनी में हुआ जहाँ से इसका प्रसार अन्य देशों में हुआ।

भारत में इसकी उत्पत्ति एवं विकासः—सर्वोदय अर्थ-व्यवस्था का निर्माण सहकारिता के आधार पर ही हो सकता है। भारत में सहकारी आन्दोलन के उद्गम का मुख्य कारण था उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में कृषकों की दयनीय स्थिति। भारत में प्रारम्भ में प्रमुख रूप से यह साख (Credit) आन्दोलन हो गया क्योंकि यह सर्वप्रथम अशिक्षित, दरिद्र एवं ऋणग्रस्त किसानों को महाजनों के चंगुल से छुड़ाने के लिए प्रारम्भ किया गया। किन्तु आज यह अपने सदस्यों के आर्थिक जीवन के समस्त अंगों को अपने अन्दर धारण किये हुए है।

सर्वप्रथम सन् १८८२ में सर विलियम वेडरवर्न एवं श्री रानाडे ने लार्ड रिपन (Lord Ripon) को भारत में सहकारी कृषि बैंकों की स्थापना का विचार प्रस्तुत किया था। शताब्दि के अन्त में मद्रास सरकार ने कृषि तथा भूमि बन्धक बैंक

(Land Mortgage Bank) स्थापित करने के सम्बन्ध में छानबीन करने के लिए सर फ्रेडरिक निकलसन की नियुक्ति की। निकलसन (Sir Frederick Nicholson) ने अपनी रिपोर्ट (सन् १८६५-६७) में भारत में सहकारी साख-समितियों की स्थापना की सिफारिश की, जिससे "कृषक के लिये आवश्यकता के अनुसार न्यूनाधिक होने वाली साख-सुविधायें प्रदान की जा सकें।" निकलसन ने अपनी सिफारिशों को दो शब्दों में कहा "Find Raiffeisen"।

इसके पश्चात् अकाल आयोग (Famine Commission of 1901) ने भी गाँवों में सहकारी साख समितियों की स्थापना पर जोर दिया और कहा की प्रगति के लिये सरकार द्वारा प्रत्यक्ष रूप से अधिनियम बनाये जाने चाहिये। इसी वर्ष भारत सरकार के अर्थ सचिव एडवर्ड लॉ की अध्यक्षता में सम्पूर्ण समस्या की जाँच करने के लिये एक समिति की नियुक्ति की गई। समिति की सिफारिश के आधार पर अक्टूबर सन् १६०१ में संसद में सहकारी साख समितियाँ विधेयक रखा गया, जो सन् १६०४ में स्वीकृत हुआ। सहकारी ऋण समिति अधिनियम (Co-operative Credit Societies Act) का उद्देश्य किसानों, दस्तकारों तथा सीमित साधनवाले व्यक्तियों (Persons of limited means) में बचत, स्वावलम्बन तथा सहयोग की वृद्धि करना था।

ग्रामीण समितियों के संगठन में रैफीसेन (Raiffeisen) के सिद्धान्तों को तथा नागरिक समितियों के संगठन में शुल्ज़े डेलिश (Schulze-Dehtzsch) के सिद्धान्तों का अनुसरण किया गया। यह दोनों ही जर्मनी के सहकारिता आन्दोलन के मार्ग-दर्शक थे।

रैफीसन प्रणाली की प्रमुख विशेषताएँ निम्न हैं:—

(१) दस या अधिक व्यक्ति एक समिति बना सकते हैं।

(२) समिति का क्षेत्र एक गाँव तक सीमित होता है जिससे सदस्यों की आवश्यकताओं, आर्थिक एवं सामाजिक स्थिति के बारे में पूर्ण जानकारी रहे।

(३) सदस्यों की देनदारी का दायित्व असीमित (Unlimited Liability) होता है।

(४) शेयर जारी नहीं किये जाते हैं पूँजी को सदस्यों के सम्मिलित उत्तरदायित्व (Joint Liability) पर उधार लेकर प्राप्त किया जाता है।

(५) ऋण केवल उत्पादक कार्यों के लिये ही दिये जाते हैं।

(६) प्रजातान्त्रिक एवं अवैतनिक (Honorary) प्रबन्ध होता है। एकमात्र मन्त्री—कोषाध्यक्ष ही वैतनिक सदस्य होते हैं।

(७) लाभांश बाँटा नहीं जाता।

(८) सुरक्षित कोष (Reserve Fund) स्थायी होता है और समिति के भंग होने पर सार्वजनिक या पारमार्थिक उद्देश्यो मे लगा दिया जाता है।

(९) नैतिक व भौतिक समृद्धि पर समान बल दिया जाता है।

शुल्जे-डेलिश्च प्रणाली के प्रमुख सिद्धान्त निम्न हैः—

(१) विस्तृत कार्य-क्षेत्र, अधिक से अधिक सदस्य बनाये जाते हैं।

(२) साधारण बैंकिङ्ग व्यवसाय किया जाता है।

(३) लाभांश का वितरण होता है।

(४) उत्तरदायित्व सीमित होता है।

(५) प्रबन्ध वैतनिक होता है।

(६) मानवीय उद्देश्यों की अपेक्षा भौतिक उद्देश्य अधिक होता है।

हम भारतमें सहकारी आन्दोलन के इतिहास को निम्न भागो मे बाँट सकते हैं:—

प्रथम काल (१९०४-१९११)

सहकारी साख-समिति अधिनियम १९०४ की प्रमुख विशेषतायें इस प्रकार थीः—

सहकारी आन्दोलन की प्रगति के काल
१. १९०४—१९११
२. १९१२—१९१९
३. १९२०—१९२९
४. १९३०—१९४०
५. १९४१—१९४६
६. १९४७—

(१) कोई भी दस वयस्क व्यक्ति (Adults) मिलकर सहकारी-साख समिति की स्थापना कर सकते हैं लेकिन सदस्य एक ही गाँव, कस्बा अथवा ग्राम-समूह के निवासी होने चाहिये।

(२) समितियों का विभाजन दो वर्गों में किया गया है। यदि किसी समिति के ⅘ सदस्य कृषक हैं तो वह ग्रामीण साख-समिति होगी और यदि ⅘ सदस्य गैर-कृषक हैं तो वह शहरी साख-समिति होगी।

(३) ग्रामिण साख-समितियो के सदस्यो की देनदारी असीमित (Unlimited Liability) होगी। शहरी समितियो के सदस्यो की देनदारी सीमित (Limited Liability) होगी, परन्तु उनकी इच्छानुसार असीमित भी हो सकती है।

(४) समिति का प्रमुख कार्य सदस्यो, गैर सदस्यों सरकार तथा अन्य सहकारी संस्थाओं से ऋण लेकर राशि प्राप्त करना और इस राशि को सदस्यों एवं अन्य सहकारी संस्थाओ को ऋण देने का है।

(५) समिति के हिसाब किताब की जांच रजिस्ट्रार (Registrar) या उसके द्वारा नियुक्त अधिकारी बिना किसी शुल्क (Fees) के करेगा।

(६) ग्रामीण साख समितियों के लाभ सदस्यों में नहीं बाँटे जायेंगे। समस्त लाभ वर्ष के अन्त में सुरक्षित कोष (Reserve Fund) में जमा कर दिये जायेंगे और जब इस कोष की रकम वैधानिक राशि से अधिक हो जायेगी तब यह राशि सदस्यों में बोनस (Bonus) के रूप में बाँटी जा सकती है।

(७) ऋण केवल सदस्यों को ही बाँटे जा सकते हैं।

(८) एक सदस्य द्वारा हिस्से (Shares) खरीदने की अधिकतम संख्या भी सीमित थी। सहकारी समितियाँ आय कर (Income Tax) स्टाम्प कर, रजिस्ट्री शुल्क आदि से मुक्त थीं।

लेकिन शीघ्र ही १९०४ के अधिनियम में कुछ त्रुटियाँ देखने में आईं:—

(१) गैर साख समितियों (Non-Credit Societies) के लिये कोई व्यवस्था नहीं थी।

(२) निरीक्षण (Supervision) तथा पूँजी मिलने के लिये उसमें केन्द्रीय संगठनों की व्यवस्था नहीं की गई थी।

(३) समितियों का नागरिक तथा ग्रामीण रूप में वर्गीकरण अवैज्ञानिक तथा असुविधाजनक था।

(४) ग्रामीण समितियों में सदस्यों में लाभ वितरण पर प्रतिबन्ध होने के कारण ग्रामीणों को वे अधिक प्रभावित न कर सकी।

इन दोषों की ओर रजिस्ट्रार सम्मेलनों में सरकार का ध्यान आकर्षित किया गया।

द्वितीय काल १९१२—१९१९

अतः इन कमियों को दूर करने के लिये १९१२ में सहकारी समिति अधिनियम (Co-operative Societies Act) पास किया गया। इस अधिनियम की निम्न विशेषताएँ थीं:—

(१) क्रय-विक्रय, उत्पादन, बीमे, मकान बनाने आदि के लिये गैर-साख समितियों की रजिस्ट्री की व्यवस्था की गई।

(२) निरीक्षण एवं आर्थिक सहायता के लिये निम्न नये संगठनों की व्यवस्था की गई—

(अ) मौलिक समितियों (Primary Societies) के संघ (Unions)।

(ब) केन्द्रीय बैंक (Central Bank)।

(स) प्रान्तीय बैंक (Provincial Bank)।

(३) ग्रामीण एवं नागरिक समितियों का अन्तर समाप्त कर दिया गया तथा सीमित एवं असीमित दायित्व-समितियों का अधिक वैज्ञानिक वर्गीकरण, C(lassification) किया गया।

(४) लाभ का ¼ भाग संचित कोष में रखने के बाद कोई भी समिति रजिस्ट्रार की अनुमति से शेष लाभ का १० प्रतिशत तक दान के रूप में दे सकती है।

(५) प्रान्तीय समितियों को समितियों से सम्बन्धित नियम आदि बनाने के लिये पर्याप्त अधिकार दिये गये।

अन्य नियम १९०४ के एक्ट के अनुसार ही रहे। १९१२ के कानून से सहकारी आन्दोलन के विकास को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। समितियों की संख्या एवं सदस्यता में प्रगति हुई। सन् १९१४-१५ तक समितियों की संख्या १२,००० से अधिक, सदस्यता ५ लाख एवं कार्यशील पूंजी (Working Capital) ५ करोड़ रुपये से अधिक की थी। सहकारी आन्दोलन की उन्नति का निरीक्षण करने के लिए १९१४ में सर एडवर्ड मैकलेगन की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की गई, जिसने अपनी रिपोर्ट सन् १९१५ में प्रस्तुत की और अनेक उपयोगी सुझाव प्रस्तुत किये। समिति ने इस बात पर बल दिया कि सहकारिता की भावना स्वयं उत्पन्न होनी चाहिये। हिसाब-किताब की उचित प्रकार से जाँच (Audit) होनी चाहिये और आन्दोलन पर कड़ा प्रतिबन्ध होना चाहिये। समिति का सुझाव था कि साख-समितियों का वर्गीकरण निम्न प्रकार से होना चाहिये:—

(१) प्रारम्भिक समितियाँ (Primary Societies)

(२) सहकारी यूनियन (Co-operative Unions)

(३) केन्द्रीय सहकारी बैंक (Central Co-operative Banks) और

(४) प्रान्तीय सहकारी बैंक (Provincial Co-operative Banks)।

कमेटी ने यह भी बताया कि ग्रामीण साख-समितियों की सफलता के लिये सहकारिता के सिद्धान्त का ज्ञान तथा सदस्यों का सही चुनाव, ईमानदारी, प्रजातान्त्रिक प्रबन्ध, सुदृढ़ सुरक्षित कोष आदि सिद्धान्त आवश्यक थे।

तृतीय काल (१९२०-१९२९)—

सन् १९१९ के सुधारों के अधीन सहयोग को प्रान्तीय हस्तान्तरित विषय (Provincial Transferred Subject) बना दिया गया, जिससे प्रान्तीय सरकारों की रुचि तथा व्यापारिक समृद्धि के कारण आन्दोलन का विकास तीव्र गति से हुआ। विभिन्न प्रान्तों में 'सहकारी जाँच समितियों' की स्थापना हुई। बम्बई राज्य ने अपना प्रथम सहकारी समिति एक्ट सन् १९२५ में पास किया जिसके अनुसार सहकारी समितियों का वर्गीकरण पूर्ण रूप से बदल गया और रजिस्ट्रार को अधिक शक्तियाँ प्रदान की गई।

चतुर्थ काल (१९३०-१९४०)—

तृतीय काल में आन्दोलन ने पर्याप्त प्रगति की जबकि १९२९ की भीषण मन्दी

(The Great Depression) से आन्दोलन को गहरा धक्का लगा। कृषि वस्तुओं के मूल्य गिरने लगे जिससे किसानों की आय भी गिरने लगी। सहकारी समितियों के ऋणों की राशि तथा अप्राप्त भुगतान (Over dues) की राशि बढ़ती गई।

१६३५ में भारत में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया (Reserve Bank of India) की स्थापना हुई और कृषि साख-विभाग (Agricultural Credit Department) इसका मुख्य विभाग था जिसका मुख्य कार्य सहकारी आन्दोलन को सहायता देना था। १६३७ में रिजर्व बैंक ने अपनी रिपोर्ट में सहकारी आन्दोलन के संगठन को सुदृढ़ बनाने के लिये उपयुक्त सिफारिशें कीं।

पंचम काल (१६४१-१६४६)—

द्वितीय महायुद्ध का भी सहकारी आन्दोलन पर प्रभाव पड़ा। युद्धारंभ होते ही अन्य वस्तुओं की मूल्य-वृद्धि के साथ ही कृषि उत्पादन के मूल्य भी बढ़ने लगे तथा कृषकों की आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ। सहकारी समितियों से ऋण की मांग कम हो गई और उनको अधिक (Deposits) जमा प्राप्त होने लगी। इस कारण समितियों के पास अधिक धन निष्क्रिय (Idle Funds) रहने लगा और इसलिये उन्होंने अन्य कार्य करना आरम्भ किया। इस प्रकार सहकारी समितियों के कार्यों में विभिन्नता (Variety) आ गई। इस काल में उपभोक्ता सहकारी समितियों की भी स्थापना हुई।

सन् १६४४ में आयोजित सहकारी समितियों के रजिस्ट्रारों के चौदहवें सम्मेलन की सिफारिशों के आधार पर अखिल भारतीय सहकारी नियोजन समिति (Indian Co-operative Planning Committee) की सन् १६४५ में नियुक्ति हुई। इस समिति का कार्य अखिल-भारतीय आधार पर सहकारिता-विकास की योजना (Plan) बनाना तथा वर्तमान आन्दोलन को सुदृढ़ बनाना था। इस समिति के अध्यक्ष श्री० आर० जी० सरैया (R. G. Saraya) थे। समिति ने जनतान्त्रिक शासन, बहुधंधी सहकारी समितियों (Multi-purpose Co-operative Societies) की स्थापना, समितियों की जाँच आदि पर जोर दिया। इसके अतिरिक्त १० वर्षों में पुनर्गठित बहुधंधी समितियों का कार्यक्षेत्र ५०% गाँव में तथा ३०% ग्रामीण जनता से सम्बन्धित होना चाहिये।

छठा काल—(१६४७)

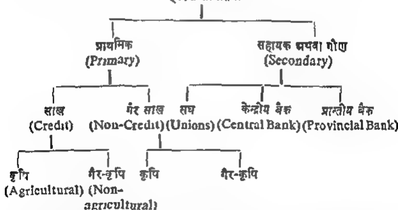
देश के विभाजन (Partition) से सहकारी आन्दोलनको आघात पहुंचा। विभाजन द्वारा उत्पन्न होने वाली समस्याओं का निपटारा भी सहकारी संस्थाओं द्वारा किया गया। इसके अतिरिक्त कृषि के क्षेत्र में, कृषि व्यवसाय के पुनर्निर्माण (Reconstruction) के तथा खाद्यान्न की कमी को दूर करने के लिये सहकारी कृषि (Co-oprative Farming) के विचार को भी अपनाया गया। सरकार तथा जनता द्वारा किये गये सक्रिय प्रयत्नों के फलस्वरूप इस काल में आन्दोलन को तीव्र गति से प्रगति हुई।

१६५१ मे रिजर्व बैंक ने ग्रामीण साख सम्बन्धी तथ्य तथा आंकडे एकत्रित करने तथा आवश्यक सूचना प्राप्त करने के लिये अखिल भारतीय ग्रामीण जांच समिति (All India Rural Cradit-Survey Committee) नियुक्त की । समिति ने ग्रामिण साख की एकीकृत योजना (Integrated System of Rural Credit) का सुझाव दिया । इसके अतिरिक्त समिति ने सहकारिता मे राज्य की साझेदारी (State Partnership) विवेकशील अन्तिम अवस्था (Logical Conclusion) तक होने का सुझाव प्रस्तुत किया ।

सन् १६५७ मे श्री मेलकाम डार्लिंग (Sir Malcolm Darling) ने सहकारी आन्दोलन के प्रादेशिक अन्तर (Regional differences) की ओर ध्यान आकर्षित किया । साथ में सहकारी प्रशिक्षण (Training) छोटे आकार की समितयो एवं बचत पर भी विशेष जोर दिया ।

तत्पश्चात् श्री वैकुण्ठलाल मेहता समिति ने मई १६६० मे अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की । समिति की सिफारिशों के अनुसार उन काश्तकारो को भी साख की सुविधा दी जानी चाहिये जो भूमि के मालिक नहीं हैं । और ब्याज की दर बढ़ाकर जमा की रकम आकर्षित की जानी चाहिये ।

सहकारी प्रणाली की रचना (Structure of the Co-operative Movement)—भारत मे सहकारी संगठन का वर्तमान स्वरूप निम्न है—



यह स्पष्ट है कि हमारे देश के सहकारी संगठन में साख-समितियो की प्रधानता है । इसलिये हम प्रारम्भिक साख-समितियो की कार्यप्रणाली पर विचार करेंगे । इनकी निम्नलिखित विशेषताएं हैं :—

प्रारम्भिक कृषि साख समितियाँ (Primary Agricultural Credit Societies)

(१) आकार:—एक ही गाँव या जाति के कोई भी दस व्यक्ति साख समिति

गठन कर उसकी रजिस्ट्री के लिए रजिस्ट्रार, सहकारी विभाग को आवेदन पत्र दे सकते हैं। सदस्यों की संख्या सौ से अधिक नहीं होनी चाहिए जिससे कि पारस्परिक नियन्त्रण रह सके।

(२) कार्य क्षेत्र:—रेफीसन पद्धति के अनुसार एक गाँव में एक समिति' का नियम हमारे देश में भी अपनाया गया जिससे सदस्यों का पारस्परिक ज्ञान और नियन्त्रण सम्भव हो सके। इसके लिए कार्य क्षेत्र का सीमित होना आवश्यक है।

(३) उद्देश्य (Objects):—समितियों के उद्देश्य से अपने सदस्यों का आर्थिक एवं नैतिक उत्थान होता है।

(४) दायित्व (Liability):—नियम असीमित दायित्व (Unlimited Liability) का है। इसका अर्थ यह है कि यदि किसी समिति की सम्पत्ति से उसके ऋणदाताओं को ऋण चुकाने के लिये पर्याप्त धन नहीं है तो सदस्यों से उनकी पूरी सम्पत्ति के मूल्य तक पैसा वसूल किया जा सकता है। किसी सदस्य के विरुद्ध सीधी कार्यवाही ऋणदाता नहीं कर सकता है। असीमित दायित्व का आधार ईमानदारी, ठीक समय पर ऋण की वसूली, व ऋण का ठीक उपयोग है, जिससे सदस्यों के बीच पारस्परिक नियन्त्रण और निरिक्षण की इच्छा उत्पन्न होती है। यह नियम समिति के लिये भी लाभदायक है, क्योंकि उसकी साख बढ जाती है। परन्तु इस नियम से उन सदस्यों को हानि होती है जो न ऋण लेते हैं और न दोषी हैं। इस नियम के कारण ही सभी किसान समिति के सदस्य नहीं बनते। अब असीमित दायित्व की उपयोगिता नहीं रही है।

(५) पूँजी (Capital):—ग्रामीण समिति के पूँजी के स्रोत आन्तरिक और बाह्य हैं। आन्तरिक स्रोत में (१) सदस्यों से प्राप्त प्रवेश-शुल्क (२) हिस्सा पूँजी (Share Capital) (३) सदस्य की जमा (Deposits) (४) सुरक्षित कोष है। सदस्यों की जमा (Deposit) द्वारा जो धनराशी आती है उसका बड़ा महत्व है। परन्तु इन दोनों से पूँजी बहुत ही अपर्याप्त होती है। ग्रामीण समितियों आन्तरिक स्रोत (Internal resources) विकसित नहीं होने से प्रधानतया बाह्य स्रोत (External resources) पर ही आश्रित हैं जिसमें से मुख्य केन्द्रीय बैंक हैं। यह हमारे सहकारी आन्दोलन की कमजोरी बतलाता है इसलिए स्थानीय निक्षेपों द्वारा जो धनराशी प्राप्त होती है उसमें काफी वृद्धि की आवश्यकता है।

(६) ऋण का उद्देश्य तथा ऋण वसूली:—ऋण केवल सदस्यों को उत्पादक कार्यों के लिए ही दिये जाते हैं। परन्तु किसानों को साहूकार के चुंगल से बचाने के लिए कभी कभी ऋण अनुत्पादक कार्य के लिए जैसे—विवाह आदि के लिए भी दिया जाता है। पुराने ऋण चुकाने के लिये भी समितियाँ ऋण देती हैं। अधिकांश ऋण एक वर्ष के लिए दिये जाते हैं। जिस उत्पादक कार्य के लिए ऋण दिया गया है उसकी

उत्पत्ति से ही उसको चुकाया जाय। अनुत्पादक ऋण ऋणी की आर्थिक स्थिति के अनुसार किश्तों में लेना चाहिए। समितियों की सफलता समयानुसार भुगतान पर काफी निर्भर है। बनावटी अदायगी नहीं होना चाहिए और बकाया (Overdues) की मात्रा बढ़ जाने से समिति के व्यवसाय को धक्का लगता है। जहाँ तक हो सके वसूली स्थगित नहीं होनी चाहिए।

(७) जमानत (Security):—सहकारिता में ईमानदारी ही जमानत है परन्तु व्यवहार में ऋण लेने वाले से दो सहयोगी सदस्यों की जमानत माँगी जाती है। इसके अतिरिक्त सम्पत्ति की जमानत भी ली जाती है।

(८) निरीक्षण:—समितियों के कार्य और हिसाब की जाँच रजिस्टरार के द्वारा होती है। जिन समितियों का कार्य ठीक नहीं चलता है रजिस्टरार उनको भंग कर सकता है। कहीं कहीं पर केन्द्रीय बैंक, जिनकी ये समितियाँ सदस्य होती हैं, भी समितियों की देख रेख करते हैं।

(९) प्रबन्ध:—समितियों का प्रबन्ध साधारण सभा (General Committee) और प्रबन्ध समिति (Managing Committee) के हाथ में होता है। समिति के सारे सदस्य साधारण समिति में सदस्य होते हैं, जो वार्षिक बैठक में प्रबन्धक समिति के सदस्यों को चुनते हैं। साधारण समिति एक अवैतनिक अथवा सवैतनिक सचिव को नियुक्त करती है। यह वार्षिक स्थिति विवरण को पास करती है, रजिस्टरार और लेखा-परीक्षक (Auditor) की रिपोर्टों पर विचार करती है। यह प्रत्येक सदस्य की सीमा, अधिकतम साख तथा ऋण निश्चित करती है। प्रबन्ध समिति प्रतिदिन कार्यकारिणी का काम करती है, जैसे सदस्यों को ऋण देना और उनसे वसूल करना तथा नये सदस्य भर्ती करना, समिति के लिए ऋण लेने और चुकाने का प्रबन्ध करना आदि। समितियों का आधार अवैतनिक सेवा है।

(१०) समानता—सदस्यों में सब प्रकार की समानता होनी है और किसी प्रकार का भेदभाव नहीं होना। सबके अधिकार समान होते हैं। एक सदस्य एक ही वोट (One man one vote) दे सकता है।

प्रारम्भिक समितियों का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है :—

(१) कृषि सहकारिता ऋण समितियाँ।
(२) कृषि सहकारिता ऋणेतर समितियाँ।
(३) कृषि-भिन्न सहकारिता ऋण समितियाँ।
(४) कृषि भिन्न सहकारिता ऋणेतर समितियाँ।

सहकारिता से लाभ

इस आन्दोलन से बहुत लाभ हुआ है, विशेषकर किसानों को। १६५६-५७ तक भारत की कुल धन-संख्या का २५ प्रतिशत हिस्सा सहकारी आन्दोलन में आ चुका था। जून १६५७ तक कृषि साख समितियों की कार्यशील पूंजी ६८.३० करोड़ रुपये थी। सहकारिता के विस्तार से कई लाभ हुए हैं—

सहकारिता के लाभ
१. आर्थिक लाभ
२. शैक्षिक लाभ
३. नैतिक लाभ
४. सामाजिक लाभ

(१) सस्ती साख (Cheap Credit)—साख गांवों में सस्ती हो गई क्योंकि समितियाँ कम ब्याज पर ऋण देती हैं जिससे साहूकार को भी ब्याज की दर कम करनी पड़ी। उसका ऋण पूर्ति में जो एकाधिकार था वह समाप्त हो गया। गांवों में भी बैंकिंग आदत पड़ गई और गड़ी हुई धन राशि धीरे धीरे साख समितियों में जमा होने लग गई है। ऋण भार में कमी हुई और साख समितियों के कारण ब्याज में बड़ी बचत हुई है।

(२) गैर साख समितियों द्वारा लाभ—बाजार सहकारी साख समितियों ने मध्यस्थों को समाप्त करके कृषकों की आय में वृद्धि की। सहकारी कृषि समितियों, चकबन्दी समितियां आदि सिचाई समितियों आदि से खेती में काफी सुधार हुआ और कृषकों की आय बढ़ी। बहुउद्देशीय समितियों (Multi-purpose Societies) से खेती को काफी लाभ हुआ है। वे उत्तम बीज, उत्तम, खाद पर्याप्त सिचाई के साधन तथा उत्तम बिक्री आदि की व्यवस्था करती हैं। कुटीर उद्योगों में भी सहकारिता का विकास हुआ है।

(३) शैक्षिक लाभ (Educative benefits)—सहकारी समितियाँ अच्छे शिक्षक का काम करती हैं। समिति की बैठक में सदस्यों को भाग लेना पड़ता है और समिति के कार्य को समझने में उनकी बुद्धि का विकास होता है। अगर किसी पद पर कोई सदस्य नियुक्त हो जाता है तो उसका उत्तरदायित्व बढ़ जाता है और उसको अनेक बातों का अध्ययन करना पड़ता है। सदस्यों को हिसाब रखने की शिक्षा मिलती है। हस्ताक्षर करने की आवश्यकता से भी शिक्षा को प्रोत्साहन मिलता है। सदस्यों को नागरिकता के कर्तव्यों की शिक्षा मिलती है।

(४) नैतिक लाभ (Moral benefits)—चरित्रहीन व्यक्ति समिति का सदस्य नहीं बन सकता है इसलिए सदस्य बनने के लिए चरित्र होना आवश्यक है। सदस्यों का नैतिक स्तर ऊंचा उठता है। सदस्यों में बचत की भावना आती है और फिजूलखर्ची कम होती है। सहकारी समितियों की प्रशंसा करते हुए पंजाब के सर

माकोम डार्लिंग के अनुसार, "एक अच्छी सहकारी समिति में मुकदमेबाजी, फिजूल खर्ची, शराबखोरी और जुआ बाजी सभी कम हो जाते हैं और उनके स्थान पर परिश्रम, आत्मविश्वास, ईमानदारी, शिक्षा, पारस्परिक सहायता और मितव्ययता तथा स्वावलम्बन पाए जाते हैं"। इस प्रकार से सदस्यों में गुणों की वृद्धि होती है।

(५) सामाजिक लाभ (Social benefits)—साधारणतया समितियों का दायित्व असीमित होता है जिससे सदस्यों को पारस्परिक खर्चों पर निरीक्षण रखना पड़ता है और फिजूल खर्ची कम हो जाती है। इससे शादी, मृत्यु-भोज और सामाजिक अवसरों पर फिजूल खर्ची कम हो गयी है और समाज को बड़ा लाभ हुआ है। समिति के लाभ में से कुछ भाग शिक्षा, सफाई, चिकित्सा पर खर्च किया जाता है।

सहकारी आन्दोलन की असफलता के कारण

हमारे देश में सहकारिता का लाभ विस्तृत रूप से नहीं उठाया गया है। यह कुछ ही क्षेत्र में सीमित रह गया है। सहकारी आन्दोलन की प्रगति धीरे हुई है और विकास सीमित रहा है। सहकारी आन्दोलन में अनेक कमियाँ पाई जाती है जिससे यह असफल रहा है।

> सहकारी आन्दोलन की असफलता के कारण
>
> १. सहकारिता के सिद्धान्तों के ज्ञान का अभाव
> २. सहकारी साख पर अधिक बल
> ३. कुप्रबंध
> ४. पूंजी की कमी और ब्याज की ऊंची दर
> ५. अन्य कारण

(१) सहकारिता के सिद्धान्तों के ज्ञान का अभाव—सदस्य सहकारिता के उद्देश्यों को नहीं समझते हैं और उनमें सहकारी समितियों के ज्ञान का अभाव है। वे सहकारी समिति को केवल सस्ती साख पूर्ति का साधन समझते हैं। सहकारी आन्दोलन को सफल बनाने के लिए आवश्यक उत्साह की सदस्यों में कमी है।

(२) सहकारी साख पर अधिक बल (Undue emphasis on credit)—अब तक केवल साख समितियों की ओर अधिक ध्यान दिया गया था। लेकिन सहकारी आन्दोलन को सफल बनाने के लिए इसका आधार बढ़ा कर इसमें जीवन के सब पहलू शामिल कर लेना चाहिए। गैर साख समितियों की ओर ध्यान नहीं के बराबर दिया गया। इस दृष्टिकोण को बदलना होगा और सहकारिता का उद्देश्य उत्तम कृषि, उत्तम व्यापार और उत्तम जीवन होना चाहिए। साख के क्षेत्र में भी सहकारी समितियां ऋण की आवश्यकता के तुच्छ भाग की पूर्ति करती हैं। भारतीय किसानों को

ऋण की आवश्यकताओं की केवल ३ प्रतिशत पूर्ति सहकारी साख समितियाँ करती हैं। बाकी की साख और अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किसानों को साहूकार की शरण लेनी पड़ती है।

(३) कुप्रबन्ध—अशिक्षित व्यक्तियों के हाथ में समितियों का प्रबन्ध रहता है। वे अधिकारों का दुरुपयोग करते हैं। समितियों का प्रबन्ध ऐसे लोगों के पास है जो उस कार्य के लिये अयोग्य हैं। कुप्रबन्ध के कारण अधिकतर समितियाँ 'C' और 'D' वर्गीकरण में आती हैं। १९५५ में ५००० समितियाँ समाप्ति की ओर थीं। कुप्रबन्ध से आन्दोलन को बड़ा धक्का लगा।

वसूली ठीक तरह से नहीं होती है, बकाया की मात्रा बढ़ जाती है और उसको छिपाने के लिए बनावटी अदायगी की जाती है। ऋण देने में पक्षपात किया जाता है और जिनको इसकी बहुत आवश्यकता होती है उनको नहीं मिलता है। ऋण के उद्देश्य की छानबीन नहीं की जाती है, समय की पाबन्दी नहीं होती है और बकाया की मात्रा बढ़ने से कमजोरी आ जाती है। १९५९–६० में कृषि साख समितियों का बकाया २१·१ था और कई राज्यों में उससे भी अधिक हिसाब की जाँच भी ठीक तरह से नहीं होती। निरीक्षण की कमी और अकुशल नियन्त्रण है। ऋण चुकाने का समय आने [redacted] उसका नवीनीकरण कर लेने की प्रवृत्ति तथा बाकीदारों के विरुद्ध कार्यवाही करने में पदाधिकारियों की हिचक दीख पड़ती है।

(४) पूंजी की कमी और ब्याज की ऊंची दर—समितियां पूंजी के लिए केन्द्रीय बैंक पर आश्रित रहती हैं और वे प्रान्त की बैंक से पूंजी प्राप्त करती हैं इसलिए ब्याज की दर बढ़ जाती है। जब तक पूंजी का अधिकांश भाग स्थानीय निक्षेपों द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता आन्दोलन सफल नहीं कहा जा सकता है। निजी पूंजी का अभाव होने से ऋण देने में अनुचित देर होती है और ऋण मन्जूर करने की लम्बी कार्यवाही है। ग्रामीण ऋण-सर्वेक्षण रिपोर्ट के मतानुसार सहकारी ऋण 'लोचहीन, विलम्बकारी और अपर्याप्त' है जिससे यह समिति के सदस्यों को साहूकारों से ऋण लेने से नहीं रोक सकता है।

(५) सरकारी हस्तक्षेप—हमारे देश में सहकारी आन्दोलन का यह भी दोष है कि इसके ऊपर सरकारी नियन्त्रण इतना अधिक है कि इसको समिति के सदस्य सरकारी बैंक समझते हैं। इस कारण सदस्यों में स्वेच्छा से कार्य करने की भावना का अभाव है और समिति की उन्नति के लिए प्रयत्न नहीं करते। आन्दोलन के विकास की इच्छा की सदस्यों में कमी पाई जाती है। सरकार का अधिक नियन्त्रण आन्दोलन के उचित विकास के लिए हानिकारक है।

(६) अन्य कारण—अखिल भारतीय ग्रामीण ऋण सर्वेक्षण रिपोर्ट के लेखकों का मत था कि भारत मे सहकारी आन्दोलन की असफलता का आधारभूत कारण भारत की पहले की कमजोर स्थिति जो दरिद्रता, जाति-प्रथा, अनुत्पादक सामाजिक रीति-रिवाज पर खर्च और शिक्षा का अभाव, छोटे छोटे और बिखरी हुई इकाईयों की कृषि-व्यवस्था तथा सडको, संग्रह, कोठो तथा अन्य आवश्यकताओं की कमी इसकी उन्नति में बाधा डालती हैं।

(७) अपर्याप्त साधन—जितनी सदस्यों को साख की आवश्यकता होती है उसका बहुत कम भाग समितियो से प्राप्त होता है और बाकी साख के लिए उनको महाजन के पास जाना पड़ता है। समितियो के पास साधन अपर्याप्त होने से वे सदस्यों की सहायता अधिक नही कर सकते।

दोषों को दूर करने तथा आन्दोलन को दृढ़ बनाने के सुझाव—

(१) समितियों के सदस्यो को सहकारिता का अर्थ तथा उद्देश्य समझाया जाय और उनको सहकारिता के सिद्धान्तो की शिक्षा दी जाय, सरकार और सहकारी विभाग को यह कार्य करना चाहिए।

(२) किश्तों को चुकाने के समय की पाबन्दी होनी चाहिए जिससे बकाया की समस्या हल हो सके। जिनके ऊपर बकाया है उनके विरुद्ध कार्यवाही की जानी चाहिए। हिसाबों की जाँच अच्छी तरह से होनी चाहिए।

(३) महाजन के चगुल से बचाने के लिए समितियों को किसानो की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करना चाहिए। ग्रामीण साख समितियों को पुनर्गठन करके बहुउद्देश्य या सेवा समिति के आधार पर निर्माण करना चाहिए। एक उद्देश्य समिति उपयोगी साबित नही हुई।

(४) सहकारी साख को सहकारी बिक्री से सम्बन्धित करना चाहिए। बिक्री समितियों के विकास की आवश्यकता है। साख समितियां बिक्री समितियो के एजेन्ट के रूप में कार्य करें।

(५) समितियो को गांवो में बचत को प्रोत्साहन देकर उसको प्राप्त करना चाहिए जिससे बाहरी स्रोत पर निर्भरता कम हो। इस प्रकार से समितियाँ कम ब्याज पर अपने सदस्यो को ऋण दे सकती हैं।

(६) इस आन्दोलन को लोकप्रिय बनाने के लिए सरकारी नियंत्रण कम करना चाहिए और गैर सरकारी लोगो के हाथ मे जाना चाहिए। लोगो मे सहकारिता की ओर उत्साह पैदा करने की आवश्यकता है।

(७) छोटी छोटी समितियाँ जिनके पास कार्यक्रम है उनको मिला करके बड़ी बनानी चाहिए।

(८) साख की मात्रा बढ़ानी चाहिए परन्तु इस कार्य में सावधानी से काम लेना चाहिए। साख को फसल से सम्बन्धित करना आवश्यक है। समितियाँ गांवों में कृषि उत्पादन योजना (Agriculture production plan) तैयार करके उसके अनुसार कृषकों की सहायता करें।

ग्रामीण ऋण-सर्वेक्षण समिति के सुझाव (Rural Credit-Survey Report)

इन बाधाओं को दूर करके आन्दोलन को सफल बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है। १६२६ की कृषि आयोग रिपोर्ट में तो यहाँ तक कहा गया है कि यदि 'सहकारिता असफल होती है तो भारत की सर्वोत्तम आशा असफल हो जायगी।' आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए इसे महत्वपूर्ण साधन माना गया है। इसलिए ग्रामीण ऋण-सर्वेक्षक का यह मत है कि 'सहकारिता असफल रही है, किन्तु इसे अवश्य सफल होना चाहिये।' सहकारी आन्दोलन की सहायता के लिए १६३५ में रिजर्व बैंक ने कृषि साख विभाग स्थापित किया। ग्राम ऋण सर्वेक्षण समिति के प्रमुख प्रस्ताव केन्द्रीय सरकार ने सिद्धान्त रूप में मान लिये हैं। उनके प्रस्ताव के अनुसार ऊपरी ढाँचे को राज्य की साझेदारी के अनुसार पुनर्गठित करना है। राजकीय साझेदारी का सिद्धान्त भिन्न भिन्न स्तर पर लागू होगा। राज्य की साझेदारी के लिए रिजर्व बैंक ने लम्बी अवधि वाले एक राष्ट्रीय कृषि ऋण कोष की स्थापना कर दी है। इस कोष से राज्यों को ऋण दिए जायेंगे ताकि वे सहकारी ऋण संस्थाओं की पूंजी के रूप में हिस्से खरीद सकें। ग्राम ऋण सर्वेक्षण ने बड़ी ऋण संस्थाएं बनाने की सिफारिश की है, वर्तमान छोटी संस्थाओं को मिला कर एक कर दिया जाय। ऋण संस्थाओं से किसानों को कर्ज मिलेगा और उन्हें इनसे अपनी जरूरत की चीजें मिल जाया करेंगी। ऋण संस्थाओं के साथ गोदाम व्यवस्था (Warehouses) का प्रबन्ध स्थापित कर दिया गया है। ऋण देने के अतिरिक्त और काम करने वाले संगठनों का विकास करने पर और अधिक ध्यान दिया गया है।

पंचवर्षीय योजनाएं और सहकारिता—प्रथम दो योजना काल में प्राथमिक कृषि साख समितियों की संख्या १,०५,००० से बढ़कर २,१०,००० हो गई, उनकी सदस्य संख्या ४४ मिलियन से बढ़कर १७ मिलियन और कुल दिये गये ऋणों की मात्रा २१ करोड़ रु० से बढ़कर २०० करोड़ रु० हो गई।

प्रथम एवं द्वितीय योजना में प्राथमिक कृषि साख समितियों की प्रगति :—

साल	समितियाँ	सदस्यता (मिलियन में)	अल्प कालीन एवं मध्यकालीन दिये गये ऋण
			(करोड़ रु०)
१९५०-५१	१०४९९८	४·४	२२·९
१९५५-५६	१५९९३९	७·८	४९·६
१९५६-५७	१६१५१०	९·१	६७.३
१९६०-६१	२१००००	१७·०	२००·०

प्रथम योजना के अन्त में अधिकतर प्राथमिक साख समितियाँ निष्क्रिय (Inactive) व खराब दशा में थी। द्वितीय योजना मे लगभग १,६०,००० मे से ४२,००० समितियाँ पुनर्संगठन के लिए चुनी गईं। तृतीय योजना में ५२,००० समितियाँ चुनी गई हैं।

तीसरी योजना मे सहकारिता के विकास के लिये ८० करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई है जबकि दूसरी योजना मे ३४ करोड़ रुपये के प्रत्याशित व्यय की व्यवस्था की गई थी।

दूसरी योजना की अवधि में १८६९ प्रारम्भिक क्रय-विक्रय समितियों (Marketing Societies) की सहायता की गई। तीसरी योजना मे ६०० और प्रारम्भिक क्रय-विक्रय समितियो की स्थापना हो जाने के बाद देश की २,५०० मण्डियो (Markets) में से प्रत्येक में अथवा प्रत्येक के पास एक क्रय-विक्रय समिति हो जाएगी।

दूसरी योजना के अन्त तक मन्डी केन्द्रो में लगभग १६७० और ग्रामीण क्षेत्रों में ४,१०० गोदाम (Godowns or warehouses) स्थापित किये जा चुके थे। तृतीय योजना में ९६० अतिरिक्त गोदाम मडियो में और ९,२०० गोदाम ग्रामीण क्षेत्रों मे स्थापित किये जायेंगे।

ग्रामीण आय बढ़ाने और उत्पादन के लिए सहकारी उत्पादन का विकास अत्यन्त आवश्यक है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक जिले में सहकारी पहलुओं की दृष्टि से ग्रामीण आर्थिक ढाँचे को सुदृढ बनाने के लिए भी यह आवश्यक है। १९६०–६१ मे ३० सहकारी चीनी कारखाने उत्पादन कार्य कर रहे थे और तीसरी योजना मे चीनी कारखानों की प्रगति को प्रभावित करने वाली परिस्थितियों के अनुसार ऐसे और २५ कारखाने स्थापित किए जा सकते हैं।

दूसरी योजना में चीनी कारखानों के अतिरिक्त ३७८ सहकारी परिनिर्माण समितियों को मदद दी गई। तीसरी योजना में ७८३ सहकारी परिनिर्माण समितियों की स्थापना की जाएगी जिसमें ४८ कपास की सफाई करने और गाठें बांधने के संयन्त्र और ३६ चावल मिलें और २१ पटसन के कारखाने, ३३ तेल मिलें ६३ मूंगफली कारखाने, ७७ फल-डिब्बाबन्दी एकक, ४११ धान कूटने की मिलें और ८६ अन्य एकक होंगे।

सन् १९५९-६० में उपभोक्ता सहकारी भंडारों (Consumers' Co-operative Stores) की संख्या ७१६८ थी, जिनकी सदस्यता लगभग १४ लाख और कुल प्रदत्त पूंजी २·४ करोड़ रु० थी। तीसरी योजना में अस्थायी तौर पर ५० थोक और २,२०० प्राथमिक उपभोक्ता सहकारी भंडारों को सहायता दी जायगी। ये भंडार फुटकर मूल्यों को स्थिर करने और खाद्य वस्तुओं में मिलावट को रोकने में सहायक सिद्ध होंगें।

सहकारी कर्मचारियों के प्रशिक्षण (Training) की सुविधाओं का विस्तार किया जाएगा। जांच व निरीक्षण को सुदृढ़ किया जाएगा। दूसरी योजना में राज्य सहकारी विभागों को सुदृढ़ बनाने की व्यवस्था है, और तीसरी योजना में इस पर बल दिया गया है। भारत में सहकारी आन्दोलन की भावी संभावनायें है। भविष्य में सहकारिता के क्षेत्र में काफी विकास होगा। भारत में जैसे शान्तिप्रिय, अहिंसावादी तथा सहअस्तित्व के सिद्धान्त पर चलने वाले राष्ट्र के लिये देश की शान्तिपूर्ण सामाजिक आर्थिक एवं नैतिक क्रांति लाने के लिये सहकारिता ही सबसे उत्तम माध्यम है।

सारांश (Summary)

अभिप्राय:—सहकारिता आर्थिक दृष्टि से दुर्बल व्यक्तियों के उस संगठन का नाम है, जो स्वेच्छा से आर्थिक हितों की पूर्ति के लिये बनाया जाता है। मैकलेगन समिति के अनुसार 'सहकारिता का सिद्धान्त बहुत संक्षेप में यह है कि एक अकेला व शक्ति हीन व्यक्ति दूसरों के योग एवं नैतिक विकास तथा पारस्परिक सहायता से अपनी सामर्थ्य के अनुसार वे भौतिक लाभ प्राप्त कर सकें जो धनी व शक्तिशाली व्यक्तियों को मिले हुये हैं, और इस प्रकार अपने सहज गुणों का पूर्ण रूप से विकास कर सकें।' इस पद्धति का विकास जर्मनी से प्रारम्भ होता है।

भारत में उत्पत्ति एवं विकास:—सर्वोदयी अर्थ-व्यवस्था का आधार सहकारिता ही है, अतः भारत जैसे निर्बल एवं गरीब देश के लिये कृषकों की दयनीय स्थिति को सुधारने के लिये सर्व प्रथम विलियम वेडर वर्न एवं श्री रानाडे ने लार्ड रिपिन के सम्मुख सहकारी कृषि बैंकों की स्थापना का विचार प्रस्तुत किया था। १८९५-९७ में निकलसन महोदय ने अपनी रिपोर्ट में सहकारी साख समितियों की स्थापना पर बल दिया। १९०१ में अकाल आयोग ने भी ग्रामीण साख समितियों की स्थापना पर

जोर दिया। १९०४ में सहकारी साख समिति विधेयक पारित किया गया। ग्रामीण क्षेत्रो मे रैफेसिन के सिद्धान्तों तथा शहरी क्षेत्रो शुल्जे डिलिज के सिद्धान्तों के आधार पर समितियो का गठन प्रारम्भ किया गया। रैफेसिन प्रणाली के अनुसार (१) दस या दस से अधिक व्यक्ति एक समिति का निर्माण कर सकते हैं (२) समिति का क्षेत्र सीमित (३) देनदारी या दायित्व असीमित (४) शेयर जारी नही किये जा सकते (५) ऋण केवल उत्पादक कार्य के लिये ही (६) प्रबन्ध—प्रजातान्त्रिक एवं अवैतनिक (७) लाभांश रिजर्व कोष में (८) सुरक्षित कोष स्थायी (९) उद्देश्य—नैतिक एवं भौतिक समृद्धि। शुल्जे डिलिज प्रणाली के अन्तर्गत—(१) कार्य क्षेत्र विस्तृत (२) साधारण बैंकिंग व्यवसाय (३) लाभांश का वितरण (४) उत्तरदायित्व सीमित (५) प्रबन्ध—वैतनिक (६) उद्देश्य—भौतिक (७) ऋण सभी प्रकार के कार्यों के लिये।

प्रथम-काल:—(१९०४-१९११)—१९०४ मे सहकारी साख समिति अधिनियम के अन्तर्गत रैफेसिन प्रणाली पर जोर दिया गया। साख समिति-शहरी तथा ग्रामीण हो सकती है। १९०४ के अधिनियम में कुछ दोष रह गये थे। १९१२ में सहकारी समिति अधिनियम द्वारा दूर किये गये।

द्वितीय-काल (१९११-१९२०):—इसके अन्तर्गत साख एव गैर साख समितियो की स्थापना, निरिक्षण तथा आर्थिक सहायता के लिए यूनियन, केन्द्रिय बैंक, तथा प्रान्तीय बैंक जैसे संगठनो की व्यवस्था, तथा उत्तरदायित्व का वैज्ञानिक वर्गीकरण किया गया। इस कानून से सहकारी आन्दोलन का यथोचित विकास हुआ। १९१४-१५ तक समितियो की संख्या १२,००० से अधिक, सदस्यता ५ लाख एवं कार्यशील पूंजी ५ करोड़ रुपये से अधिक थी। १९१५ मे मैकलेगन समिति की रिपोर्ट के सुझाव प्रस्तुत हुए, एवं सहकारिता का प्रारम्भिक, सहकारी यूनियन, केन्द्रीय सहकारी बैंक, तथा प्रान्तीय सहकारी बैंक के रूप मे वर्गीकरण हुआ।

तृतीय-काल:—(१९२०-१९२९) में सहकारिता केन्द्रीय विषय न रह कर 'प्रान्तीय विषय' बनी विभिन्न प्रान्तो मे सहकारी जांच समितियो की स्थापना हुई। बम्बई राज्य ने। पहला एक्ट १९२५ मे पारित किया। रजिस्ट्रार को अधिक अधिकार प्रदान किये गये।

चतुर्य-काल:—(१९२९-१९४०) इस काल में विश्वव्यापी मंदीवाड़े के फलस्वरूप आन्दोलन को पर्याप्त धक्का लगा। सहकारी समितियो की ऋणो की राशि तथा अप्राप्त भुगतान की राशि बढ़ती गई। १९३५ मे रिजर्व बैंक की स्थापना हुई। बैंक के कृषि एवं साख विभाग ने आन्दोलन को सफल बनाने मे योग दान दिया। १९३७ में बैंक ने अपनी रिपोर्ट में संगठन को सुदृढ़ बनाने के लिये उपयुक्त सिफारिशें की।

पंचम-काल:—(१९४१-४७) में द्वितीय महायुद्ध ने सहकारी आन्दोलन को प्रभावित किया एवं कृषिकों की आर्थिक स्थिति में सुधार किया गया। ऋण कम हुवे और जमा रकम बढ़ने लगी। इसी काल में उपभोक्ता सहकारी समितियों की द्रुतगति से स्थापना हुई। १९४५ में अखिल भारतीय सहकारी नियोजन समिति की नियुक्ति की गई। इस समिति के अध्यक्ष श्री आर० जी० सरैया थे। समिति ने बहुत से बहुमूल्य सुझाव दिये तथा इस बात पर जोर दिया गया कि दस वर्षों में पुनर्गठित बहुमुखी समितियों का कार्य क्षेत्र ५०% गावों में तथा ३०% ग्रामीण जनता से सम्बन्धित हो जाय।

छठा-काल:—(१९४७-वर्तमान काल) इस अवधि में सबसे पहला धक्का देश के विभाजन ने दिया और शाखाओं की कमी को पूरा करने के लिये विभिन्न सहकारी समितियों की स्थापना की गई। सहकारी कृषि को अपनाने के लिये प्रयत्न किये गये। १९५१ में रिजर्व बैंक ऑफ इन्डिया ने ग्रामीण साख सम्बन्धी तथ्य तथा आकड़े एकत्रित करने तथा आवश्यक सूचना प्राप्त करने के लिये अखिल भारतीय ग्रामीण साख जाच समिति की नियुक्ति की। समिति ने ग्रामीण साख की एकीकृत योजना का सुझाव दिया। सन् १९५७ में श्री मैल्कॉम डार्लिंग ने सहकारी आन्दोलन में प्रादेशिक अन्तर की ओर ध्यान आकर्षित करवाया। सहकारी प्रशिक्षण, छोटे आकार की समितियों, तथा बचत पर जोर दिया। १९६० में श्री वैकुण्ठ लाल मेहता कमेटी ने अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की। समिति ने भूमिहीन कृषकों को भी साख सुविधाओं के प्रदान करने की सिफारिश की।

सहकारी प्रणाली की रचना:—भारत में सहकारी संगठन का वर्तमान स्वरूप इस प्रकार है कि सहकारी समितियाँ प्रथमतः दो भागों-प्राथमिक एवं सहायक में बंटी हैं। प्राथमिक समितियां भी दो भागों में—साख एवं गैर साख में बांट दी गई हैं, इसी प्रकार ये दोनों समितियाँ दो और उपभागों में कृषि एवं गैर कृषि-में बांट दी गई हैं। सहायक समितियों को भी तीन भागों—संघ, केन्द्रीय बैंक, तथा प्रान्तीय बैंक में बांट दिया गया है। प्रारम्भिक समितियां—कृषि सहकारिता ऋण समितियां, कृषि सहकारिता ऋणेत्तर समितियाँ, कृषि भिन्न सहकारिता ऋण समितियाँ, एवं कृषि भिन्न सहकारिता ऋणेत्तर समितियाँ में वर्गीकृत हैं।

आन्दोलन का पुनर्गठन:—पुनर्गठन आवश्यक है। ग्रामीण क्षेत्र में साख समितियों के अलावा अन्य प्रकार की समितियों की भी स्थापना की जावे। ऋण देने वाली संस्थाओं में जान डाली जावे। सरकार की ओर से प्रोत्साहन दिया जावे तथा अकुशलता समाप्त किया जावे।

योजनाओं में सहकारी आन्दोलन का स्थान:—पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत सहकारिता ने अपना अच्छा प्रभाव जमाया है। प्रथम दो योजना कालों में

कृषि साख समितियों की संख्या १०,५,००० से बढ़ कर २१०,००० हो गई। सदस्य संख्या ४.४. मिलियन से बढ़ कर १७ मिलियन और कुल दिये गये ऋणों की मात्रा २३ करोड़ रुपये से बढ़ कर २०० करोड़ रुपये हो गई। द्वितीय योजना में लगभग १,६०,००० में से ४२,००० समितियाँ पुर्नसंगठन के लिये चुनी गई। तृतीय योजना काल में यह संख्या ५२,००० हो जायेगी। इसी योजना काल में सहकारिता पर ८० करोड़ रुपये व्यय किये जायेंगे। ६०० प्रारम्भिक क्रय-विक्रय समितियों की स्थापना होगी और देश की २५०० मंडियों में से प्रत्येक के पास एक क्रय-विक्रय समिति हो जायेगी। सहकारिता को बड़े उद्योगों विशेषतः चीनी के कारखानों से भी सम्बन्धित कर दिया जायेगा। सहकारी कर्मचारियों के प्रशिक्षण की सुविधाओं का प्रसार किया जायेगा।

अखिल भारतीय साख सर्वेक्षण रिपोर्ट के शब्दों में:—"सहकारी आन्दोलन (भारत में) असफल हुआ है, परन्तु सहकारी आन्दोलन को अवश्य ही सफल होना चाहिए।"

प्रश्न

(१) भारत में प्रारम्भिक साख समितियों का संगठन किस प्रकार होता है। इनके निर्माण के सम्बन्ध में ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति की सिफारिशों का भी उल्लेख कीजिये।

(२) भारतीय सहकारिता की कृषि-व्यवसाय को क्या क्या देनें रही हैं?

(३) भारतीय सहकारी आन्दोलन के विकास पर एक लेख तैयार कीजिये।

(४) पचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत सहकारी आन्दोलन की प्रगति का उल्लेख कीजिये।

(५) टिप्पणियाँ लिखिये:—बहुउद्देशीय सहकारी समितियाँ, प्रारम्भिक साख समितियाँ, भूमि बंधक बैंक, सर फ्रेड्रिक निकलसन, सहकारी साख समिति अधिनियम, १६०४।

भारत मेंउद्योगों का विकास एवं समस्यायें

INDUSTRIAL DEVELOPMENT OF INDIA AND ITS PROBLEMS

'प्रभाव यहां तक पड़ा कि करीब सभी वस्तुएं जो ऊन, सूत, या रेशम से निर्मित होती थी, जो अंग्रेज महिलाओं के वस्त्रों से लगाकर उनके फर्नीचर एव घरों की सजावट से सम्बन्ध रखती थी वे भारतीय उद्योगों द्वारा ही निर्मित थी।' (वीकली रिव्यू, जनवरी ३१, १७०८)

'भारत एक अत्यन्त सुसभ्य एवं प्राचीन देश है, जिसके प्राकृतिक साधन अतुल एव विशाल हैं, और भौतिक दृष्टिकोण से पूर्ण पश्चिम के देशों से भी उसका सम्बन्ध आज का नही, किन्तु युगों पुराना है। किन्तु दुर्भाग्यवश अपने दृष्टिकोणों, व्यवस्था एवं प्रगति के क्षेत्र मे अब भी मध्ययुगीन (Middle age) जैसे जीवन से संतुष्ट दिखलाई पड़ता है।' इस प्रकार की विचारधारा वीरा एन्सटी (Veera Anstey) ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'दि इकोनोमिक डेवलपमेण्ट ऑफ इण्डिया' (The Economic development of India) मे व्यक्त की थी। इस उक्ति में सत्य अवश्य प्रतीत होता है, किन्तु ऐसा नही है कि हम लोग अनिवार्यतः मध्यकालीन दृष्टिकोण अपनाये हुये हैं। चूंकि भारतीय अर्थ व्यवस्था यहां की सामाजिक एवं, धार्मिक संस्थाओं से आवश्यकता से अधिक प्रभावित होते हुये देखी गई है, अतः इन परिस्थितियों के बीच एक भारतीय से पश्चिम के अपरिमित भौतिकवादी (Materialistic) जीवन की आशा करना उपयुक्त न होगा। इसमे कोई सन्देह नहीं है कि इस प्रकार के सामाजिक बन्धनों, तथा परम्पराओं के बीच एक स्वस्थ 'वैज्ञानिक दृष्टिकोण' (Scientific outlook) की कमी अवश्य रही है, किन्तु इन सबका मतलब यह नही निकाला जाना चाहिये कि भारत ने अपने औद्योगिक विकास एवं प्रगति में लापरवाही बरती है।

यह निर्विवाद सत्य है कि भारत का प्राचीन या अतीत अत्यन्त गौरवशाली रहा है। सामाजिक धार्मिक एवं शैक्षणिक जीवन के क्षेत्र में भारत ने आशातीत प्रगति की है। जब पश्चिम के व्यक्ति असभ्य अवस्था में पड़े हुये बहुत ही जंगली जीवन व्यतीत कर रहे थे, तब भारत अपनी उन्नति के शिखर पर विश्व का पथ प्रदर्शन कर रहा था। स्वयं वीरा एन्सटी ने लिखा है कि यह एक आश्चर्य का विषय है कि

वह देश जिसने जगत प्रसिद्ध मलमल नामक वस्त्र का निर्माण किया विदेशों मे जिसका निर्यात किया, विलासिता की वस्तुओं (Luxury articles) से विदेशी बाजारों (Foreign markets) को उस समय भर दिया, जब कि ब्रिटेन के पूर्वज अत्यन्त प्रारम्भिक अवस्था मे रहकर अपना जीवन यापन कर रहे थे, वह अपने स्वयं के आर्थिक विकास के प्रति उदासीन बना रहा और देखते देखते उन्ही असभ्य एवं जगली जातियो की संतानें इस क्षेत्र मे उनसे अधिक बाजी मार ले गई।

हमारे प्राचीन उद्योग (Our Ancient Industries)

हमारी प्राचीन अर्थ व्यवस्था पर दृष्टिपात करने से पता चलेगा कि भारतवर्ष ने उद्योगों के क्षेत्र में कम प्रगति नही की है। ऋग्वेद के अध्ययन से पता चलता है कि कृषि यहाँ का मुख्य कर्म आदि काल से रहा है, और व्यक्ति देवताओं से सुसम्पन्न एवं धन धान्य से परिपूर्ण जीवन के लिये प्रार्थना करते देखे गये है। यद्यपि उस समय व्यापार तथा वाणिज्य नगण्य था, किन्तु फिर भी ऊन तथा कपास के मिश्रित वस्त्रों का चलन था। बढई, जुलाहे, तथा धातुकारों के नामों के उल्लेख एक बढ़ते हुये आर्थिक जीवन को सिद्ध करते हैं। उत्तर वैदिक काल में कुटीर उद्योगो की परम्परा पर चलने वाले छोटे उद्योगो का उल्लेख है, जिनमे रथ बनाने वाले, रस्सी बनाने वाले, डलिया बनाने वाले, धोबी, जुलाहो, रगरेजों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसी समय 'वणिक्' नामक समुदाय का उल्लेख मिला है, जो देश के व्यापार में रुचि रखते थे और मुद्रा का निश्चित दर पर विनिमय (Exchange) करते थे। मौर्यकाल के प्रारम्भ होने के पूर्व देश मे कृषि व्यवसाय उन्नति के चरम लक्ष्य पर पहुँच चुका था और हाथ की कारीगरी गाँव तथा शहरों में अपना अच्छा स्थान बना चुकी थी। बहुमूल्य धातुओ तथा पत्थरो के आभूषणों का प्रचलन बढ़ गया था।

भारत का विदेशी व्यापार मौर्यकालीन जीवन में समुद्री मार्गों से होना प्रारम्भ हो गया था। थलमार्ग एशिया के देशों के लिये तक्षशिला तथा गधार होता हुआ मध्य एशिया को पार करता हुआ भूमध्य सागर के किनारे पर रुक जाता था। पश्चिम देशों से व्यापार जल मार्ग से होता था और भृगु कच्छ (भड़ोंच) तथा सूरपर्क (सोपारा, उत्तरी बम्बई) अच्छे बन्दरगाह थे। निर्यात (Export) के लिये रेशमी वस्त्र, मलमल, बर्तन, युद्ध सामग्री, कम्बल, गलीचे, इत्र, हाथी दांत के सामान प्रमुख रूप से उल्लेखनीय रहे हैं। मौर्यकालीन भारत में लोगो की आर्थिक दशा बहुत अधिक अच्छी थी। जगह जगह उद्योगों की स्थापना होने लगी, और जहाजरानी के कारखानों को भी प्रोत्साहन दिया गया। वस्त्र उद्योग सम्पन्न हो चमक उठा और उच्चकोटि की खुदाई तथा छपाई का काम भी प्रारम्भ हुआ। सांची के स्तूपों की खुदाई तथा उस पर अंकित चित्र आदि एक फलती हुई आर्थिक व्यवस्था की प्रतीक हैं। यातायात के साधनो के लिये समुन्नत

जनपदों का निर्माण अपनी चरम सीमा पर था। गुप्तकालीन भारत में विभिन्न प्रकार के संघों की स्थापना का उल्लेख मिला है तथा लौह उद्योग के उज्ज्वल भविष्य के दर्शन हुये है। अशोक स्तम्भ आज भी वैज्ञानिकों के लिये आश्चर्य के विषय बने हुये है। दिल्ली के सुल्तानों ने अपनी राजनैतिक तथा प्रशासनिक आवश्यकताओं के लिये विभिन्न प्रकार के उद्योगों की स्थापना में अपना योग दान दिया। मुगलकालीन बादशाहों ने वस्त्र, जहाज, युद्ध सामग्री के निर्माण पर विशेष रूप से बल दिया। भारत के व्यापार तथा समृद्धि ने सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में यूरोप की विभिन्न जातियों को आकर्षित किया और औद्योगिक आयोग रिपोर्ट (Industrial Commission Report) के अन्तर्गत वर्णित मालवीयजी की असहमति से पता चलता है कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी का लाभकारी व्यापार भारत की मलमल, छींट, कसीदे और कढ़ाई के कामों की वस्तुओं, ऊनी तथा रेशमी वस्त्र, तथा हीरों और जवाहरातों पर प्रमुख रूप से आधारित था।

इस उपर्युक्त विवरण से पता चलता है कि समस्त भारत में छोटे उद्योग धन्धे पनप चुके थे, और ग्रामीण तथा शहरी उद्योग में निश्चितता और व्यवस्था आ चुकी थी। सिलाई का काम राष्ट्रीय उद्योग का स्थान ले चुका था और धातुओं की वस्तुओं के निर्माण के लिये उद्योगशालाएं देश भर में फैल चुकी थीं। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि विलासिता की वस्तुओं (Luxurious articles) का निर्माण, हाथ के बुने कपड़ों का निर्माण, दुशाले तथा गलीचों का काम, पीतल तथा तांबे की बनी वस्तुओं का निर्माण, पत्थर पर खुदाई, आभूषणों पर मीने का काम, चन्दन काष्ठ कला की वस्तुयें, कामदार जूतियों का बनाना, इत्र, कागज, तेल तथा चमड़े का व्यवसाय देश की आर्थिक व्यवस्था में अपना सुनिश्चित स्थान बना चुके थे।

भारतीय उद्योगों की अवनति एवं ब्रिटिश सरकार की नीति
(Fall of Indian Industries and Policy of British Government)

(१) समय के चक्र के साथ हमारी आर्थिक संक्रान्ति में एक परिवर्तन प्रतिलक्षित होता मिला। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हस्तकलायें जो कि जातिगत थीं एक विशेष प्रकार के व्यापार संघों में संगठित थीं। धीरे धीरे व्यवसाय में एक नया वर्ग जिन्हें मध्यस्थ (Middlemen) के नाम से संबोधित करना चाहिये जन्म लेता दिखलाई पड़ा। फलस्वरूप इन छोटे मोटे व्यवस्थापकों ने लाभ के लोभ में पड़कर उन व्यवसायियों का आर्थिक शोषण करना प्रारम्भ कर दिया।

(२) उद्योगों की अवनति का श्री गणेश अंग्रेज राज्य की स्थापना के साथ होता है। भारत में राजनैतिक संघर्षों (Political revolutions) के फलस्वरूप राजदरबारों का आश्रय उठने लगा और राजकीय संरक्षण

भारतीय उद्योगों की अवनति के कारण

१. मध्यस्थ वर्ग का जन्म
२. राजनैनिक संघर्ष
३. पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव
४. पश्चिमीय औद्योगिक क्रान्ति
५. विदेशी वस्तुओं का प्रयोग
६. यातायात में प्रगति
७. ब्रिटिश सरकार की नीति
८. सरकार की आयात नीति

(Govt Protection) की समाप्ति पर कुटीर व्यवसाय चौपट होने लगे। औरङ्गजेब के जमाने तक पहुँचते पहुँचते बहुत से उद्योग समाप्त हो गये और विशाल मुगल साम्राज्य छिन्न भिन्न होकर अन्तिम श्वास गिनने लगा। दिल्ली, आगरा, लाहौर, लखनऊ, तंजोर मुर्शिदाबाद आदि में उनका ह्रास तेजी से प्रतिलक्षित हुआ।

(३) चूं कि इस समय तक पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव पूर्वी देशों पर भली प्रकार प्रतिलक्षित हो चुका था, अतः भारतीय वस्तुओं की मांग में कमी आई और देश में जीवन स्तर के मूल तत्वों में विराट परिवर्तन आया। अंग्रेजों के रहन सहन से प्रभावित भारतीय जनता ने भी पाश्चात्य रहन सहन को अपनाने का प्रयत्न करना प्रारम्भ कर दिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि भारत के कुटीर (Cottage) व्यवसाय अपनी अन्तिम घड़ियाँ गिनने लगे।

(४) एक और जबरदस्त धक्का जिसे हमारे कुटीर व्यवसाय सहन न कर सके वह था पश्चिमीय औद्योगिक क्रान्ति (Western Industrial Revolution)। इस औद्योगिक क्रांति ने बड़े पैमाने पर वस्तुओं का निर्माण करके सस्ती वस्तुओं की मांग बढ़ा दी। फल यह हुआ कि हाथ की कारीगरी द्वारा बना हुआ माल मिल के बने हुये माल का मुकाबिला न कर सका, और लोगों ने सस्ते मूल्य पर मिल की बनी वस्तुओं को खरीदना प्रारम्भ कर दिया।

(५) भारतीय शिक्षित वर्ग भी इस संक्रान्ति काल में अपने को पाश्चात्य प्रणाली में रंगने को तैयार खड़ा था। उसने देश की बनी हुई वस्तुओं के प्रति बड़ी उदासीनता (Indifference) का रुख अपनाया। रहन सहन, खान पान, इत्यादि सभी में विदेशी वस्तुओं का प्रयोग बढ़ा।

(६) यातायात के साधनों में द्रुतगति से विकास हुआ, और रेल के निर्माण ने शिल्पकारों (Artisans) को भौचक्का सा कर दिया, और वे नई परिस्थितियों से कोई सामंजस्य स्थापित नहीं कर सके। स्वेज नहर के खुल जाने से ब्रिटेन के बने हुए माल द्रुतगति से भारतवर्ष पर छा गये और सभी कुटीर व्यवसाय चौपट हो गये।

(७) ब्रिटिश संसद की नीति ने तो भारतीय व्यवसायों की नींव ही झकझोर कर रख दी। चूंकि इङ्गलैंड में औद्योगिक क्रांति गहरी जड़ें पकड़ चुकी थी, अतः उसका अवश्य भावी परिणाम यह हुआ कि ब्रिटेन को अपना माल खपाने के लिये बड़े बड़े बाजारों की आवश्यकता हुई। भारत भी एक बाजार बना, जहाँ तैयार की हुई वस्तुओं का विक्रय होता था, और कच्चे माल का कौड़ी के भाव क्रय किया जाता था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी (East India Company) की स्थापना एक व्यापारी कम्पनी की हैसियत से की गई थी, अतः इस कम्पनी ने ब्रिटिश सरकार को विभिन्न प्रकार की रियायतों के लिये मजबूर किया, जिससे भारत में व्यापार

करके वे लोग मालामाल बन सकें। १८ वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में इङ्गलैंड ने अपने रेशमी और ऊनी उद्योगों की रक्षा और महाद्वीपीय युद्ध के व्यय को पूरा करने के लिये भारतीय माल के विरुद्ध तट-कर लगा दिया। बहुत से भारतीय वस्त्रों विशेषतः भारतीय छींट का नागरिकों के द्वारा प्रयोग किया जाना गैर कानून घोषित कर दिया। फल यह हुआ कि हाथ के बुने हुए कपड़ों का स्वदेशी रोजगार ठप्प हो गया। यह सब इसलिये किया गया कि ब्रिटेन के कारखानों को अपने विकास के लिए स्वतन्त्र और निर्बाध क्षेत्र मिले। भारतीय वस्त्रों पर आयात-कर इतना अधिक लगा दिया गया कि वे वहाँ के कपड़ों से भी मँहगे पड़ने लगे। प्रो० विल्सन (Prof. Wilson) महोदय ने इन्हीं करों का उल्लेख करते हुये लिखा है कि यदि इतना अधिक कर न लगाया गया होता और निषेधात्मक तथा विरोधी आज्ञायें यदि लागू नहीं की गई होतीं तो पैस्ले तथा मैंचेस्टर के कारखाने भाप की शक्ति होने हुए भी बन्द हो गये होते। चूंकि भारत सभी प्रकार से अंग्रेजों के आधीन एक गुलाम देश था, अतः इन परिस्थितियों का नाजायज फायदा उठा कर उसका बुरी तरह से आर्थिक शोषण किया गया। वह भारत जो रोमेश चन्द्र दत्त (Romesh Chandra Dutt) के शब्दों में अठारहवीं शताब्दी में एक बहुत बड़ा खेतीहर और औद्योगिक (Agricultural and Industrial) देश था, जिसके हाथ के बने कपड़ों की एशिया तथा यूरोप में भारी मांग थी, उसे अंग्रेजों ने अपनी घोर स्वार्थपरता के कारण मटियामेट कर दिया।

(८) अवनति के अन्य कारणों में सरकार की आयात नीति (Import policy) का भी उल्लेख करना परम आवश्यक है। अंग्रेजों ने सदैव ही ब्रिटिश निर्माताओं को भारतीय बाजार का पूर्णतः शोषण करने के विभिन्न मौके दिये, जिसका फल यह हुआ कि देश के कोने कोने में रेलों ने उन वस्तुओं को पहुँचा दिया, जिस पर इङ्गलैंड में निर्मित, (Made in England) की छाप लगी हुई थी। प्रो. जथार तथा बेरी (Prof. Jathar and Beri) ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक भारतीय अर्थशास्त्र (Indian Economics) में लिखा है कि अंग्रेजों ने अंग्रेजी निर्माताओं को भारतीय बाजारों से अनुचित और भरपूर लाभ उठाने के लिये कभी कभी प्रत्यक्ष रूप से सहायता भी दी, जो कभी भी न्यायोचित नहीं थी। भारत जैसे बाजार से पूरा पूरा लाभ उठाने में इंगलैंड को अपनी राजनैतिक शक्ति का प्रयोग करने में तनिक भी सकोच न था। न्यायमूर्ति रानाडे (Shri Ranade) ने लिखा है, "इंगलैंड के आधीन भारतवर्ष जैसे महान राज्य ने १९वी शताब्दी में प्राचीन उपनिवेशों का स्थान ले लिया। यह गुलाम राज्य अंग्रेजों का वह कृषि क्षेत्र है, जहां कच्चा माल का उत्पादन होता है, जिसे अंग्रेजी व्यवसायी अंग्रेजी पूंजी (Capital) तथा अंग्रेजी श्रम (Labour) के

प्रयोग द्वारा तैयार माल का रूप प्रदान करने के लिये अंग्रेजी जहाजों में ही इंगलैंड भेज देते है। फिर वही माल अंग्रेज व्यापारियों द्वारा इस भारत में अथवा अन्य अधीनस्थ देशों में निर्यात कर दिया जाता है, ·· ············जहां उन्हे लाभ ही लाभ होता है।''

अब हम उद्योगों का सामान्य सर्वेक्षण करते हुए भारत के उद्योगों के क्रमिक विकास पर बात करेंगे। डा० गैडगिल (Dr. Gadgil) ने इस विकास को विभिन्न भागो में बांट दिया है।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त का भारत (१८६५-१९१४)
(India at the end of the 19th Century)

भारतीय उद्योगों का विकास १८६५ से प्रारम्भ होता है। यह वह समय था जब भारतवर्ष के उद्योग, विशेषतः वे उद्योग जिनकी माप अपने देश तक ही व्याप्त थी, कृषि में गिरावट के कारण एकाएक शिथिल पड़ने लगे थे। कृषि में गिरावट का परिणाम यह हुआ कि वे उद्योग जो कृषि पर जीवित थे, उनकी प्रगति कुछ समय के लिये रुक गई। वस्त्र उद्योग पर इस संक्रान्ति काल में बुरा प्रभाव पड़ा। १८६५-१९०० के दुर्भिक्ष ने वस्त्र उद्योग की कमर ही तोड़ दी। एक तो वैसे ही ब्रिटिश सरकार भारत के औद्योगिक विकास के प्रति उदासीन (Indifferent) थी और दूसरे उसने इस समय कपास पर उत्पादन कर लगा कर बहुत बुरा किया। इसी समय देश को प्लेग जैसे भयानक रोग ने आ दबाया, और औद्योगिक नगरों (Industrial Towns) विशेषतः बम्बई शहर के अधिक बड़ी भारी मात्रा में शहर छोड़ कर गांव की ओर भाग खड़े हुये। इस रोग की समाप्ति पर दूसरा दुर्भिक्ष आ खड़ा हुआ। इस प्रकार छोटे मोटे उद्योग पनप न सके। १९०२ में अमेरिकी परिस्थितियां [redacted] सहारे कपास के मूल्य बढ़े और उद्योग को और भी धक्का लगा। १९०५ में मंदीवाड़ा (depression) समाप्त हुआ, और कृषि समृद्धि लौटती दिखलाई पड़ी। धीरे धीरे उद्योग पनपा और इसी समय भारत में एक औद्योगिक सम्मेलन प्रारम्भ हुआ। देश भर में औद्योगिक उत्साह की लहर दौड़ गई, और देखते देखते, कपड़ा, पेंसिल, चाकू, छुरी, चीनी, चमड़ा, पैट्रोल साफ करने के, माचिस, शीशा इत्यादि के उद्योग पनप गये।

जूट उद्योग को भी दुर्भिक्ष (Famine) के समय पर्याप्त धक्का लगा, किन्तु दुर्भिक्ष के बाद कलकत्ते के आसपास कई मिलें खुल गईं। १८६५ में देश में कुल २८ मिलें थीं और १९१४ तक पहुँचते पहुँचते ६४ मिलें हो गईं। खनिज (Mineral) उद्योग ने भी इस समय काफी प्रगति की। कोयले का व्यवसाय अच्छा चला और दो नये उद्योग—तेल पैट्रोलियम और मैगनीज ने प्रसिद्धि प्राप्त की। इस अवधि में खनिज पदार्थों १९०३ तक ६,४६,४८,९०५ रुपये का खनिज निकाला गया और

१९१४ तक यह राशि १२,५८,६८,३३० रुपये तक पहुंच गई। १९०६ में कोयला उद्योग ने बहुत लाभ कमाया, क्योंकि कोयले के मूल्य बढ गये थे। इसके साथ यातायात के साधनों, देश मे नये पनपने वाले उद्योगों ने कोयले के उद्योग को बहुत प्रोत्साहन दिया। १९१४ तक भारत मे २५,९३,४२,७१० गैलन पेट्रोल निकाला। मैगनीज (Manganese) उद्योग मे सन् १९१३ में २०,५०० व्यक्ति लगे हुये थे। चाय तथा नील के बागानो के विकास मे भी प्रगति हुई, किन्तु नील का उद्योग विदेशी प्रतिस्पर्धा (Foreign Competition) के कारण कमजोर पड़ने लगा। इस अवधि के अन्त में भारत ने १०,९३६ कार्टरवेट नील विदेशो को निर्यात की। कॉफी उद्योग ने १८८६ से लगाकर १९९६ तक अच्छी उन्नति की, इसके बाद ब्राजील ने यहां के उद्योग को काफी धक्का पहुचाया।

इस अवधि मे चीनी के उद्योग को भी धक्का लगा, क्योंकि यूरोपीय देशों से चुकन्दर की चीनी का आयात (Import) प्रारम्भ हुआ।

औद्योगिक श्रम (Industrial Labour) के लिये १८९२ मे एक फैक्टरी एक्ट पास किया गया, जो १९१२ तक लागू रहा। कार्य करने की अवधि प्रायः इस समय १२ से १८ घण्टे तक थी। श्रमिकों की अवस्था सामान्यतः बड़ी खराब थी। फैक्टरी का दूषित वातावरण तथा शहरों की गन्दी बस्तियों ने श्रमिकों के स्वास्थ्य को जर्जर बना दिया था। साथ ही साथ इस समय श्रमिकों का अभाव था। इस समय तक औद्योगिक श्रम शहरों में भली प्रकार नहीं बस पाया था, उसका मन सदैव अपनी जमीन तथा जायदाद पर ही टिका रहता था, जो कि दूर देहातों में थी।

प्रथम महायुद्ध में औद्योगिक विकास (१९१४-१९१८)

(Industrial Development in the First World War Period)

प्रथम महायुद्ध मे युद्ध विभीषिका ने जनसाधारण की आखें खोल दीं क्योंकि जनसाधारण दैनिक उपभोग (Consumption) की वस्तुओ के लिए भी परेशान हो उठा। सभी ओर से आयात रुक गये और लोगों ने इस बात का अनुभव किया कि जीवन की आवश्यकताओ के लिए विदेशी उद्योगो पर निर्भर रहना कितना भयानक एवं बुरा है। युद्धकालीन परिस्थितियों में विदेशी प्रतिस्पर्धा समाप्त हुई और भारत के उद्योगों को विकसित होने का अच्छा अवसर मिला, किन्तु अमेरिका तथा जापान ने इस अवसर का लाभ उठाकर भारत में अपने आयात बढ़ाने शुरू किये। बेचारा भारत आवश्यक यंत्रों तथा कुशल कर्मचारियों के अभाव में कुछ न कर पाया। मॉटेग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट (Montague Chelmsford Report) ने ठीक ही लिखा था कि आजकल उद्योग विकसित देशों द्वारा उत्पन्न सामग्री, यदि मात्रा में नहीं, तो प्रकार में अवश्य ही युद्ध सामग्री, यदि मात्रा मे नहीं, तो प्रकार में अवश्य ही युद्ध सामग्री की सूची से इतनी मिलती जुलती है कि भारत का

औद्योगिक विकास (Industrial Development) एक सैनिक आवश्यकता बन गई है। फलस्वरूप इन्डस्ट्रियल कमीशन (Industrial Commission) की स्थापना १६१६ में की गई, जिसने भारतीय पूंजी के विनियोग (Investment) के बारे में अपने विचार रखे। इस कमीशन ने भारत के औद्योगिकरण (Industrialisation) पर जोर दिया। साथ ही साथ उद्योग-परिषदों (Industrial Committees) की स्थापना तथा औद्योगिक और रसायनिक सेवाओं (Industrial and Chemical Services) को भी आरम्भ करने की भी सिफारिश की गई। इस सभी सर्वेक्षण का परिणाम यह हुआ कि १६१७ में भारत सरकार ने इंडियन म्यूनीशन्स बोर्ड (Indian Munition Board) की नियुक्ति की, जिसका उद्देश्य "युद्ध की आवश्यकताओं" को विशेष रूप से ध्यान में रखते हुए भारत के उद्योगों का विकास करना था। इस बोर्ड ने भारत में विदेशी मशीनों का आयात करवाया, उन लोगों को प्रोत्साहन दिया, जो भारत में नये उद्योग चलाना चाहते थे। कपड़ा, जूट, चमड़ा, लोहा व स्पात, तेल, तेजाब, सीमेन्ट, रंग, वार्निश आदि के कारखाने चल निकले।

युद्ध समाप्ति के बाद भी थोड़े दिनों के लिये उद्योग के क्षेत्रों में कुछ चहल पहल रही, किन्तु यह समृद्धि बहुत लम्बे समय तक नहीं चली। १६२०-२१ में अच्छी कम्पनियाँ चल पड़ी और उद्योगपतियों के हाथों खूब लाभ लगा। टेक्सटाइल टैरिफ रिपोर्ट (Textile Tariff Report) के मतानुसार लाभ इतना अच्छा हुआ कि औद्योगिक प्रतिभूतियों के मूल्य अत्यधिक बढ गये। १६२०-२१ में समय रुपये के विनिमय मूल्य में कमी हुई और आयातकों को हानि हुई। धीरे धीरे उद्योगों में अवसाद का समय दिखलाई पड़ा। कितनी ही कम्पनियाँ एवं फर्में बाजार के बाहर निकल गईं; और बहुतों को अपना भविष्य अन्धकारमय प्रतीत हुआ। स्टॉक एक्सचेंज (Stock Exchange) की हालत भी खराब हो गई, और मन्दी की प्रवृत्तियाँ स्पष्ट रूप से प्रतिदिन होती दिखलाई पड़ी। इस अवसाद ने भारत के उद्योगों तथा कृषि की कमर ही तोड़ दी। भारतीय कृषि पदार्थों की कीमतें बहुत ही नीचे गिर पड़ी और विदेशों में इन पदार्थों की माग नीचे गिर गई।

विश्वव्यापी मन्दी काल के समय सूती वस्त्र उद्योग भी प्रभावित हुआ। जापान जैसे प्रतिद्वन्दी ने भारतीय बाजार पर अपना अधिकार सा जमा लिया। मि० हार्डी (Mr. Hardy) को भारतीय सरकार ने सूती वस्त्र उद्योग की समस्याओं की जाच के लिये नियुक्त किया। इस उद्योग को अवसाद एवं जापानी प्रतिद्वन्दिता से बचने के लिये १६३० में इसे संरक्षण दिया गया। ब्रिटिश राज्य में बने हुये माल पर रेवेन्यू ड्यूटी १५% तथा गैर ब्रिटिश मुल्कों में बने हुये माल पर २०% रेवेन्यू ड्यूटी लगा दी गई। उद्योग को कुछ राहत मिली।

जूट उद्योग की अवस्था कुछ विचित्र थी। युद्ध के समय जूट का उत्पादन बढ़ा, मूल्यों में कोई परिवर्तन न हुआ, और मजदूरी भी वैसी बनी रही। फिर भी उद्योग को बड़ा भारी लाभ न मिल सका। युद्ध समाप्ति पर जूट उद्योग के सम्मुख कई समस्यायें आ खड़ी हुईं। १९१८-१९ में भारत में जूट मिलों की संख्या ७६ थी और २७५,५०० व्यक्ति इस उद्योग से जीविका कमाते थे। १९२९-३० में मिलों की संख्या ९८ हुई, उद्योग ने ३४३,२५७ व्यक्तियों को नौकरी दी। १९२८ में जूट उद्योग ने अपने समय के घण्टे ६० घण्टे प्रति सप्ताह के हिसाब से कर दिये। १९३० में जूट की फसल भी बहुत अच्छी हुई और लाभ के दर्शन हुये। इस अवधि में खनिज पदार्थों के निकालने में पर्याप्त उन्नति हुई। देश में जगह जगह खानों का सर्वेक्षण किया गया और लोहे तथा इस्पात उद्योग को मजबूती से जमाने के लिये प्रयत्न किये गये। रासायनिक उद्योगों को भी प्रोत्साहन मिला, और सैनिक कार्यों के लिये क्रोमाइट एवं वॉलफ्रॉम जैसे खनिजों को निकालने का काम प्रारम्भ हुआ। इसी समय टिन बनाने के भी कारखाने खुले और कोयले को भी प्रोत्साहन मिला। १९१७-१९२१ में कोयले के उद्योग ने पर्याप्त तरक्की की। नई खानों को खोदा गया और पुरानी खानों में वृद्धि तथा विकास के नये रास्ते खोले गये। १९२१ के लगभग कोयले की माग में गिरावट दिखलाई पड़ी। १९२५ के लगभग देश के अन्य उद्योगों ने कोयले की माग को बढ़ाया और नई कम्पनियों को खोलने का सुअवसर मिला।

लौह उद्योग को भी पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। टाटा आयरन, तथा इण्डियन आइरन जैसी कम्पनियों को खूब लाभ हुआ। इस उद्योग को भी संरक्षण दिया गया। १९२३ तक पहुँचते पहुँचते इस उद्योग की स्थिति मजबूत हो गई और आज भी यह उद्योग देश के प्रमुख उद्योगों में से एक है।

उद्योगों में नवीन जीवन (१९३०-३९)

विश्वव्यापी मन्दीकाल (Depression) के समय विश्व के सभी उद्योग किसी न किसी सीमा तक प्रभावित हुये। सन् १९३२ में उद्योगों में नये जीवन का संचार हुआ, और कोयले को छोड़कर सभी उद्योगों का उत्पादन बढ़ने लगा। चीनी उद्योग का उत्पादन १९३६-३७ तक तिगुना हो गया। तत्पश्चात् कपड़ा, सीमेण्ट, जूट, लौह, इस्पात के कारखानों के उत्पादन में अच्छी वृद्धि हुई। कुछ उद्योगों की प्रगति का कारण संरक्षण की नीति भी थी, किन्तु फिर भी सितम्बर १९३१ के बाद स्वर्ण निर्यात से भारत में पूँजी की वृद्धि हुई, और नई कम्पनियों तथा कल कारखानों का निर्माण हुआ। साथ ही साथ इस कांग्रेस द्वारा सञ्चालित 'स्वदेशी-आन्दोलन' (Swedeshi movement) ने भी उद्योगों को सहायता प्रदान की। १९३७ में कृषि वस्तुओं के मूल्य बढ़े, और कृषकों की अवस्था में सुधार हुआ। इस समय १९३६ में जिन वस्तुओं में मन्दी आई, वे पुनः १९३७ में अमेरिका के पुनरुत्थान के कारण सुधरने लगे।

जून १९३८ मे लाभ तथा प्रतिभूतियो के मूल्यो में वृद्धि हुई। सन् १९३९ मे द्वितीय महायुद्ध का प्रारम्भ हुआ, और एक बार फिर से राष्ट्र के उद्योगो को विकसित होकर पनपने का अवसर मिला।

द्वितीय महायुद्ध काल में औद्योगिक विकास की प्रगति
(Industrial Development During Second World War Period)

१९३९ में कांग्रेस मन्त्रिमण्डलो के पदत्याग से एकाएक विकास को धक्का लगा। युद्ध प्रारम्भ हो जाने से विदेशी आयात कम हो गये और देश के बाजारो मे भारतीय उद्योगपतियो को बहुत सा बाजार मिला। मित्र राष्ट्रों ने युद्ध सामग्री की माग, देश की सुरक्षा के लिये नई वस्तुओं के उत्पादन ने देश में उद्योगों को क्रियाशील बनने मे सहायता पहुँचाई। फलस्वरूप राष्ट्रीय साधनो का समुचित उपयोग किया गया। इसके अतिरिक्त ईस्टर्न ग्रुप कॉन्फ्रेंस, रोजर मिशन तथा अमेरिकन प्राविधिक मिशन, एव चैट फिल्ड-समिति ने भी देश के औद्योगीकरण (*Industrialisation*) के लिये प्रेरणा दी। इस अवधि में भारत ने युद्ध सामग्री बनाने वाले कारखानो को प्रोत्साहन दिया जो लगभग २०,००० वस्तुयें बनाते थे। प्रो० जथार तथा बेरी (Prof. Jathar and Beri) के मतानुसार, भारत अपनी यौद्धिक आवश्यकताओं का ९०% उत्पन्न करता था, तथा हथियार, गोलियां, गोले, तोपें, बन्दूकें, गाड़ियां एवं अन्य बिजली का सामान बाहर निर्यात करता था। लोहे के पाइप, ट्यूब एव अलयूमिनियम के कारखाने चल निकले और भारत सरकार ने भी अपनी नीति मे थोड़ा बहुत रद्दोबदल कर औद्योगीकरण को प्रोत्साहित किया। आर्थिक सहायता के लिये उद्योगो को एक औद्योगिक अनुसंधान कोष की स्थापना की गई। सार्जेण्ट कमेटी (Sargeant Committee) की सिफारिश पर प्राविधिक प्रशिक्षण का प्रबन्ध हुआ।

इस युद्ध काल मे भारतीय उद्योगो को एक महत्वपूर्ण भाग अदा करना पड़ा। जापान के युद्ध में कूद पड़ने से भारत के लिये आवश्यक हो गया कि वह तुरन्त ही अपने को उद्योगो के क्षेत्र मे सबल बना ले। दूसरे मित्र राष्ट्रो ने भारत एवं आस्ट्रेलिया को ही सामग्रियो को तैयार करने वाले देशो में चुना गया। देखते देखते १९४१ मे पिग आइरन (Pig Iron) का उत्पादन २०००,००० टन, तैयार इस्पात १९४२ मे १४००,००० टन पहुँच गया। चार करोड़ रुपये की लागत से युद्ध सामग्रियो को बनाने के कारखाने स्थापित किये गये जिन्होंने युद्ध सम्बन्धी ७०० विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन किया। इस अवधि में छोटे मोटे अस्त्रों से लगाकर मशीनों के पुर्जे, बन्दूकें, रायफलें, टारपीडो बोट्स, तथा अन्य केबिल तारो का उत्पादन हुआ। बेंगलोर में सन् १९४१ में पहली बार हिन्दुस्तान एयर क्रॅफ्ट कम्पनी ने पहला वायुयान जोड़कर उड़ाया। १९४१ में हमारे निर्यात ८१२,०००,००० रुपयों तक पहुँचे।

सन् १६४२ में ग्रेडी कमीशन (Grady Commission) ने बड़े पैमाने पर उद्योगों को चलाने की सिफारिश की, किन्तु दुर्भाग्यवश यह सिफारिश धरी ही रही, क्योंकि तत्कालीन ब्रिटिश सरकार ने कभी भी उद्योग एवं वाणिज्य (Industrial and Commercial) संस्थाओं से सम्बन्धित प्रतिनिधियों को इस प्रकार के आयोग तथा कमीशनों से मिलने न दिया। इस अवधि में रेल की पटरियाँ उखाड़ कर युद्ध स्थलों पर भेजी गई। इंजन, वेगन सभी युद्ध पर लगा दिये, और देश में उनके निर्माण की कोई विधिवत योजना न बनाई गई। आस्ट्रेलिया एवं कनाडा जैसे देशों ने युद्ध के प्रारम्भ के दो ही वर्षों में अपनी अपनी सरकारों की सहायता से उत्पादन में वृद्धि की ओर आयातों की कमी पूरी कर डाली, किन्तु भारतवर्ष में बहुत सा सामान आयात सूची पर ही रहा, और नये उद्योगों को स्थापित करने की बात लड़ाई में पड़ी रही। रेल के इंजनों, एवं मोटर लारियों के निर्माण के प्रस्ताव भी रद्दी की टोकरी में पड़े रहे। औद्योगिक उत्पादन की वास्तविक स्थिति निम्नलिखित आंकड़ों से मिल सकती है, जिन्हें फिसकल कमीशन (१६४६-५०) ने अपनी रिपोर्ट में प्रकाशित किया है:—

औद्योगिक उत्पादन की अंक सूची (Index of Industrial Production)

१६३७ = १००

वर्ष	कपास व सूती वस्त्र	जूट	इस्पात	रसायन	चीनी	सीमेंट	कागज	सामान्य मूल्य सूची
१६३८.	१०६ ०	६८.१	१०८.०	८४ ४	८८.७	१२४.८	१२१.१	१०५.४
१६४०.	१०३ ६	६६.१	१२५.२	१३१.३	१०६.०	१५२.१	१६६ ७	१०६.६
१६४२.	१०२ ०	६६.५	१३६.७	१३८.७	७८.४	१६४.५	१८०.६	१११.२
१६४४.	१२२ ६	८६.७	११६.६	१२६.३	६७.१	१८२.१	१६२.७	११७.०
१६४५.	१२०.०	८४.१	१४२ ६	१३४ १	८५.५	१६६.५	१६६.५	१२०.०
१६४६.	१०१.६	८४ ६	१३० ०	१११.२	८०.५	१८१ १	१२३.५	१०६.०

उपर्युक्त सारिणी से पता चलता है कि उत्पादन में वृद्धि लगभग २०% से हुई। मुद्रा स्फिति में सूल्य वृद्धि हुई जिसे विभिन्न प्रकार के नियमों तथा कानूनों द्वारा रोका गया। १६४३ के लगभग नये उद्योगों को खोलने के प्रयत्न हुये जिनमें रासायनिक कारखाने, लोह, एवं यातायात के उद्योग प्रमुख थे। कुछ भी हो, औद्योगिक उत्पादन युद्ध काल में अपनी चरम सीमा पर पहुँचा, और मशीनों से अधिकतम काम लिया गया, जिससे मशीनें पुरानी, एवं बेकार सी हो गई। सूती वस्त्र का उत्पादन १६४४ में ४८२६ मिलियन गज, सीमेण्ट १६०,००० टन प्रति माह, और कपास १००,००० टन उत्पादित किया गया। मिश्रित पूँजी कम्पनियों की अधिकृत पूँजी प्रो० वाडिया एवं मर्चेन्ट के मतानुसार १६४५-४६ में ४२४ करोड़ रुपये पर पहुँची, जब कि युद्ध के प्रारम्भ में यह २६० करोड़ रुपये ही थी। नये उद्योगों में फेरो अलॉय, अलमूनियम, डिजेल इंजन, वाईसिकल,

पम्प, सिलाई की मशीनें, सोडा, क्लोरिन सुपरफॉस्फेट, तथा मशीन के पूर्जे बनाने वाले प्रमुख रूप से अच्छा उत्पादन करने में सफल हुये। डा० पी० जी० टॉमस (Dr. Thomas) ने युद्धकालीन प्रगति के बारे में अपने विचार प्रकट करते हुये लिखा है—

"पुराने उद्योग पनपे, नये उद्योग प्रारम्भ हुये, नये कारखाने लागू किये गये, नई प्रशिक्षण कला का विकास हुआ, मशीन के कल पूर्जों के कारखाने मजबूती से जम गये, और इंजिनियरिंग उद्योग पर्याप्त रूप से विकासित हुआ। आधार भूत कारखानों का जन्म हुआ, नये आधारभूत कारखानों का बीजारोपण शुरू किया गया और हम ऐसी चौड़ी सड़क पर आ खड़े हुये, जहाँ से हम अपने उद्योगों को भली प्रकार दौड़ा सकें।

१९४० में श्री एस. एस. भटनागर (Shri S. S. Bhatnagar) के सभापतित्व में एक बोर्ड ऑफ साइंटिफिक एण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च (Board of Scientific and Industrial Research) की स्थापना अलीपुर में ५ लाख की राशि से की गई। १९४१ में एक इण्डस्ट्रियल रिसर्च फण्ड (Industrial Research Fund) की स्थापना १० लाख रुपये के अनुदान से की गई ताकि बोर्ड बिना किसी आर्थिक संकट के उत्पादन क्रियाओं, प्रणालियों, आदि पर अनुसंधान तथा खोज करता रहे। बोर्ड ने स्वदेशी साधनों के सहारे नई नई वस्तुओं का सृजन किया, जिन्होंने विदेशी वस्तुओं से अपनी प्रतिस्थापना की। युद्ध के समय की ब्रिटिश नीति के द्वारा विशाखापटनम, डॉक तथा ओटोमोबाइल (Automobile) का निर्माण रुका रहा। ग्रॉडी कमीशन (Grady Commission) ने भी यही कहा था कि भारत में खनिज, धात्विक एवं कार्मिक सम्पत्ति अटूट है। अतः इस सम्पत्ति का विदोहन आवश्यक है। किन्तु यह आवाज उठी और फिर दब गई।

युद्धोत्तर काल में औद्योगिक विकास (Post-war Industrial Development)

युद्ध काल में हमारे उद्योगों का बहुत ही असंतुलित विकास हुआ। कुछ उद्योग बहुत बुरी तरह से उत्पादन में लगे रहे और कुछ उद्योग इस जीर्ण अवस्था में पहुंच गये कि उनकी प्रतिस्थापना की अत्यन्त महसूस होने लगी। अत्यधिक उत्पादन एवं पुराने टेकनीक की वजह से युद्ध के बाद औद्योगिक उत्पादन गिरने लगा। सरकार ने मुद्रा स्फीति को रोकने के प्रयत्न किये। युद्ध जनित परिस्थितियों के लाभों से विशेषत. चोर बाजारी के लाभों से उद्योगपतियों ने विदेशी कारखानों तथा संस्थानों को खरीदना शुरू किया। इसी समय देश का विभाजन हुआ और भारतवर्ष के उद्योगों पर गहरा आघात हुआ। जूट, सूती वस्त्र एवं उद्योग बुरी तरह से प्रभावित हुये। दिसम्बर १९४७ में सरकार ने एक त्रिदलीय सम्मेलन बुलाया जिसने औद्योगिक समस्याओं पर विचार ही नहीं किया, किन्तु सरकारी नीति के उद्देश्यों पर भी विचार

विमर्श किया। १६४६ से लगाकर १६५१ तक उद्योग एक ऐसी नीति द्वारा संचालित हुये, जो परिवर्तन चाहती थी। इस समय उद्योगों में २६० करोड़ रुपये की पूंजी लगी हुई थी और प्रायः नये उद्योगों में रसायनिक कारखानों, तथा इन्जिनियरिंग उद्योगों को प्रधानता दी जा रही थी। ओटोमोबाइल उद्योग ने इस अवधि में आशातीत उन्नति की तथा १० करोड़ रुपये का विनियोग कर डाला गया। सूती वस्त्र उद्योग को भी प्रोत्साहन दिया गया और उत्पादन एकाएक ऊंचा उठने लगा। रेडियो, वायरलेस बनाने के कारखाने खुल पड़े, जिन्होंने खूब लाभ कमाया। विद्युत सम्बन्धी वस्तुओं का उत्पादन इतना बढ़ा कि माल विदेशों को निर्यात किया जाने लगा। उपयोग माल में स्टेनलेस स्टील के बर्तन, चाकू, छुरी, स्टील फर्नीचर, रेजर, ब्लेड, घड़ियाँ, ड्रम, पीपे, बॉल बियरिंग, चद्दरें, टीन का उत्पादन बढ़ा। रसायनिक उद्योगों में सोडा एश, कॉस्टिक सोडा, क्लोरिन का उत्पादन किया गया और आज देश सोडियम सल्फेट, सिलिकेट, कैलशियम क्लोराइड, पोटासियम ब्रोमाइड, मैगनेशियम क्लोराइड के उत्पादन में आत्म निर्भर है। प्लास्टिक (Plastic) उद्योग से बिजली के सामान, रेडियो, बटन, टूथब्रश टॉयलेट इत्यादि का उत्पादन बढ़ा और कारखाने मजबूती से जमने लगे।

इस प्रकार भारतीय उद्योग पहली पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ होने के पूर्व अपना जीवन कुछ प्रारम्भ कर चुके थे। योजनाओं के समय तो इनको जीवन दान देकर खड़ा करना है तथा उन उद्योगों को पनपाना है जो अभी भविष्य के गर्भ में छिपे हुये हैं।

उद्योगों का पिछड़ापन एवं औद्योगिक समस्यायें
Industrial Backwardness and Industrial Problems)

औद्योगिक विकास से देश को अपरिमित लाभ पहुँचने की बड़ी भारी आशा है, क्योंकि अब हमारा देश कृषि-कर्म पर ही जीवित नहीं रह सकता है। दूसरे औद्योगिक विकास राष्ट्रीय आय (National Income) में वृद्धि करके जीवन स्तर को ऊंचा उठाने में समर्थ होगा। किन्तु दुर्भाग्य का विषय है कि देश में आज भी औद्योगिक विकास में रुकावट है, क्योंकि असंख्य समस्यायें ऐसी हैं जो हमें अपने पुराने ढांचे से ऊपर उठने ही नहीं देती हैं। उन समस्याओं में से कुछ समस्याओं का उल्लेख यहाँ किया जायेगा।

(१) भारतीयों का पुराना दृष्टिकोण एवं परिस्थितियाँ
(Old Outlook of Indians and their Conditions)

भारतवासी आदिकाल से ही वाणिज्यवादी अधिक रहे हैं। वे अब भी उस

जमाने में नये उद्योगों की अपेक्षा विनियोग के लिये वाणिज्य अधिक लाभकारी समझते हैं।

औद्योगिक समस्यायें एवं पिछड़ापन
१. भारतीयों का पुराना दृष्टिकोण एवं परिस्थितियाँ
२. आधारभूत धात्वीय एवं रासायनिक उद्योगों का अभाव
३. टेकनीकल प्रशिक्षण एवं कर्मचारियों का अभाव
४. शक्ति का अभाव
५. पूंजी का अभाव
६. प्राकृतिक साधनों का अल्प विदोहन एवं साधनों का तीव्र अभाव
७. विदेशी पूंजी की समस्या
८. औद्योगिक नीति की अनिश्चितता
९. करनीति एवं श्रमनीतिके दुष्परिणाम
१०. श्रमिकों की कार्यकुशलता में कमी
११. अभिनवीकरणके कार्योंकी धीमीगति
१२. प्रभिकर्त्ता प्रणाली में सुधार की आवश्यकता
१३. औद्योगिक शान्ति की स्थापना
१४. उपभोग एवं उत्पादक उद्योगों के विकासमें असंतुलन
१५. औद्योगिक विकास में असन्तुलन एवं विकेन्द्रीकरण

इसके अतिरिक्त कृषि प्रधानता, ग्रामीण क्षेत्र की भरमार, कच्चे माल का अभाव, और राष्ट्रीय आय की अल्पता जैसी परिस्थितियों ने कई समस्याओं को जन्म दिया, और देश के औद्योगीकरण में बाधा पहुँचाई। अर्थ-आयोग (Economic Commission) के मतानुसार देश की जन-संख्या, साधनों एवं विस्तार को देखते हुये उद्योग अविकसित हैं।

(२) आधारभूत धात्वीय एवं रासायनिक उद्योगों का अभाव

एक स्थायी एवं सुगठित औद्योगिक संगठन के लिये आधारभूत धात्वीय एवं रासायनिक उद्योगों की बड़ी आवश्यकता होती है। अभी भी देश में इस्पात एवं अभियांत्रिकी (Engineering) कारखाने कुछ ही हैं जिन्हें अगुलियों पर गिना जा सकता है। औद्योगिक महत्व के तेजाब और क्षार उत्पन्न करने के कारखाने, जो आधारभूत कारखानों की गिनती में आते हैं, अभी नगण्य ही हैं।

(३) टेकनीकल प्रशिक्षण एवं कर्मचारियों का अभाव (Technical Training and Deficiency of Workers):—

देश में औद्योगिक विकास की चर्चा करने के पहले ही यह आवश्यक था कि टेकनीकल शिक्षा (Technical Education) का प्रबन्ध करके उद्योग चलाये जाते। आज भी देश के कुशल एवं प्रशिक्षित कारीगरों, इन्जिनियरों, प्राविधिक एवं रासायनिक विशेषज्ञों (Specialists) का अभाव है। यह संख्या इतनी कम है कि मांग और पूर्ति की वक्र रेखा एक दूसरे से बहुत नीची रहती है। फलस्वरूप देश को विदेशों पर निर्भर रहना पड़ता है। इसके अतिरिक्त प्रबन्ध-कला का प्रशिक्षण भी आवश्यक है।

(४) शक्ति का अभाव (Lack of Power)

विश्व में आज चारों ओर प्रतिस्पर्धा है, अतः उत्पादन व्यय को कम करके कीमतों को नीचे लाने के प्रयत्न किये जा रहे हैं, किन्तु यह तभी हो सकता है जबकि

देश में शक्ति के साधनों का सन्तुलित विकास हो एवं शक्ति सस्ते मूल्यों, एवं एक से तारतम्य में प्राप्त होती रहे।

(५) पूंजी का अभाव (स्वदेशी) (Lack of Capital)

भारतीय पूंजी सदैव से लज्जाशील रही है। एक तो व्यक्ति अपनी पूंजी उद्योगों में लगाने में हिचकिचाते हैं, दूसरे पूंजी अब इतने बड़े पैमाने पर प्राप्त भी नहीं है कि यह बड़े विशाल पैमाने पर चलने वाले कारखानों को भली प्रकार चला सके। देश में अब भी सुगठित बैंकिंग संगठन का अभाव है। यहां की अधिकांश पूंजी सट्टेबाजी में लगी रहती है, अतः उद्योगों में पूंजी का अभाव सदैव बना रहता है।

(६) प्राकृतिक साधनों का अल्प विदोहन एवं साधनों का तीव्र अभाव

देश का औद्योगिक विकास अधिकांश मात्रा में देश के प्राकृतिक साधनों पर निर्भर रहता है। दुःख है कि देश के प्राकृतिक साधनों की न तो जांच ही हो पाती है, और न उनका सामान्यतया सर्वेक्षण ही हो पाया है। उपयुक्त सर्वेक्षण एवं विदोहन दोनों ही विकास में रुकावट डालते हैं।

(७) विदेशी पूंजी की समस्या (Problem of Foreign Capital)

ब्रिटिश काल में विदेशी पूंजी का प्रमुख उद्देश्य भारत का आर्थिक शोषण ही करती थी, एवं ऐसे उद्योगों में लगाई जाती थी जहां लाभ अधिक एवं जल्दी मिले। रेलें व बागान ऐसे ही उद्योग थे। उस समय बड़े बड़े देश एक निश्चित औद्योगिक नीति की अनुपस्थिति में अपनी पूंजी बाहर देशों को भेजने में संकोच करते थे।

(८) औद्योगिक नीति की अनिश्चितता (Uncertainty of Industrial Policy)

ब्रिटिश काल में औद्योगिक नीति का उद्देश्य भारत का शोषण करना, एवं औद्योगिक क्षेत्र में उसे जहाँ का वहीं पड़े रखना था। इस सरकारी नीति का परिणाम यह हुआ कि स्वतन्त्रता प्राप्ति तक भारतीय उद्योगों ने कोई निश्चित प्रगति नहीं कर पायी। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् १९४८, एवं १९५६ में दो बार सरकार ने अपनी नीति की घोषणा की, जिससे औद्योगिक विकास में चली आ रही अनिश्चितता का अन्त अवश्य हुआ है।

(९) कर नीति एवं श्रम नीति के दुष्परिणाम
(Bad Effects of Tax and Labour Policy)

स्वतन्त्रता पूर्व की कर नीति का उद्देश्य विचित्र तरीके पर भारत का शोषण करने का था, किन्तु उसके पश्चात् राष्ट्र को गतिशीलता प्रदान करने के लिये धन की आवश्यकता थी, जिसे धन-कर (Wealth-tax), व्यय कर (Expenditure tax), भेंट कर, (Gift tax) मृत्यु-कर, (Death tax) इत्यादि लगाकर पूरा किया गया।

इस नीति का फल यह हुआ कि बचत में कमी हुई एवं औद्योगिक विकास में बाधा पहुँची।

श्रम नीति (Labour Policy) का भी प्रभाव किसी अंश तक अच्छा नहीं पड़ा। समाजवादी (Socialist) ढंग की अर्थ-व्यवस्था रूस में मजदूरों के राज्य, एवं अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संगठन (International Labour Organisation) ने मजदूरों को रुक कर सोचने का मौका दिया। फलस्वरूप मजदूरों की दशा सुधारने, महगाई भत्ता, बोनस, एवं अन्य सुविधायें प्रदान करनी पड़ी, जिनसे लागत व्यय बढा, और उद्योगपतियों को अपने लाभ में कटौती करनी पड़ी। इस प्रकार विकास में रुकावट पहुँची।

(१०) श्रमिकों की कार्य कुशलता में कमी (Lack of efficiency in Labour)

अब तक का इतिहास साक्षी देता है कि उद्योगपतियों ने अपनी लाभ कमाने की प्रवृत्ति के कारण मजदूरों का शोषण किया। वेतन, हवाहीन, एवं जीर्ण आवास व्यवस्था, अशिक्षा, तथा निम्न जीवन स्तर ने मजदूरों की कार्य क्षमता में गिरावट ही पैदा की है। अब उनकी कार्य क्षमता बढ़ाने के लिये प्रयत्न किये जा रहे हैं। विभिन्न प्रकार के 'श्रम अधिनियम' बनाये जा रहे हैं, ताकि विकास में सहयोग एवं समायोजन ठीक हो।

(११) अभिनवीकरण के कार्यों की धीमी प्रगति

द्वितीय महायुद्ध काल में मशीनों का इतनी बुरी तरह प्रयोग किया गया कि वे जीर्ण अवस्था में पहुँच गईं। आज उनके प्रतिस्थापना की आवश्यकता है। पुरानी मशीनों को हटा कर नई प्रकार की मशीनों को लगाना है, एवं नये टेकनीक का प्रयोग करके उत्पादन को बढाना एवं उत्पादन व्यय को नीचा करना है। इसके लिये पर्याप्त मात्रा में पूंजी नहीं मिल पा रही है। अतः उद्योगों का विकास पीछे रुका हुआ है।

(१२) अभिकर्त्ता प्रणाली में सुधार की आवश्यकता

अभिकर्त्ता प्रणाली का विकास और उदय भारतीय औद्योगिक प्रणाली के साथ बँधा है। इस पद्धति में संचालकीय नियन्त्रण की शिथिलता, आर्थिक प्रभुत्व, अंशों की अधिक परिकल्पना जैसे दोष होते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि अभिकर्त्ताओं के अधिकार कम किये जायें। इस दिशा की ओर जो प्रयत्न हुये हैं, वे कम एवं धीमे हैं।

(१३) औद्योगिक शान्ति की स्थापना (Establishment of Industrial Peace)

औद्योगिक शान्ति की स्थापना पर बल दिया जाये ताकि श्रम सम्बन्ध सुधरें और उनमें समुचित समायोजन किया जा सके। फैक्टरी नियमों का पालन किया जाये और शोषण की समाप्ति की जाये।

(१४) उपभोग्य एवं उत्पादक उद्योगों के विकास में असंतुलन
(Imbalance in Development of Consumption and Production Industries)—

द्वितीय महायुद्ध के बाद उपभोग्य वस्तुओं का निर्माण किया गया और उत्पादक उद्योग पंचवर्षीय योजनाओं तक स्थगित से बने रहे। अतः अब एक बार फिर से इनका सर्वेक्षण हो और दोनों के बीच में संतुलन स्थापित किया जाये।

(१५) औद्योगिक विकास में असंतुलन एवं विकेन्द्रीकरण
(Inbalance in Industrial Development and Decentralisation)

भारतवर्ष में बड़े उद्योग प्रायः कुछ स्थानों पर ही केन्द्रित हो गये हैं, फलस्वरूप देश के बहुत बड़े भाग अविकसित एवं पिछड़े पड़े हुये हैं। साथ ही साथ निजी एवं सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों में संतुलन एवं समायोजन स्थापित किया जाये। इस संक्रान्ति काल में युक्तिकरण का भी ध्यान रखना आवश्यक है।

इन समस्याओं के होते हुये देश के औद्योगिक विकास की गति धीमी ही रहेगी। अतः इन समस्याओं का निराकरण करके भारत में औद्योगिक संक्रान्ति के चक्र को गति प्रदान की जाये।

सारांश (Summary)

भूमिका—'भारत एक अत्यन्त सुसभ्य एवं प्राचीन देश है, जिसके प्राकृतिक साधन अतुल एवं विशाल हैं, और भौतिक दृष्टिकोण से पूर्व पश्चिम के कई देशों से भी इसका सम्बन्ध आज का नहीं, युगों पुराना है, किन्तु दुर्भाग्यवश वह अब भी अपने मध्ययुगीन जैसे जीवन से सन्तुष्ट है।' इस वाक्य में सत्य का अंश अवश्य है किन्तु जब ब्रिटेन एवं पश्चिम के व्यक्ति अत्यन्त प्रारम्भिक अवस्था में जीवनयापन करते थे, तब इस देश ने विलासिता की वस्तुओं से विदेशी बाजारों को भर रखा था।

हमारे प्राचीन उद्योग (Our Ancient Industries)

प्राचीन काल में धर्म ग्रन्थों एवं यात्रियों के वृतान्त से पता चलता है कि भारतीय संस्कृति अपनी चरम सीमा पर थी, और लोग विभिन्न प्रकार के उद्योगों में कुशलता प्राप्त कर चुके थे। भारत उस समय रेशमी वस्त्र, मलमल, बर्तन, कम्बल, गलीचे, इत्र, हाथी दांत, युद्ध सामग्री का निर्यात करता था। कुटीर व्यवसाय उस समय अपनी चरम सीमा पर थे।

भारतीय उद्योगों की अवनति एवं ब्रिटिश नीति
(Decline of Indian Industries and British Policy)

(१) औद्योगिक क्रान्ति का जन्म और कुटीर उद्योगों का विनाश (२) ब्रिटिश सरकार की स्थापना और उसकी मनमानी आर्थिक नीति (३) भारतीयों द्वारा अंग्रेजी

रहन सहन, आचार, वेश भूषा का अन्धानुकरण (४) पूंजी वर्ग का उदय (५) मिलों द्वारा प्रतिस्पर्धा (६) यातायात के साधनो से कृषक व्यवसाय को धक्का। (७) ब्रिटिश सरकार द्वारा बाजारो की खोज और आर्थिक शोषण (८) सरकार की भेद भरी आयात नीति।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त का भारत
(India at the end of the 19th Century)

औद्योगिक विकास का श्रीगणेश १८८५ से प्रारम्भ होता है। सूती वस्त्र उद्योग का जन्म हुआ एवं औद्योगिक विकास के लिये जागृति दिखलाई पड़ी। जूट, खनिज, पैट्रोल, तेल, कोयले उद्योग का विकास प्रारम्भ हुआ और बागान (चाय एवं नील) उद्योगो का भी प्रारम्भ दृष्टिगोचर हुआ। १८९२ में एक फैक्टरी एक्ट पास हुआ।

प्रथम महायुद्ध एवं अवसाद काल

इस अवधि में भारतीय उद्योगों को थोड़ा खड़े होने का मौका मिला। १९१६ मे इण्डस्ट्रियल कमीशन की स्थापना की गई जिसने भारतीय पूंजी के विनियोग पर विचार किया। १९१७ मे इण्डियन म्यूनीशन्स बोर्ड की नियुक्ति की गई, जिसने युद्ध की आवश्यकताओ को ध्यान मे रखते हुए औद्योगिक विकास की बात की। कपड़ा, जूट, चमड़ा, लोहे, तेल, सीमेन्ट, रंग एवं वार्निस के कारखाने चल निकले। १९२० में रुपये का अवमूल्य (Devaluation) किया गया। विश्व व्यापी मंदीवाड़े के समय उद्योगो को गहरा धक्का लगा। वस्त्र उद्योग मे जापान भारतीय बाजार मे कूद पड़ा। फलस्वरूप इस उद्योग को १९३० मे संरक्षण प्रदान किया गया। १९२८ मे जूट उद्योग ने काम के घण्टे ६० प्रति सप्ताह कर दिये। खनिज उद्योग, लोहा इस्पात उद्योग चल निकले, और लोहा उद्योग को संरक्षण (Protection) प्रदान किया गया।

उद्योगों में नवीन जीवन

विश्व व्यापी मन्दी वाड़े (Economic Depression) के बाद उद्योगों का उत्पादन बढ़ा। कपड़ा, सीमेन्ट, जूट, लोहा व इस्पात के कारखानो उत्पादन में वृद्धि हुई। १९३७ में कृषि अवस्था में सुधार हुये। १९३८ में लाभ हुये और प्रतिभूतियों के मूल्यो में वृद्धि हुई।

द्वितीय महायुद्ध (Second World War)

१९३९ मे कांग्रेस मन्त्रिमण्डल ने पद त्याग किया और युद्ध काल में भारतीय उद्योगों को पैर फैलाने का मौका मिला। मित्रराष्ट्रों द्वारा युद्ध सामग्री की मांग आयातों की समाप्ति, जापान का स्वयं युद्ध में कूद पड़ना कुछ ऐसे कारण थे, जिन्होंने

उस समय देश के औद्योगिक विकास में जान डाल दी। इसी समय अनुसंधान बोर्ड की स्थापना हुई और सार्जेंट कमेटी की सिफारिश पर प्राविधिक प्रशिक्षण का थोड़ा बहुत प्रबन्ध हुआ। इस अवधि में वस्त्र, लोह व इस्पात, अलमूनियम, युद्ध सामग्री के कारखानों ने लाभ ही लाभ कमाया। १९४१ में बँगलोर में हिन्दुस्तान एयरक्राफ्ट फैक्टरी की स्थापना की गई। १९४२ में ग्रेडी कमीशन की नियुक्ति की गई। रेलवे इंजिन, रेलवे स्लीपर्स, और लारियों के निर्माण आदि में गतिशीलता आई। सन् १९४३ में नये उद्योगों को खोलने के प्रयत्न किये। मिश्रित पूंजी की कम्पनियों की संख्या एवं अधिकृत पूंजी में आशातीत वृद्धि हुई। फैरो अलॉय, घड़ी, बिजली के सामान, साइकिल, पम्प, सिलाई की मशीन, मशीन के पुर्जे बनाने के कारखाने चमक उठे। इंजिनियरिंग उद्योग में पर्याप्त विकास किया गया। १९४० में बोर्ड ऑफ साइंटिफिक एण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च की स्थापना की गई और खनिज, एवं कार्मिक धातुओं पर अनुसंधान शुरु हुये।

युद्धोत्तर काल में (Post war Period)

उद्योग का असंतुलित विकास हुआ। युद्ध जनित परिस्थितियों एवं चोर बाजारी के कारण लाभ चरम सीमा पर पहुँचे और इन लाभों को फिर से लगाकर नये उद्योग पनपाये गये। देश विभाजन के फलस्वरूप जूट, एवं सूती वस्त्र उद्योगों पर बड़ा आघात पहुँचा। सन् १९४७ में एक दलीय सम्मेलन की योजना हुई, और औद्योगिक समस्याओं पर विचार किया गया। १९४८ में सरकारी नीति की घोषणा की गई, जिससे उद्योगों को थोड़ी राहत मिली। रेडियो, वायरलेस, ग्रामोफोन रिकॉर्ड, सिलाई की मशीन, साइकिल बनाने के कारखानों ने खूब लाभ कमाया। उपभोग्य वस्तुयें स्टेनलेस स्टील का सामान, कटलरी टीन तथा तांबे की चद्दरों का निर्माण किया गया और रसायनिक उद्योग पनपाये गये। पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत औद्योगिक संक्रान्ति की नींव पड़ी।

उद्योगों का पिछड़ापन एवं औद्योगिक समस्यायें (Industrial Backwardness and (Industrial Problems)

आज देश के सम्मुख निम्नलिखित समस्यायें हैं, जो उद्योगों को पिछड़ेपन के लिये उत्तरदायी हैं।

(१) भारतीयों का पुराना रुढिवादी दृष्टिकोण (२) आधारभूत एवं रसायनिक उद्योगों का अभाव (३) टेक्निकल प्रशिक्षण एवं कर्मचारियों का अभाव (४) शक्ति के अभाव (५) पूंजी का शर्मीलापन (६) प्राकृतिक साधनों का अल्प विदोहन (७) विदेशी पूंजी की समस्या (८) औद्योगिक नीति की अनिश्चितता (९) कर एवं धमनीति के दुष्परिणाम (१०) मजदूरान श्रम (११) अभिनवीकरण की प्रगति में बेहद ढीलापन (१२) दोषपूर्ण

अभिकर्त्ता प्रणाली में सुधार की आवश्यकता (१३) औद्योगिक शान्ति की स्थापना (१४) उपयोग्य एवं उत्पादन उद्योगों में संतुलन (१५) औद्योगिक विकास में असंतुलन एवं विकेन्द्रीकरण की समस्या।

प्रश्न

१. भारतीय उद्योगों के क्रमिक विकास पर अपने विचार प्रकट कीजिये।
(आगरा वि० वि० १९५७)

२. भारतीय औद्योगिक-पिछड़ेपन के कारणों का उल्लेख कीजिये।
(राज० वि० वि० १९६० सप्ली० परीक्षा)

३. भारतीय उद्योगों की विभिन्न समस्याओं पर अपने विचार प्रकट कीजिये।
(१९५६)
